न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

निर्देशक :
पं० श्री राज कुमार शुक्ल
अवकाश प्राप्त रीडर
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्ता :
रमेश चन्द्र

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
1993

आत्म-निवेदन

जैसा कि परास्नातक परीक्षा उत्तीर्णोपरान्त समस्त छात्रों में शोधविषयिणी इच्छा का जागृत होना स्वाभाविक है, अतएव मैं भी इसका अपवाद न रहा । तत्कालीन विभागीय प्रवाचक पूज्यपाद पं० श्री राजकुमार शुक्ल जी ने कृपाकूपविदत्वेन अपने निर्देशन में शोधार्थ अनुमति देकर मुझे अनुगृहीत किया । उन्होंने गुरु के दायित्व का सर्वथा भलीभांति से निर्वाह करते हुए मुझे ईश्वर जैसी अचिन्त्य सत्ता पर शोध करने की सत्प्रेरणा प्रदान की, जो कि मेरे आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल भी थी । अतः उनका ऐसा सत्प्रयास मेरे प्रति उनकी कृपालुता का द्योतक है । फलतः मैंने उनके पदतल की सघन छाया में बैठकर "न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की अवधारणा" विषय पर शोध-कार्य करना प्रारम्भ किया । अतः उनके प्रति मैं इतना ही कह सकता हूँ कि "चक्षुरुन्मीलितं येन" अर्थात् ईश्वर के विषय मे मैं जो कुछ जान सका हूँ, वह सब उनकी अपार कृपा एवं स्नेह का ही फल है ।

तत्पश्चात् मैं अपने न केवल इस शोधकार्य की सम्पन्नता के लिए अपितु अपने वास्तविक स्वरूप से भिज्ञ हो पाने के लिए भी उन ऋषियों एवं ऋषिकल्प आचार्यों का ऋणी होना सहर्ष स्वीकार करता हूँ जिन्होंने करुणावशात् लोकोपकारार्थ निःस्वार्थ भाव से श्रुतियों एवं शास्त्रों के माध्यम से सर्वथा भौतिक उपादानों से दुर्ज्ञेय ईश्वर तत्त्व का रहस्योद्घाटन करते हुए मुझे अपनी आँखों को उन्मीलित करने के लिए प्रेरित किया ।

जैसा कि शुभ कार्यों के आरम्भ होने पर हमेशा से भौतिक आपदाओं का आना स्वाभाविक सा रहा है, अतएव मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ । कार्यारम्भकाल में ही मुझे अपने पिता जी के उपचारार्थ लगभग दो मास तक भगवान् चन्द्रमौलि की नगरी काशी में व्यतीत करना पड़ा । इस विषय में पूज्यपाद गुरुवर्य प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय (अध्यक्ष संस्कृत विभाग इला० वि० वि०), गुरुवर्य प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी (संस्कृत विभागाध्यक्ष सागर वि० वि०) एवं गुरुवर्य डॉ० हरिदत्त शर्मा (रीडर, संस्कृत विभाग इला० वि० वि०) तथा संस्कृत विभाग के समस्त गुरुजनों के द्वारा किये गये उपकार को विस्मृत न करते हुए उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता को ज्ञापित करता हूँ, जिनके शुभाशीर्वाद एवं सत्प्रेरणाएँ मेरे दुःखी एवं हतोत्साहित क्षणों में भी मुझे शोध-कार्य से विचलित होने से बचाती रहीं ।

मैं अपने पूज्यपाद पिता श्री चन्द्रनारायण पाण्डेय एवं ममतामयी माँ श्रीमती कलावती देवी जी से भी जीवनपर्यन्त उऋण नहीं हो सकता, जिनका प्रतिक्षण मेरे शुभचिन्तन में ही व्यतीत होता है- जिसके परिणामस्वरूप मैं इस पुनीत कार्य को सम्पन्न कर सका ।

इस शोध-प्रबन्ध की सर्जना के प्रति पूज्य मातुल डॉ० श्रीमच्छङ्कर दयाल द्विवेदी (प्रवक्ता संस्कृत विभाग इला० वि० वि०) एवं माननीया मातुली श्रीमती पुष्पा देवी की त्यागशीलता, वात्सल्य, उनकी अहैतुकी कृपापूर्ण हितैषिता एवं सत्प्रेरणाओं तथा उपकारों की उपादेयता को वाचिक रूप से व्याख्यान करने में मेरी वाणी भी विराम ले लेती है- केवल अनुभव ही किया जा सकता है -

जिनकी अनुकम्पा से मुझे पूर्णलौकिकयुक्त लाक्षागृहीय प्रयागवास का अलभ्य लाभ मिला है। अतः उनकी कृपा के प्रतिदान में अकुतज्ञ मैं किस बल पर उनके स्नेह की चर्चा करूँ ?

मैं अपने अग्रज पूज्य श्री अशोक कुमार पाण्डेय एवं उनकी भार्या एवं अपनी मातृतुल्या भाभी श्रीमती उर्मिला देवी के द्वारा किये गये त्यागपूर्वक एवं निःस्वार्थ उपकार को जीवन-पर्यन्त विस्मृत नहीं कर सकता जिन्होंने अपनी एवं अपने बच्चों के भी भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति उदासीन होकर न केवल अपने पारिश्रमिक का अधिकांश मुझे "जूनियर रिसर्च फेलोशिप" न मिलने तक देते रहे अपितु मुझे समस्त गार्हस्थ चिन्ताओं से भी दूर रखने का प्रयास करते रहे।

इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में जिन महानुभावों का बहुविध सराहनीय साहाय्य प्राप्त हुआ उनमें डॉ० दिनेश चन्द्र मिश्र, अभिन्न हृदय डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय, श्री सतीश चन्द्र सिंह, श्री राम बहादुर शुक्ल एवं रमेश मिश्र आदि अग्रगण्य हैं। अतः मैं उनके प्रति असीम आभार प्रकट करता हूँ।

चिरञ्जीव अनुज राजेश कुमार द्विवेदी एवं अनुपम द्विवेदी ने शोध-प्रबन्ध के लेखन संशोधन आदि में जो सहायता प्रदान की है उसके लिए वे आशीर्वाद के पात्र हैं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय एवं स्थानीय गंगानाथ झा केन्द्रीय शोध संस्थान के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापन मेरा नैतिक कर्तव्य है, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकीय सहायता उपलब्ध कराकर मेरे इस दुरूह कार्य को सुकर बनाया।

शोधकाल में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मुझे जूनियर रिसर्च फेलोशिप एवं तत्पश्चात् सीनियर रिसर्च फेलोशिप सुचारु रूप से प्रदान कर आर्थिक विसंगतियों से दूर रखा, उसके लिए मैं आयोग के अधिकारियों को भी धन्यवाद देता हूँ ।

टंकण कार्य की स्पष्टता एवं शुद्धता के लिए मैं श्री जय सिंह जी को धन्यवाद का पात्र समझता हूँ, जिनके अथक प्रयास से मेरा लेखन-कार्य शीघ्र ही शोध-प्रबन्ध के रूप में परिणत हो सका ।

अन्ततः मैं उन गुणदोष विवेचक बुधाग्रगण्य सुधीजनों के समक्ष इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए शोध विषयक त्रुटियों एवं उसकी अपरिपक्वता तथा टंकण की अशुद्धियों के प्रति अपना पूर्ण उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए उनसे यह अपेक्षा करता हूँ कि वे इसे बालप्रयास समझकर शोधविषयक विसंगतियों पर ध्यान न देते हुए मुझे अनुगृहीत करेंगे ।

धन्यवाद ।

विनीत

रमेश चन्द्र

(रमेश चन्द्र)

शोधच्छात्र

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

नागपञ्चमी सं० 2050

दिनाङ्क 23/7/93

स्थान – प्रयाग

आलोच्य-विषय सूची

(घ) न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वरवाद, ईश्वरचिन्तन का क्रमिक विकास, ईश्वरवाद की आवश्यकता एवं उसका औचित्य ।

3- द्वितीय अध्याय- 134-195

(क) पूर्वपक्षियों को अभिमत अनुपलब्धि प्रमाण की सिद्धि ।

- अनुपलब्धि प्रमाण से पूर्वपक्षियों द्वारा ईश्वरासिद्धि का पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तियों द्वारा उसका खण्डन
- चार्वाकों के मत से अनुपलब्धि ही अभावसाधिका है योग्यानुपलब्धि नहीं ।
- चार्वाक मत पर आक्षेप
- अनुपलब्धि के प्रमाणत्व का खण्डन
- ईश्वर की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि भी संभव है ।

(ख) अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वराभावसाधक पूर्वपक्ष एवं उसका खण्डन

- असत्ख्याति से सिद्ध ईश्वर में असर्वज्ञत्वादि अनुपपन्न हैं-सिद्धान्त पक्ष
- पूर्वपक्षी आत्मा को पक्ष बनाकर भी स्वाभिमत साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते - सिद्धान्त पक्ष
- आत्मा एवं परमात्मा से भिन्न किसी भी आत्मा की सत्ता असिद्ध है - सि०प०
- आगमसिद्ध ईश्वर में भी असर्वज्ञत्वादि धर्म असंभव है -सि०प०
- ईश्वरासिद्धिविषयक पुनः पूर्वपक्ष एवं उसका खण्डन ।

प्रथम अध्याय

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का उद्भव, विकास एवं इनमें ईश्वरवाद

॥ प्रथम अध्याय ॥

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का उद्भव, विकास एवं इनमें ईश्वरवाद

भारत की भूमि दार्शनिक चिन्तन की जन्मस्थली है । भारतीय तत्त्वदर्शी मनीषी एतद्विषयक विचार में सर्वथा एकमत हैं कि दर्शन समस्त जागतिक मनस्तापों की एक अचूक औषधि है । यह दर्शन पावन एवं देदीप्यमान ऐसा प्रकाशपुञ्ज है, जो कि मनुष्यों के गहन आन्तर-तमस् का हरण करके उनके वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है एवं उनको अनादि-काल से प्रवहमान सञ्चित सङ्कीर्णताओं से मुक्ति दिलाता है । यह वह अद्भुत अञ्जन है जो मनुष्य की दृष्टि को निर्मल बनाकर जगत् के गूढ़तम रहस्यों को देखने की क्षमता प्रदान करता है । यह वह शीतल अनुलेप है जो मनुष्य के बाह्य और अन्तस्तापों को काटकर उसे शान्त और सुखी बनाता है । यह वह मधुर आहार है जो मनुष्य को सब प्रकार की तुष्टि और पुष्टि प्रदान करता है तथा सतत् सेवन करने पर भी कभी अरुचिकर नहीं होता । इसने संसार में अहर्निश पनपने वाले राग, द्वेष, ईर्ष्या, अहङ्कार आदि के वृक्षों की जड़ का पता लगाया है, विश्व के विभिन्न अञ्चलों में धधकते हुए दावानल के ईंधन को पहचाना है, मानवजाति की मानस दुर्बलता और दुःख-दायिनी जीवन समस्याओं के मूल कारणों को परखा है । इसने जगत् की समस्त अप्रियताओं और आपदाओं के प्रतीकार के ऐसे साधन ढूंढ निकाले हैं जिनका प्रयोग कभी विफल नहीं हो सकता । इसी लिए भारतीय दर्शन का परिवार बड़ा

विशाल है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन इस परिवार के विशिष्ट सदस्य हैं, जिन्हें विद्वानों ने चिन्तन-मनन, आलोचन-प्रत्यालोचन आदि अनुशीलन के विविध प्रकारों का आहार देकर ऐसा परिपुष्ट और बलवान समृद्ध और सम्पन्न बनाया है जिससे वह चिर काल तक जिज्ञासुजनों का मनस्तोष करते रहेंगे।

न्याय-दर्शन का उद्‌भव एवं विकास

न्याय-शास्त्र का आरम्भ कब, कैसे और कहाँ हुआ इसका कोई निश्चित विवरण संस्कृत-साहित्य में न प्राप्त होने के कारण उसके विषय में कुछ भी ठीक-ठीक कह सकना बड़ा मुश्किल काम है। फिर भी उसके प्रतिपाद्य विषय का मनन करके उसके आविष्कार के विषय में कुछ न कुछ अटकलें अवश्य लगाई जा सकती हैं।

न्याय-शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में ऐसा लगता है कि जब विद्वान् पुरुषों में किसी एक विषय को लेकर जय और पराजय के उद्देश्य से अथवा जिज्ञासु-भाव से प्राचीनकाल में विस्तृत चर्चा होती रही होगी अथवा वाद-विवाद होता रहा होगा, और दोनों पक्षों की ओर से स्वमत स्थापन हेतु अनेकानेक तर्कों का सम्बल लिया जाता रहा होगा, उसी का परिमार्जित, परिष्कृत और नियमित हुआ स्वरूप ही न्यायशास्त्र के रूप में विकसित हुआ होगा। आगे चलकर न्यायशास्त्र यह शिक्षा देने लगा होगा कि वादी और प्रतिवादी को स्वमत प्रतिपादन हेतु कैसी शैली अपनाना चाहिए एवं अपने दिये हुए तर्कों में कौन सी ऐसी त्रुटियाँ हैं जो उनके पक्ष को कमजोर बना सकती हैं,

एवं प्रतिपक्षी को कैसे अवसर पर निगृहीत कर लेना चाहिए ? वाद-विवाद सम्बन्धी इन्हीं समस्त दाँव-पेचों का बृहद् विवरण वर्तमान समय में भी न्यायशास्त्र के बहुत बड़े भाग में मिलता है । इस जय-पराजय हेतु प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क-वितर्कों के विकासक्रम की परम्परा में आगे चलकर न्यायशास्त्र ने देह और आत्मा विषयक चिन्तन को भी अपने क्षेत्रान्तर्गत सम्मिलित कर लिया होगा । आज भी यह दो और केवल यही दो न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं ।

मनुष्य न्याय-शास्त्र की सहायता की अपेक्षा के बिना आज न अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को परिष्कृत तथा सुस्थिर कर सकता है और न तो प्रतिपक्षी के द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्तों की चोट से अपने सिद्धान्त की रक्षा ही कर सकता है । अतएव अपने सिद्धान्तों के परिष्कार, रक्षा और प्रचारकार्य में मनुष्य का सबसे बड़ा सहायक न्यायशास्त्र ही है । अतएव विभिन्न विरोधी सिद्धान्तों के समर्थन एवं संरक्षण का भार न्यायशास्त्र पर ही आता है, और न्यायशास्त्र उन सभी विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए आवश्यक उपकरणस्वरूप सामान्य विचार-भूमि को प्रस्तुत करता है, जिससे विभिन्न वैचारिक सिद्धान्ती स्वसिद्धान्त की पुष्टि हेतु आवश्यक तर्क उसी प्रकार जुटाकर लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं, जिस प्रकार कि अनेक तत्त्वों से युक्त पृथिवी से नीम, नीबू, अङ्गूर, आम, केला, और कटहल इत्यादि वृक्ष अलग-अलग तत्त्वों को खींचकर उसके सेवन करने वाले उपभोक्ताओं के समक्ष उस तत्त्व को प्रकट कर देते हैं । जैसे कि "आत्मा है" की पुष्टि भी न्यायशास्त्र अपने सामान्य विचार-क्षेत्र से ही करता है और "आत्मा नहीं है"

इसकी पुष्टि का उत्तरदायित्व भी न्यायशास्त्र पर ही आता है और उसकी पुष्टि भी वह उसी विचार क्षेत्र से करता है । हम उसे भले ही "बौद्ध न्याय" "जैन-न्याय" आदि कहकर अलग करने का प्रयास करें, पर है तो वह न्यायशास्त्र ही

इस प्रकार हमारे विचारों में अनेकता होने के कारण एक ही न्यायशास्त्र नव्यन्याय, बौद्ध-न्याय, जैनन्याय, पौरस्त्यन्याय, पाश्चात्यन्याय, मीमांसान्याय आदि के विविध स्वरूपों में हमारे सामने आता है । न्यायभाष्यकार वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"[1] में न्याय का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, वह भी इसी बात का पोषक है कि न्याय शास्त्र मनुष्य के विचारों का संरक्षक और परिपोषक है ।

इस प्रकार के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि "न्याय" शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है । परन्तु वर्तमान समय में "न्यायविद्या" के अर्थ में जो "न्याय" शब्द प्रयुक्त हो रहा है, उस न्यायशास्त्र की उत्पत्ति कालान्तर में हुई होगी, यद्यपि पाणिनि के अष्टाध्यायी में एक अवसर पर एक सूत्र के द्वारा "न्याय" शब्द का निपातन किया गया है[2], परन्तु उस पर विचार करने पर भी यह नहीं स्पष्ट हो पा रहा है कि वहाँ पर उस "न्याय" शब्द से किसकी संज्ञा को प्रदर्शित किया गया है । परन्तु स्थानान्तर में भी पाणिनि के द्वारा "अभ्रेष" अर्थ में "नि" पूर्वक इण् धातु से न्याय शब्द की निष्पत्ति की गई है ।[3] काशिका के

1- न्यायभाष्य 1/1/1

2- अध्यायन्यायोद्याव0-----।

3- परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः ।

अनुसार "अभ्रेष" शब्द का अर्थ "पदार्थों का अतिक्रमण न करने" के अर्थ में होने से[1] उस "न्याय" शब्द का अर्थ "औचित्य" होता है । सम्भवतः कालान्तर में इसी अर्थ में विकास को प्राप्त न्याय-शब्द, न्याय-विद्या या न्यायदर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और आज तक यही परम्परा अविच्छिन्न रूप से बनी हुई है ।

यद्यपि आपस्तम्ब सूत्र ।1/8/13 में भी "न्याय" शब्द आया हुआ है, परन्तु बुहलर के अनुसार उस न्याय शब्द का प्रयोग पूर्व मीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[2] ऐसा सम्भव भी है, क्योंकि पश्चादवर्ती काल में भी पूर्वमीमांसा के अनेक ग्रन्थों का नाम न्याय शब्द से विशिष्ट न्याय-कणिका, न्यायरत्नमाला, न्याय-माला-विस्तर, मीमांसा-न्यायप्रकाश इत्यादि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है ।

परन्तु उसके विपरीत वृत्तिकार विश्वनाथ जी का मन्तव्य है कि न्याय-विद्या के अर्थ में भी "न्याय" शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से किया जाता था ।[3] इनका कथन भी न्यायोचित जान पड़ता है क्यों कि न्याय-दर्शन का मूलस्तम्भ महर्षि गौतम द्वारा प्रणीत "न्यायसूत्र" ग्रन्थ का नाम भी इसी बात को द्योतित करता है कि न्याय-सूत्र के प्रणेता के समय तक "न्याय" शब्द का प्रयोग न्यायविद्या के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था । परन्तु न्याय-शब्द का पारिभाषिक

1- पदार्थानामनपचारो पथ । प्राप्तकणमभ्रेषः । काशिका 3/3/37

2- डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री-भारतीय दर्शन पृ० ।।

3- न्या० वृ० 1/1/1

अर्थ भाष्यकार वात्स्यायन ने ही अपने न्यायभाष्य में स्पष्ट किया है[1]। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि न्याय-विद्या विशेषरूप से अनुमान का विवेचन करती है ।[2] परन्तु अन्य स्थल पर वात्स्यायन ने प्रतिज्ञादि पञ्चावयवों को परम न्याय बतलाया है ।[3] इस प्रकार उक्त मन्तव्यों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "न्याय" शब्द का प्रयोग प्राचीन-काल से ही अनुमान तथा न्याय-विद्या या तर्कशास्त्र आदि के लिए किया जाता रहा है । फिर भी "न्याय" शब्द का प्रयोग अपने सामान्य अर्थ में तथा मीमांसा के लिए भी प्रचलित रहा है ।

वात्स्यायन के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह भी विदित होता है कि "आन्वीक्षिकी" शब्द का प्रयोग भी न्याय-विद्या के अर्थ में किया जाता था । अतएव वहाँ पर इस आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग दर्शन के पर्याय के रूप में किया गया है । मनुस्मृति में भी आत्मविद्या के अर्थ में आन्वीक्षिकी शब्द का

1- प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

न्या०भा० 1/1/1

2- प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा । तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।

न्या०भा० 1/1/1

3- सोऽयं परमो न्याय इति ।

न्या०भा० 1/1/1

प्रयोग होने से वहाँ भी यह सामान्य दर्शन का वाचक है । अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आन्वीक्षिकी शब्द कब से अनुमान विद्या के लिए प्रयुक्त हुआ होगा । परन्तु न्याय-भाष्य के अध्ययन से इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि वात्स्यायन के समय आन्वीक्षिकी शब्द अनुमान विद्या के लिए प्रयुक्त होता था । इसी बात की पुष्टि हेतु विश्वनाथ के शब्दों को भी उद्धृत किया जा सकता है, जिनमें उन्होंने कहा है कि आन्वीक्षिकी को न्याय या तर्क आदि शब्दों के द्वारा भी व्यवहृत किया जाता था ।[1]

न्यायशास्त्र का उद्भव

इस न्यायशास्त्र के निर्माण का वास्तविक श्रेय किसको प्राप्त है, यह ठीक-ठीक कहना बड़ा दुरूह काम है, क्योंकि संस्कृत साहित्य के अनेकानेक ग्रन्थों में न्याय शास्त्रकार का नाम अनेकविध प्राप्त होता है । जैसे कि पद्मपुराण,[2]

1- सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादिशब्देरपि व्यवह्रियते ।

न्या०वृ०1/1/1

2- कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।

गोतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै ।।

पद्म०पु०उत्तर खण्ड अ०263

स्कन्दपुराण[1] गान्धर्वतन्त्र[2] नैषधचरित[3] और विश्वनाथवृत्ति[4] आदि ग्रन्थों में न्याय-शास्त्र का रचयिता महर्षि गौतम को बताया गया है । जब कि न्याय-भाष्य[5] न्याय-वार्तिक[6] न्याय-वार्तिक तात्पर्य टीका[7] और न्याय-मन्जरी[8] एवं अन्य अनेक ग्रन्थों में न्यायशास्त्र को अक्षपादरचित कहा गया है । इन दो मतों से

1- गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयस्तत्र- तत्र हि ।

स्क0पु0कालिका खण्ड अ017

2- गौतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरताः सर्व एव हि ।

शार्गाली योनिमापन्नाः सन्दिग्धाः सर्वकर्मसु ।।

गान्धर्व तन्त्र-प्राणतोषिणी तन्त्र में उद्धृत

3- मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः ।

नै0च017/75

4- एषामुनिप्रवरगौतमसूत्रवृत्तिः श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा ।

श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजचन्चरीकश्रीमच्छिरोमणिवचः प्रचयैरकारि ।।

न्या0सू0वृ0के अन्त में

5- योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम् ।

तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत् ।। न्या0भा0का अन्त

6- यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ।। न्या0वा0का आरम्भ

7- अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते । न्या0वा0ता0टीका

8- अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः ।

सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः । न्या0म0प्रथम आ0श्लो0।2पृ0 5

भिन्न एक तीसरा मत भी प्रकाश में आता है जो कि महाकविभास के प्रतिमा नाटक में मिलता है । महाकवि भास ने न्यायशास्त्रकर्ता का नाम श्री मेधातिथि बताया है ।[1] अतएव संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से हमारे सामने न्यायशास्त्रकर्ता के रूप में तीन नाम प्रकट होते हैं । इनतीनों नामों में से किसी एक नाम का न्यायशास्त्रकर्ता के रूप में बिना किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के उद्घोष करना अन्य दोनों नामों के साथ पक्षपात करना होगा । अतएव उपरोक्त तीनों विभूतियों में न्यायशास्त्र का वास्तविक कर्ता कौन है -इसका निर्णय कर सकना कठिन है ।

कुछ लोगों का मन्तव्य है कि गोतम औरअक्षपाद दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं । ऐसा मानने वालों का कहना है कि आन्वीक्षिकी के जन्मदाता महर्षि गोतम एवं न्यायसूत्रकर्ता अक्षपाद हैं । परन्तु डॉ० विद्याभूषण का मत है कि यद्यपि गोतम और अक्षपाद भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं फिर भी न्यायसूत्र इन दोनों की सम्मिलित कृति है ।[2] परन्तु जो लोग दो नामों के आधार पर दो व्यक्तियों

1- भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि । साङ्गोपाङ्ग वेदमधीये । मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च

प्रतिमा नाटक अं 5 पृ079

2- Late Dr S. C. Vidyabhushan in J. A. R. S 1918 thinks that the earlier part of Nyaya was written by Gautam about 550 B.C. whereas the Nyaya Sutras of Akshepada were written about 150 A.D.

S. N. Dasgupta. History of Indian Philosophy Vol. I - P. 279.

की कल्पना करने का साहस करते हैं, उनका यह साहस सर्वथा अप्रमाणग्रस्त एवं निराधार है । कारण कि दो नामों के आधार पर दो व्यक्तियों का निर्धारण करना कदापि संभव नहीं हो सकता है । क्योंकि यह भी संभव है कि एक ही व्यक्ति को दो नामों से पुकारा जाता हो, जैसा कि हमेशा से ऐसा देखा जाता है । जैसे भाष्यकार वात्स्यायन को वात्स्यायन के नाम से तो जाना ही जाता है, परन्तु वात्स्यायन नाम के अतिरिक्त उनका नाम कहीं-कहीं पक्षिलस्वामी भी प्राप्त होता है ।

दो नामों के आधार पर दो व्यक्तियों के अवधारण के विरोध में दूसरा तर्क यह भी हो सकता है कि न्याय-सूत्रों को ही "आन्वीक्षिकी" कहा जाता है क्योंकि न्याय-सूत्रों के आधार पर भाष्य एवं उसकी टीका प्रटीका के रूप में खड़ा किया हुआ न्याय का वह वृहद्रूप ही न्यायशास्त्र, न्यायसम्प्रदाय एवं "आन्वीक्षिकी" आदि शब्दों से व्यवहृत होता है ।[1] तदतिरिक्त कही जाने वाली आन्वीक्षिकी आकाशपुष्प या गन्धर्वनगर आदि के समान सर्वथा अलीक ही हो सकती है ।

उक्त मन्तव्य के विरोध में तीसरी बात यह भी है कि भाष्यकार श्री वात्स्यायन ने सर्वत्र अपने भाष्य में "न्यायविद्या" को ही "आन्वीक्षिकी" शब्द

1- प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी=न्यायविद्या, न्यायशास्त्रम्। न्या०भा०1/1/1

एवं इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते । यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या । न्या०भा०1/1/1

से उल्लेख किया है । अतएव उक्त अवधारणा कि गौतम तथा अक्षपाद अलग-अलग व्यक्ति हैं, समुचित नहीं जान पड़ती ।

कुछ लोगों का मन्तव्य है कि गौतम, अक्षपाद और मेधातिथि एक ही व्यक्ति हैं । परन्तु कुछ अन्य लोगों का यह भी विचार है कि अक्षपाद औरगौतम एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं जब कि मेधातिथि भिन्न व्यक्ति हैं । ऐसा मानने वाले लोगोंका कहना है कि सूत्रकार का मुख्यनाम मेधातिथि है, परन्तु उनका गोत्र चूंकि गौतम है, अतः उनको लोग गोत्र के नाम के आधार पर गौतम के नाम से भी जानते हैं । परन्तु अक्षपाद दूसरे व्यक्ति हैं । परन्तु न्याय-शास्त्र के साथ मेधातिथि का नाम जोड़ते हुए वे लोग कहते हैं कि मेधातिथि गौतम मूलरूप में सूत्रों के कर्ता हैं जब कि अक्षपाद उन न्यायसूत्रों के परिष्कर्ता हैं । जब कि स्कन्दपुराण से गौतम और अक्षपाद की एकता अहल्यापति के रूप में स्थापित होती है ।

परन्तु संस्कृत साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ पुराण आदि का अनुशीलन करके एवं उनमें उपस्थित ऐतिहासिक विवरणों पर विचार करके यदि उनके आधार पर निर्णय लिया जाय तो गौतम और अक्षपाद की एकता के बजाय उन दोनों की विभिन्नता ही सिद्ध होती है, क्योंकि पुराणानुसार गौतम का स्थान जीवन्मुक्त महाराज जनक से पवित्रीकृत मिथिलानगरी ही बतायी गई है । यह स्थान मिथिला में आज भी एक टीले के रूप में "गौतम आश्रम" के नाम से मौजूद है, जो वर्तमान

1- अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः ।
गोदावरी समानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः ।

दरभङ्गा से 28 कि0मी0 की दूरी पर स्थित है । गौतम आश्रम के पास एक गौतमकुण्ड नामक बहुत बड़ा तालाब भी है जिसमें से एक क्षीरोई (क्षीरोदधि) नामक छोटी सी नदी भी निकलती है । गौतम स्थान पर आज भी चैत्र की नवमी को बहुत बड़ा मेला लगता है । श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत है कि शतपथ ब्राह्मण में गौतम के स्थान आदि का जो विवरण पाया जाता है, वह मिथिला के समीपवर्ती गौतम स्थान से बिल्कुल मिलता जुलता है ।[1]

परन्तु अक्षपाद का स्थान काठियावाड़ के पास प्रभासपत्तन में निश्चित होता है । ब्रह्माण्ड पुराणानुसार अक्षपाद शिव जी के अंशभूत सोमशर्मा के पुत्र हैं, एवं प्रभासपत्तन निवासी जातुकर्णी व्यास के समकालीन सिद्ध होते हैं।[2]

1- His (Nachiketas Gotam) remote ancestor was perhaps the sage Nodha Gotam descended from that Gotam who is described in the Rgveda (1/62/13, 1/77/5, 1/85/11) and Shatapatha Brahman of the white Yajurveda, as having settled in a place the description of which tallies with that of Gotamsthan of Mithila.
Indian Logic P. 19

2- सप्तविंशति मे प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते ।
जातुकर्ण्यो यदा व्यासो भविष्यति तपोधनः ।।
तदाऽहं संभविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः ।।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ।।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः ।
अक्षपादःकणादश्च उलूकी वत्स एव च ।।

ए0जी0एस0 द्वारा वायुपुराण नाम से प्रकाशित
ब्रह्माण्ड पुराण अध्याय 23

यदि इस वर्णन को सच स्वीकार किया जाय तो यह स्वीकार करना आवश्यक हो जायेगा कि अक्षपाद का स्थान वर्तमान काठियावाड़ के प्रभास-पत्तन में कहीं रहा होगा । अतएव तब गौतम और अक्षपाद के स्थानभेद के कारण उनकी ऐक्यता स्वयं निराकृत हो जाती है ।

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त इस विषय में एक आश्चर्यजनक कल्पना करते हैं । उनका कहना है कि न्यायशास्त्र प्रणेताओं की सूची में महर्षि गौतम का नाम रखना सर्वथा ही अप्रामाणिक है । उनके अनुसार न्याय-शास्त्र के प्रणेता अक्षपाद ही हैं, अतएव उस स्थिति में न्यायशास्त्रकर्ता मेधातिथि या गौतम को स्वीकार करना सर्वथा असङ्गत है[1]।

परन्तु डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का यह वक्तव्य भी बिल्कुल ही असमीचीन है, क्योंकि न्यायशास्त्र के साथ महर्षि गौतम का नाम इस प्रकार से जुड़ा हुआ है, जिसके अलग करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । शताब्दियों

1- Medhatithi Gotam is more or less a mythical person and there is no proof that he ever wrote anything.

Vatsyayana himself refers to Akshapada as the person to whom Nyaya the science of Logic revealed itself. Udyotakara also refers to Akshepada as the writer of Nyaya sutras and so also does Vachaspati. There is, therefore, absolutely no reason why the original authorship of Nyaya should be attributed to a Gotam as against Akshepada.

The Nyaya Shastra, therefore, can not be traced on the evidence of the earliest Nyaya authorities to any

से वे न्यायशास्त्र के प्रणेता माने जा रहे हैं, फिर भी श्रीयुत दासगुप्त महोदय ने एतद् प्रकारक एक अभूतपूर्व कल्पना करने का साहस कैसे किया-यही आश्चर्य है ।

महाभारत के शान्तिपर्व को देखने से गौतम और मेधातिथि की ऐक्यता का बोध होता है ।[1] तदनुसार "गौतम" वंशबोधक एवं "मेधातिथि" नामबोधक सिद्ध होता है । यदि इस विषय में ठीक से सोचा जाय तो महाभारत में वर्णित यह समाधान ही सर्वोत्तम एवं प्रामाणिक सिद्ध होता है । इसी ढंग से गौतम को मूल न्यायसूत्रकर्ता एवं अक्षपाद को उन सूत्रों का परिष्कर्ता मानकर इन दोनों का न्यायसूत्र के साथ समन्वय किया जा सकता है । जैसे कि आयुर्वेद के प्रसिद्धतम ग्रन्थ चरकसंहिता का मूल प्रणेता अग्निवेश और उसके प्रतिसंस्कर्ता चरक माने जाते हैं, इस प्रकार से मेधातिथि, गौतम और अक्षपाद इन तीनों नामों के साथ न्यायशास्त्र का समन्वय संभव है ।

न्यायशास्त्र के जन्मदाता महर्षि गौतम के काल का वास्तविक रूप से निर्धारण करना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव है । फिर भी श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के आधार पर उनका अतिप्राचीनत्व अवश्य सिद्ध होता है ।

1- मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ।।

महाभा०शा० प०अ०265/45 चौखम्बा एडीशन

पद्मपुराण में वर्णन मिलता है कि गौतम के द्वारा न्यायशास्त्र का एवं कपिल के द्वारा सांख्य शास्त्र का प्रणयन किया गया ।[1] स्कन्दपुराण के कालिका खण्ड में भी आया है कि गौतम के द्वारा अपने तर्क से पूर्वपक्षियों के तर्क का खण्डन किया गया ।[2]

परन्तु इन सभी प्रमाणों के रहते हुए महर्षि गौतम का अतिप्राचीनत्व सिद्ध होने पर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न्याय-सूत्र के समस्त सूत्रों की रचना एक ही समय न होकर समय के अन्तराल के साथ विकसित होकर हुई है और उसके विकास में कई लोगों का श्रेय है । यही मत डॉ राधाकृष्णन को भी स्वीकार्य है, क्योंकि उनका मानना है कि न्यायसूत्रगत प्राचीनतम सूत्रों का समय ई0 पू0 चतुर्थ या तृतीय शताब्दी होना चाहिए और कुछ सूत्र ईशायुग के बाद के भी होना चाहिए ।[3] इसी प्रकार जेकोबी भी न्याय-सूत्रों

1- कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै ।।

प0 पु0 उ0 ख0 अ0 260

2- गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयन् यत्र-तत्र हि ।

स्क0 पु0 का0 खण्ड अ0 17

3- राधाकृष्ण- इण्डियन फिलासफी वा0 ।। पे0 36-37

में नागार्जुन (ईसा की तृतीय शताब्दी) के शून्यवाद तथा असङ्ग एवं वसुबन्धु (ईसा की चतुर्थ शताब्दी का मध्य) के विज्ञानवाद की आलोचना को देखकर यह स्वीकार करने के पक्ष में है कि न्याय सूत्रों का रचनाकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी तक है ।[1] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे सूत्र जिनमें नागार्जुन, असङ्ग एवं वसुबन्धु की आलोचना मिलती है वे सभी सूत्र प्रक्षिप्त हैं । अतः डॉ० राधाकृष्णन् का ही मत समीचीन लगता है न कि जेकोबी का । बौद्धों की आलोचना में लिखे सूत्रों के सूक्ष्म अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि वे सूत्र बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं । फिर भी अधिकांश विद्वान् विविध प्रमाणों को इकट्ठा करके न्यायसूत्र का प्रणयनकाल ई०पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ई० की पन्चम शताब्दी तक स्वीकार करते हैं । न्यायसूत्रकार के समय के विषय में यही मत सर्वश्रेष्ठ, सुसंगत एवं ग्राह्य प्रतीत होता है क्योंकि पुराणों का समय गुप्त काल ही सर्वमान्य है । जब कि न्यायसूत्रकार गौतम का नाम पुराणों में मिलता है ।

परन्तु जहाँ तक उनकी स्थिति के विषय में प्रश्न है तो उनके जन्म तथा मरण के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना अनुभवविरुद्ध तथा निराधार प्रतीत होता है । हो सकता है कि महर्षि शास्त्रचिन्तनोपरान्त कहीं कन्दरा में समाधिस्थ

1- जे० ए० ओ० एस० XXXI 1911 पी०पी० 2 1 3

होकर ईश्वरचिन्तन ही कर रहे हों जैसा कि शिवराजविजय[1] आदि में महर्षियों के चिरस्थायित्व का उल्लेख श्रुतिगोचर होता है ।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी योगियों के अमरता का व्याख्यान हुआ है, जिसमें कहा गया है कि शरीर में स्थिर जो पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के अपने वश में होने से और अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होने से योगाग्निमय शरीर को प्राप्त योगी को रोग, जरा एवं मृत्यु नहीं होता ।[2]

न्याय दर्शन की विकास यात्रा-वात्स्यायन से उदयन तक

न्यायसूत्रों के अर्थ को समझना सर्वसाधारण की बात नहीं थी, अतएव उन सूत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उन सूत्रों पर भाष्य लिखा गया । इस भाष्य-लेखन का श्रेय वात्स्यायन को जाता है । आज प्राप्त न्याय-दर्शन का जो विकसित स्वरूप है, उसके विकास की प्रथम सीढ़ी का शुभारम्भ वात्स्यायन

1- सत्यं न लक्षितो मया समयवेगः यौधिष्ठिरे समये कलितसमाधिरहं वैक्रमराज्ये उदस्थाम् । पुनश्च वैक्रमसमये समाधिमाकलय्य अस्मिन् दुराचारभवे समयेऽभ्युत्थितोऽस्मि अहं पुनर्गत्वा समाधिमेव कलयिष्यामि किन्तु तावत् स संक्षिप्य कथयतां का दशा भारतवर्षस्येति ।" शिवराजविजय प्रथम निःश्वास पृ० 7।

2- पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।

ने ही किया था । तदुपरान्त उनके भाष्य पर किये गये आक्षेपों प्रत्याक्षेपों के आधार पर उस भाष्य की तमाम टीकाएँ प्रटीकायें लिखी गईं जिसके परिणाम-स्वरूप वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले न्यायसाहित्य का विकास हुआ है ।

समय -

न्यायसूत्रकार गोतम की तरह न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन का समय निर्धारण करना कोई साधारण कार्य नहीं अपितु बड़ा ही दुरूह कार्य है । परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बौद्ध आचार्य नागार्जुन {ई0250-320} ने न्याय-सूत्रों में प्रतिपादित न्यायसिद्धान्तों की आलोचना "विग्रह-व्यावर्तिनी" एवं "उपायकौशल" नामक अपनी कृतियों में किया है ।[1] आर्यदेव {ई0सन्0320} नामक बौद्ध दार्शनिक ने "शतशास्त्र" में न्यायदर्शन की आलोचना के प्रसङ्ग में कुछ न्याय-सूत्रों { 3/1/7, 12 एवं 18 } को उद्धृत किया है[2] तथा न्याय-दर्शन के सिद्धान्तों की आलोचना की है । इन्हीं बौद्धकृत आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए एवं सूत्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए वात्स्यायन ने न्याय-सूत्रों पर भाष्य लिखा है । वात्स्यायन ने बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के सापेक्षवाद

1- राधाकृष्णन् - इंडियन फिलासफी वा0 II पी0 38

Tucci – Pre Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources. Introduction P. 27.

2- ~~टची - प्री डिंग बुद्धिस्ट टैक्ट आन लाजिक फ्राम चाइनीज सोर्स~~

~~इंट्रोडक्शन पी0xx11~~

की आलोचना न्यायभाष्य 4/1/39-40 में, शून्यवाद की आलोचना न्यायभाष्य 4/1/37-40,48 में तथा विज्ञानवाद की आलोचना न्यायभाष्य में 4/2/26 एवं क्षणिकवाद की आलोचना न्यायभाष्य 3/2/10-12 में किया है । अतएव इनके आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि न्यायभाष्यकार श्री वात्स्यायन का जन्म चतुर्थ शताब्दी में हुआ होगा ।

फिर भी न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का सही समय निश्चित करना बहुत मुश्किल है क्योंकि उनके नाम में ही बड़ा मतभेद है । न्याय-भाष्यकार का कहीं वात्स्यायन नाम मिलता है, कहीं पक्षिलस्वामी, कहीं पक्षिलमुनि तथा कहीं पक्षिल ही नाम मिलता है । किन्तु न्यायभाष्य की समाप्ति से "योऽक्षपादमृषिं" न्यायः प्रत्यभाद्वदतावरम् । तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत[1] एवं न्यायवार्तिक की समाप्ति में "यदक्षपादप्रतिभोभाष्यं वात्स्यायनो जगौ-अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्[2] इन उल्लेखों से निश्चित हो जाता है कि भाष्यकार का नाम वात्स्यायन ही था । न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के प्रारम्भ में षड्दर्शन के मान्य आचार्य श्री वाचस्पति मिश्र ने भी "अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयस हेतौ शास्त्रे प्रणीते व्याख्याते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते[3]

1- न्यायभाष्य- के अन्त में पृ0 380

2- न्यायवार्तिक के अन्त में पृ0 568

3- न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका के आदि में पृ0 ।

ऐसा लिखा है । जिससे पता चलता है कि पक्षिलस्वामी भाष्यकार का नाम था । माधवाचार्य ने भी सर्वदर्शनसङ्ग्रह में पक्षिलस्वामिना च सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना"[1] इस लेख से यही स्पष्ट किया है । तार्किक रक्षा के "पक्षिलमुनिः प्रभृतयः" इस लेख से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार का दूसरा नाम पक्षिलमुनि अथवा पक्षिलस्वामी भी था । वात्स्यायन की चर्चा पद्म पुराण के रामाश्वमेध प्रकरण में भी की गई है ।[2] इस प्रकार पुराण आदि में भी वात्स्यायन महर्षि की चर्चा उनके चिरन्तनत्व को सूचित करती है ।

कुछ आधुनिक तार्किक हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणिकोश में लिखे श्लोक[3] को देखकर कहते हैं कि न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन चाणक्य ही थे क्योंकि वात्स्यायन भाष्य के प्रारम्भ में कौटिल्य अर्थशास्त्र का एक श्लोक भी उद्धृत हुआ है ।[4] अतएव इस आधार पर उनका समय ई0 से 321 वर्ष पूर्व सिद्ध होता है ।

1- सर्वदर्शनसङ्ग्रह अक्षपाददर्शनम् पृ0 418

2- व्यास उवाच-ततः परं धराधरं पृष्टवान् भुजगेश्वरम् ।
वात्स्यायनो मुनिवरः कथामेतां सुनिर्मलाम् ।।
प0पु0रामाश्वमेध प्रकरण अ0 ।

3- वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ।। अभिधान चिन्तामणि मर्त्यकाण्ड

4- सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना,
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ।। न्या0भा01.1.1 एवं अर्थशा0अ0।।

किन्तु पुरुषोत्तम देवकृत त्रिकाण्डशेषकोश में चाणक्य के पाँच नाम विष्णुगुप्त, कौटिल्य चाणक्य, द्रामिल एवं अंगुल बताये गये हैं एवं वात्स्यायन के तीन नाम वात्स्यायन, मल्लनाग और पक्षिलस्वामी बताये गये हैं।[1] परन्तु न्यायग्रन्थों में नैयायिक के रूप में वात्स्यायन को छोड़कर चाणक्य या कौटिल्य आदि कोई अन्य नाम नहीं कहा गया है। अतः त्रिकाण्डशेषकोश के टीकाकार का कथन ही प्रामाणिक प्रतीत होता है।

डॉ० विद्याभूषण का कहना है कि वात्स्यायन को दक्षिण भारत का निवासी मानना चाहिए एवं उनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी स्वीकार करना चाहिए।[2] परन्तु स्वयं भाष्यकर्ता श्री वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत छल के उदाहरण में "नवकम्बलोऽयं माणवकः"[3] एवं न्यायसूत्र के "रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्"[4] इस सूत्र के भाष्य नदीपूर्णा गृह्यते[5] "नीडोपघातादपि

1- विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽङ्गुलः ।

वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलस्वामिनावपि ।।

त्रि०को० ब्रह्मवर्ग

2- विद्याभूषण- ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक पृ०पी० 115-117

3- न्यायभाष्य- 1/2/12

4- न्यायसूत्र 2/1/38

5- न्यायभाष्य 2/1/38

पिपीलिकाण्डसंचारो भवति[1] "पुत्त्रोऽपि मयूखाशिखामकरोति"[2] इत्यादि उदाहरणों से ये मिथिलादेशवासी सिद्ध होते हैं ।

न्याय वार्तिक {उद्योतकर}-

वसुबन्धु {ई0सन्0410-490} और उनके शिष्य दिङ्•नाग {ई0सन् 450-520} ने अपने ग्रन्थों में न्यायभाष्य की आलोचना की है । "वादविधि" "वादमार्ग" और "वादकौशल" वसुबन्धु की रचनायें मानी जाती हैं । डॉ0 विद्याभूषण तर्कशास्त्र को भी इनकी रचना मानते हैं, किन्तु टुच्ची को तर्कशास्त्र के रचयिता के बारे में सन्देह है ।[3] अभी तक वसुबन्धु द्वारा रचित कुल 32 ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं ।[4] तात्पर्यटीकाकार के द्वारा अनेकशः वसुबन्धु के नाम का उल्लेख किये जाने से यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि वसुबन्धु ने न्यायभाष्य की आलोचना की रही होगी जिसके परिहारार्थ वार्तिककार ने न्यायभाष्य पर न्यायवार्तिक टीका लिखकर पूर्वपक्षियों के पूर्वपक्ष का प्रत्युत्तर दिया ।

दिङ्•नाग ने "प्रमाणसमुच्चय" "न्यायप्रवेश" "हेतुचक्रडमरु" "प्रमाणसमुच्चयवृत्ति" "प्रमाणशास्त्र न्यायप्रवेश" "आलम्बन परीक्षा" "त्रिकालपरीक्षा" "आलम्बनपरीक्षावृत्ति" एवं "मर्मप्रदीपवृत्ति" नामक ग्रन्थ लिखे । दिङ्•नाग ने गौतम और

1- न्यायभाष्य - 2/1/38

2- न्यायभाष्य - 2/1/38

3- Tucci - Pre Dinnag Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources. Introduction p. 1. ~~टुसी - प्री-डिंग बुद्धिस्ट टेक्स्ट आन लॉजिक फ्रॉम चाइनीज सोर्स इन्ट्रोडक्शन पृ0~~

4- डॉ0 महेन्द्र तिवारी- विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का प्राक्कथन पृ0 4-5

वात्स्यायन के सिद्धान्तों की आलोचना, बौद्धमतों की रक्षा एवं मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । डॉ0 विद्याभूषण ने इस आचार्य को मध्ययुगीन भारतीय न्याय का जनक माना है ।[1] धर्मकीर्ति आदि परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने दिङ्नाग के मत की रक्षा में एवं नैयायिक एवं मीमांसक आदि हिन्दू दार्शनिक दिङ्नाग की आलोचना में तत्पर हो गये । उद्योतकर ने बौद्धों की आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए सातवीं शताब्दी में न्यायभाष्य पर न्यायवार्तिक नामक व्याख्या का प्रणयन किया ।

वार्तिक के प्रणेता आचार्य के "भारद्वाज" "पाशुपत" और "उद्योतकर" नाम मिलते हैं ।[2] न्यायवार्तिक के अन्तिम श्लोक में उद्योतकर ने अपने को भारद्वाज कहा है ।[3] इससे स्पष्ट है कि वार्तिककार भारद्वाज ही थे तथा पाशुपत सिद्धान्त के मानने वाले थे । परन्तु कीथ महोदय भारद्वाज को कुलनाम मानते हैं ।[4]

Dinnaga is justly regarded as the father of Mediaeval Logic.

1- ~~डिंग इज जस्टली रिगार्डेड एज दि फादर आफ मीडिवल लाजिक।~~

विद्याभूषण- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पी0 270

2- "इति श्री परमर्षिभारद्वाज- पाशुपताचार्य श्रीमदुद्योतकर कृतौ न्याय-वार्तिके पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।" न्या0 वा0 पृ0 568

3- यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ ।

अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम् ।। न्या0वा0अन्तिम श्लोक

4- कीथ- इंडियन लाजिक एण्ड एटोमिज्म, पी0 28

कुछ विद्वानों का मत है कि वार्तिक की महत्ता और प्रौढ़ता के कारण लोगों ने भारद्वाज को उद्योतकर कहा होगा, क्योंकि भारद्वाजवंशीय होने के कारण उनकी उतनी ख्याति नहीं हुई होगी, जितनी उद्योत व्याख्या लिखने के कारण। वाचस्पति मिश्र ने वार्तिक को उद्योतनिबन्ध कहा है और उद्योत के रचयिता को उद्योतकर।[1] इस प्रकार उद्योतकर या वार्तिककार भी रचयिता का मुख्य नाम नहीं माना जा सकता। हाँ वासवदत्ता में उद्योतकर शब्द मिलता है, अतएव उसे अन्य नामों में सबसे अधिक प्राचीन मानना उचित होगा।

"पाशुपत" भी वार्तिककार का मुख्यनाम नहीं हो सकता। डॉ विद्याभूषण इन्हें पाशुपत शैवमत के अनुयायी होने के कारण मानते हैं न कि उनका व्यक्तिगत नाम होने के कारण।[2] इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि भारद्वाज, पाशुपत उद्योतकर या वार्तिककार में से कोई भी न्यायवार्तिक के रचयिता का व्यक्तिगत नाम नहीं है। वस्तुतः इनका नाम अज्ञात है।[3]

1- तात्पर्य टीका प्रस्तावना, पृ0 2

2- The name of Bharadwaja as applied to Udyotakara, is derived from the family to which he belonged while he is called Pashupatacharya on account of his having been a preceptor of Pashupata-Shaiva-Sect.

Vidyabhushan - A History of Indian Logic P. 124.

3- The attacks of Dinnaga were replied to by Udyotakara the illustrator, whose family name was Bharadwaja, but whose personal name we do not know.

उद्योतकर आचार्य किस देश में या किस काल में हुए इसके विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है । न्यायवार्तिक में एक जगह आये हुए श्रुघ्न नामक स्थान का उल्लेख मिलता है ।[1] डॉ विद्याभूषण का अनुमान है कि न्यायवार्तिक की रचना के समय उद्योतकर थानेश्वर में राज्याश्रितरूप में रहे होंगे और श्रुघ्न एक बड़ी सड़क द्वारा थानेश्वर से मिला होगा । डॉ० विद्याभूषण न्याय-वार्तिक में केवल एक स्थान "श्रुघ्न" का ही उल्लेख मानते हैं[2] और उसके आधार पर वे उद्योतकर का निवास स्थान मालव प्रदेशान्तर्गत पद्मावती को मानते हैं । परन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं क्योंकि न्यायवार्तिक में श्रुघ्न के अतिरिक्त "पाण्ड्य" मथुरा और "तक्षशिला" का भी उल्लेख हुआ है ।[3] परम्परा के अनुसार पद्मावती उद्योतकर का जन्मस्थान माना जाता है । कीथ के अनुसार उद्योतकर के एक शताब्दी बाद पद्मावती न्यायदर्शन के लिए प्रसिद्ध हो गया था ।[4]

1- तद् यथा गोपालकेन मार्गोपदिष्टे एष पन्था: श्रुघ्नं गच्छति"

न्या० वा० 1/1/33

2- विद्याभूषण- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक,-पी०124

3- यथनपेक्ष संयोगं कुर्याद् पाण्ड्यमथुरासम्बन्धिनि देवदत्ते उत्पन्नं कर्म तक्षशिला सम्बन्धिनि यज्ञदत्ते संयोगं कुर्याद् । न्या०वा० 1/1/33

3- Though tradition places his birthplace at Padmavati now Narwar in Malva, which a century later, was certainly celebrated as a school of logic.

Kieth - Indian Logic & Atomism.

पं0 विन्ध्येश्वरी पद्मावती में न्याय के किसी भी आकर ग्रन्थ की रचना स्वीकार नहीं करते हैं और तदनुसार पद्मावती को उद्योतकर का जन्मस्थान मानना उचित नहीं समझते हैं। उनका कहना है कि न्यायसूत्र के रचयिता गौतम मुनि, भाष्यकार वात्स्यायन, वाचस्पतिमिश्र उदयनाचार्य, वर्धमानोपाध्याय प्रभृति जब मिथिला निवासी थे तो उद्योतकराचार्य भी वहीं के थे। कुछ लोग उनको न्यायवार्तिक में आये हुए पाशुपत[1] शब्द के आधार पर उनको कश्मीर का भी निवासी स्वीकार करते हैं। उन लोगों का कहना है कि काश्मीर में ही नाना प्रकार के सम्प्रदाय देखे गये हैं। इस प्रकार से उद्योतकर के स्थान के विषय में भी विद्वान् एकमत नहीं है। अतएव उनके निवास स्थान के विषय में कुछ सही-सही नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध दर्शन के पश्चात्-कालीन प्रधान आचार्य दिङ्नाग ने न्याय-भाष्य का खण्डन करते हुए नैयायिकों तथा वैशेषिकों को जिस समय ललकारा, उस समय न्यायवार्तिककार श्री उद्योतकर ने उनके उत्तर स्वरूप यह वार्तिक नामक टीका लिखी। उद्योतकर ने वार्तिक के प्रारम्भ में स्वयं सूचित किया है कि कुतार्किकों के अज्ञान को दूर करने के लिए वे मुनिश्रेष्ठ अक्षपाद के शास्त्र पर निबन्ध (वार्तिक) लिख रहे हैं।[2] न्यायवार्तिक में आये हुए कुतार्किक का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने

1- पाशुपताचार्योद्योतकरविरचितं न्यायसूत्रवार्तिकम् समाप्तम्। न्या0वा0की पुष्पिका

2- यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः।।
न्या0वा0का आरम्भ

तात्पर्यटीका में दिङ्नागप्रभृति कहा है ।[1] दिङ्नाग ने न्यायभाष्य की तीव्र आलोचना की थी, जिसका उत्तर देना अनिवार्य हो गया था ।

दूसरी बात यह है कि न्यायवार्तिककार ने "अहो कौशलं भदन्तस्य" कोऽन्यो भदन्ताद् वक्तुमर्हति" आदि वाक्यों में सर्वत्र "भदन्त" शब्द दिङ्नाग के लिए प्रयोग किया है जो कि वाचस्पतिमिश्र की तात्पर्यटीका से स्पष्ट होता है । वाचस्पतिमिश्र ने तात्पर्यटीका में "दिङ्नाग मतं खण्डयति" "वसुबन्धुलक्षणं खण्डयति" ऐसे लेख भी प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उद्योतकर दिङ्नाग तथा वसुबन्धु आदि से पश्चाद्वर्ती हैं ।

सुबन्धु ने वासवदत्ता में उद्योतकर का न्याय के संस्थापक के रूप में उल्लेख किया है । बाण ने हर्षचरित में सुबन्धु की कृति वासवदत्ता का उल्लेख किया है ।[2] अतएव हर्षचरित के देखने से पता चलता है कि युवक बाण हर्ष के दरबार में रहते थे । हर्षवर्धन ने ई0 सन् 629 से ई0सन् 644 तक राज्य किया । इस प्रकार उद्योतकर बाण के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । बाण का समय 7वीं शताब्दी का पूर्वभाग माना जाता है । अतएव उद्योतकर का समय कतिपय विद्वान् ईसा की छठीं शताब्दी मानना उचित समझते हैं । डा0 विद्याभूषण इनका समय 635 ई0 के आस-पास मानते हैं ।[3] रेण्डेल भी इनका समय 7वीं शताब्दी का

1- तात्पर्य टीका 1/1/1 प्रस्तावना पृ02

2- कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया । हर्षचरित उच्छ्वास ।

3- विद्याभूषण-ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक-पी0124

प्रारम्भ स्वीकार करते हैं[1]। उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर उनका समय 7वीं शताब्दी में मानना ही न्यायसंगत होगा।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका - (वाचस्पति मिश्र)

उद्योतकर के न्यायवार्तिक की लगभग दो शताब्दियों तक व्याख्या नहीं हुई। इस बीच धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध विद्वानों ने न्यायवार्तिक की आलोचना करके उसे अत्यन्त निष्प्रभ एवं जीर्ण कर दिया था। वाचस्पतिमिश्र की दृष्टि में न्यायवार्तिक कीचड़ में फँसी हुई बूढ़ी गाय के सदृश हो गया था जिसके उद्धार का पुण्य प्राप्त करने के लिए उन्होंने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका नामक व्याख्या लिखी।[2] आचार्य वाचस्पति मिश्र न्यायविद्या की महत्त्वपूर्ण परम्परा में ऋषिकल्प चतुर्थ महापुरुष थे। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के अतिरिक्त इन्होंने "सांख्यकारिकाओं" पर "सांख्यतत्त्वकौमुदी" "योगभाष्य" पर "तत्त्व-वैशारदी" मण्डनमिश्र की "विधि-विवेक" पर "न्यायकणिका" तथा "शाङ्करभाष्य" पर "भामती" नामक व्याख्याएँ भी लिखी हैं। इन्होंने लगभग सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ

1- रेंडिले-फ्रेगमेंट फ्राम ~~डिग-पी~~02 (handwritten: डिङ्नाग पृ. 2)

2- इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥

ता०टी०1/1/1

लिखी हैं । इसलिए इन्हें "सर्वतन्त्र स्वतन्त्र" कहा जाता है । वाचस्पति मिश्र ने "न्यायसूची-निबन्ध" तत्वसमीक्षा" और "तत्वबिन्दु" नामक ग्रन्थों की भी रचना की है ।

तात्पर्यटीका का प्रणयन करके वाचस्पति मिश्र ने समाप्तप्राय न्यायदर्शन का पुनः उद्धार किया । तात्पर्यटीका में बौद्ध धर्म के चारों सम्प्रदायों, माध्यमिक, विज्ञानवाद, सौत्रान्तिक और वैभाषिक का उल्लेख एवं उनकी आलोचना की गई है । विशेषकर दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की आलोचना की गई है । तात्पर्यटीका में अनेक नवीन सिद्धान्तों का समावेश करके वाचस्पति मिश्र ने क्षीणप्रभ न्याय-दर्शन को सशक्त कर दिया । क्योंकि ये उस समय के आचार्य हैं जिस समय न्याय-वैशेषिकों का बौद्धों के साथ महान् संघर्ष हुआ । वाचस्पति का युग न्याय-वैशेषिक के विकास का युग था । अतएव इस युग को भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग कहा गया है और वाचस्पति मिश्र इसके आज्ज्वलयमान् रत्न हैं ।[1]

वस्तुतः न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों को परिनिष्ठित रूप देना वाचस्पति मिश्र का काम है । इसके अतिरिक्त अन्य दर्शन भी उनकी अद्वितीय प्रतिभा से आलोकित हुए हैं । वैदिक दर्शनों के गम्भीर पाण्डित्य के साथ-साथ उनका बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ज्ञान भी उच्चकोटि का था । उन्होंने अपने ग्रन्थों में बौद्धों के अनेक मन्तव्यों की ऐसी सच्ची व्याख्या प्रस्तुत की है, जैसे कि धर्मकीर्ति

1- डॉ०एन०शास्त्री- ~~क्रिटिक्यू आफ इण्डियन रीलज्म पे०95~~
Critique of Indian Realism. P. 95.

आदि के ग्रन्थों में भी नहीं मिलती । अपनी सूक्ष्म दृष्टि और गहन अध्ययन के आधार पर उन्होंने जो बौद्ध मन्तव्यों का खण्डन किया था, उससे बौद्ध विद्वानों को भी अपने सिद्धान्तों को परिष्कृत करने की प्रेरणा मिली ।

श्री वाचस्पति मिश्र मिथिला देशवासी थे क्योंकि उस समय के मिश्रान्त नामधारी विद्वान् मिथिला में ही पाये जाते थे । जैसे मण्डन मिश्र, पक्षधरमिश्र, मुरारिमिश्र, पार्थसारथिमिश्र आदि । श्चेरवात्स्की का कथन है कि वाचस्पति मिश्र उत्तरी भारत में दरभङ्गा के निवासी थे और नेपालराज के राजसभा में थे ।[1]

जहाँ अनेक विद्वानों के कालके विषय में अनुमान तथा अटकलों का ही सहारा लेना लेना पड़ता है, वहाँ वाचस्पतिमिश्र की लोकविश्रुतकृतियों के समान उनकी तिथि भी स्पष्ट रूप से विदित ही है । वाचस्पति मिश्र ने अपने न्याय-सूचीनिबन्ध" नामक एक लघुकाय ग्रन्थ में जो कि न्यायसूत्रों की रक्षा के लिए लिखा गया था-के अन्त में उसकी रचना के समय का उल्लेख किया है-

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ।।[2]

इस प्रकार से वाचस्पति मिश्र ने वसु {8} अङ्क {9} वसु {8} अर्थात 898 सम्वत् में बुद्धिमानों के मोद के लिए यह न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की । अतएव

1- बी0एल0 वा0{I} पेज 257 ।

2- न्यायसूचीनिबन्ध, समाप्तिश्लोक ।

वाचस्पतिमिश्र का समय 898 संवत् के लगभग है, इसमें कोई सन्देह नहीं । परन्तु प्रश्न यह है कि जिस संवत् का यहाँ उल्लेख किया गया है वह संवत् विक्रमीय संवत् है या शक संवत् ?

महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति कुछ विद्वान् उक्त श्लोक में "वत्सर" पद से शकवर्ष लेते हैं । इसके आधार पर 898 + 78 = 976 ई० वर्ष न्यायसूचीनिबन्ध का रचनाकाल होता है । परन्तु द्विवेदी प्रभृति के मत का विरोधकरते हुए गङ्गानाथ झा प्रभृति अन्य विद्वान् उक्त श्लोक के "वत्सर" पद से विक्रमवत्सर मानकर वाचस्पति का समय 898-57 = 841 सन् निश्चित करते हैं । ऐसा ही रैण्डिल ने भी स्वीकार किया है ।[1] यही मत उपयुक्त भी जान पड़ता है क्योंकि उदयनाचार्य का समय निश्चितरूप से 906 शक संवत् अर्थात् 906 + 135 = 1041 विक्रम संवत् होता है । जैसा कि उदयनाचार्य ने स्वयं लक्षणावलीग्रन्थों के अन्त में लिखा है ।[2] जिसमें अङ्क = 9, अम्बर= 0 एवं तर्क = 6 होता है ।"अङ्कानां वामतो गतिः" के आधार पर बाईं ओर को अङ्क गिने जाते हैं अतः 906 शक संवत् उनका समय निश्चित है । अतएव यदि वाचस्पति का समय 898 शक वर्ष माना जायेगा तो उदयनाचार्य और वाचस्पतिमिश्र समकालीन सिद्ध होंगे। अतएव उदयनाचार्य वाचस्पतिमिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका पर "परिशुद्धि" टीका कैसे लिखते ? यदि वाचस्पति का समय विक्रम संवत्

1- एच०एन० रैण्डिल-इंडियन लाजिक इन दि अरली का स्कूल, पेज 39 ।

2- तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ।।

लक्षणावली के अन्त में

माना जायेगा तो उदयनाचार्य का समय 906 + 135 = 1041 विक्रम संवत् होने पर दोनों के समय में लगभग 150 वर्ष का अन्तर आयेगा, तब उदयनाचार्य द्वारा तात्पर्यपरिशुद्धि का लिखना सर्वथा सङ्गत होगा । वाचस्पति का समय वि०सं० मानना इसलिए भी समीचीन जान पड़ता है क्योंकि उक्त निबन्ध में वर्ष का नामोल्लेख न होने से सामान्यतः प्रसिद्ध वि०सं० ही मानना उचित है ।

वाचस्पतिमिश्र ने भामती टीका के अन्त में लिखा है कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया जब राजा नृग राज्य करते थे ।[1] महाभारत तथा श्रीमद्-भागवद् में उल्लिखित नृग के साथ वाचस्पति मिश्र से सम्बन्ध जोड़ना किसी प्रकार भी संभव नहीं है । डॉ० दासगुप्ता का कहना है कि एक अर्वाचीन नृग का भी शाङ्गधरपद्धति नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है । सम्भवतः वाचस्पति मिश्र इन्हीं नृग राजा के शासनकाल में विद्यमान थे । किन्तु इतिहासकार आज तक यह नहीं निश्चित कर पाये कि नृग नाम का राजा कब और कहाँ शासन करता था ?[2]

वाचस्पति का समय 898 वि०सं० इसलिए भी समीचीन प्रतीत होता है । क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने मण्डनमिश्र की "विधिविवेक" पर न्याय-कणिका" नाम की व्याख्या की है । डॉ० दासगुप्ता ने मण्डनमिश्र का समय 800ई०

1- नरेश्वरा यच्चरिताऽनुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीये महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ।।
भामती समाप्ति श्लोक 6

2- एस०एन०दासगुप्ता-~~हि०फि०वा०।। पेज-107~~ History of Indian Philosophy. Vol.II. P. 107.

अर्थात् 857 वि0 सं0 माना है ।[1] अतएव वाचस्पति का समय 898 वि0सं0 अर्थात् 841 ई0 ठीक ही है । ऐसा ही मन्तव्य विद्याभूषण का भी है ।[2]

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि मार्तण्ड तिलक स्वामी उनके गुरु रहे होंगे ।[3] उनकी इस धारणा का आधार भामती टीका का चतुर्थ मङ्गलश्लोक है, जो इस प्रकार है -

मार्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम् ।
विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ।।

लेकिन आन्तरिक तथा वाह्य साक्ष्यों से स्पष्टहोता है कि वाचस्पति के विद्यागुरु त्रिलोचन थे । उनकी न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका से भी यही बात होता है ।[4] वर्धमानाचार्य ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि त्रिलोचन वाचस्पति के विद्यागुरु थे ।[5] रैण्डिल का कथन है कि त्रिलोचन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के उच्चकोटि के व्याख्याता रहे होंगे और उनका समय 800 ई0 के लगभग रहा होगा।[6]

1- एस0एन0दासगुप्ता-हि0इ0फि0। पेज 87 History of Indian Philosophy vol II P. 87

2- विद्याभूषण-ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पेज 133

3- दासगुप्ता -हि0 फि0। पेज 107 History of Indian Philosophy P. 107

4- त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः ।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ।।

न्या0वा0ता0टी0पृ0133

5- त्रिलोचनटीकाकृतो विद्यागुरुः। परिशुद्धि प्रकाश पृ09

6- एच0एन0रैण्डिल-इण्डियन लाजिक इन दि अरली स्कूल, पृ040, 106 ।

त्रिलोचन का उल्लेख कई दार्शनिक ग्रन्थों में भी मिलता है किन्तु उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है । तार्किकरक्षा में दो स्थलों पर त्रिलोचन का उल्लेख किया गया है ।[1] रत्नकीर्ति ने अपोहसिद्धि तथा क्षणभङ्गसिद्धि में त्रिलोचन की आलोचना की है ।[2] डा० गोपीनाथ कविराज ने कहा है कि उद्योतकर के ग्रन्थ के पुनरुद्धार कार्य में वाचस्पति अपने विद्यागुरु त्रिलोचन के आभारी हैं ।[3] वाचस्पति उद्योतकर की इस उक्ति "उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्"[4] की व्याख्या में उदयनाचार्य लिखते हैं कि "त्रिलोचनगुरोः सकाशाद् उपदेशरसायनम् आसादितम् अमूषां पुनर्नवीभावाय दीयते ।[5] रैण्डिल का कथन है कि त्रिलोचन ने प्रशस्तपाद की शिक्षाओं का न्याय में प्रवेश कराया ।[6]

अतएव इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि त्रिलोचन वाचस्पति मिश्र के गुरु थे । वाचस्पति मिश्र की अद्भुत प्रतिभा के विकास में उनका पर्याप्त योगदान रहा होगा ।

1- तार्किकरक्षा, पृ० 337,336

2- सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रेक्टस अपोहसिद्धि पृ० 13, क्षणभङ्गसिद्धि पृ058

3- इंट्रोडक्शन टू ट्रान्सलेशन आफ न्याय, पेज 16

4- ता० टी० 1/1/1 पृ० ।

5- न्या० वा० ता० टी० परि० पृ० ।

6- इण्डियन लाजिक इन दि अरली स्कूल पेज 106 ।

कुछ लेखकों ने त्रिलोचन के स्थान पर "त्रिविक्रमः" लिखा है ।[1] परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थों में त्रिलोचन का ही उल्लेख किया गया है ।

वाचस्पतिमिश्र ने न्यायकणिका के मङ्गलश्लोक में न्यायमञ्जरीकर्ता को अपने गुरु के रूप में प्रणाम किया है ।[2] इससे यह समझा जाता है कि न्यायमञ्जरी के कर्ता जयन्त वाचस्पति के गुरु रहे होंगे । इस पर यह भी कल्पना की जाती है कि जयन्त और त्रिलोचन सम्भवतः एक ही व्यक्ति रहे होंगे । किन्तु यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्रीमित्र ने त्रिलोचन की मञ्जरी का उल्लेख किया है ।[3] उसने उस न्यायमञ्जरी के कुछ उद्धरण भी दिये हैं जो जयन्त की न्यायमञ्जरी में उपलब्ध नहीं होते । अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि वाचस्पतिमिश्र के द्वारा "न्यायकणिका के मङ्गल श्लोक में जिस न्यायमञ्जरी का उल्लेख किया गया है वह जयन्तभट्ट की न्यायमञ्जरी से भिन्न कोई अन्य ग्रन्थ है जो आज उपलब्ध नहीं है । यह भी निश्चित है कि उस न्यायमञ्जरी के प्रणेता त्रिलोचन थे । डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का सुझाव है कि न्यायमञ्जरी पूर्वमीमांसा शास्त्र का ग्रन्थ रहा होगा ।[4] इससे जयन्तभट्ट को

1- तत्त्वबिन्दु (एडिटेड बाइ वी०ए० रामास्वामी शास्त्री अन्नामलाई यूनिवर्सिटी) इन्ट्रोडक्शन पेज 53 ।

2- अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ।। न्या०कणिका पृ० । श्लोक 3

3- ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ० 236

4- ~~क्रिटिक्यू आफ इंडियन रीलिज्म पेज~~ 115 Critique of Indian Realism. P 115

वाचस्पतिमिश्र का गुरु मानना सङ्गत नहीं प्रतीत होता, अपितु त्रिलोचन ही वाचस्पति मिश्र के विद्यागुरु थे यही स्वीकार करना युक्तियुक्त जान पड़ता है ।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि-{उदयनाचार्य}

न्याय साहित्य के स्रष्टाओं में श्रीवाचस्पति मिश्र के पश्चात् श्री उदयनाचार्य का स्थान है । बौद्ध दार्शनिकों ने जिस प्रकार वाचस्पति मिश्र से पूर्वनैयायिक विद्वानों की आलोचना की उसी प्रकार तात्पर्यटीका की आलोचना बौद्ध आचार्य कल्याणरक्षित एवं धर्मोत्तराचार्य आदि प्रमुख तार्किकों ने की । जिनका उत्तर देने के लिए उदयनाचार्य ने तात्पर्य टीका पर "न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीकापरिशुद्धि" नामक व्याख्या लिखी ।

न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र के पारद्रष्टा सुधी व्यक्तित्व उदयनाचार्य का जन्म दशवीं ख्रीष्ट शताब्दी की उस सन्धि वेला में हुआ था, जहाँ प्राचीन न्याय संवरण की ओर अग्रसर हो रहा था । यदि गङ्गेशोपाध्याय नव्यन्याय के प्रभात थे तो उदयन उषःकाल । उदयन को ही नव्यन्याय के उस उषोदय का श्रेय प्राप्त है, जहाँ रजनी का विश्राम और प्रभात का नयनाभिराम प्रभोन्मेष विद्यमान था । उसके साथ ही उन्होंने न्याय एवं वैशेषिक दर्शन का समन्वय करके एक अभिनव किरणप्रकाश के द्वारा सुधीजगत् को समुद्भासित कर दिया । दूसरी ओर उच्छ्वसित बौद्ध धर्म के प्रति गतास्थप्राय भारतीय जनता की मनोभूमि को बौद्ध-

धिक्कार {आत्मतत्वविवेक} से परिष्कृत कर उसके हाथ में "न्याय-कुसुमाञ्जलि" का संबल दिया ।[1] उदयन युगपुरुष थे । म0म0गङ्गेशोपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्यन्याय के बीजवपन का कार्य उदयनाचार्य ने सम्पन्न कर दिया था । इनका जन्म मिथिला में दरभङ्गा से 20 मील उत्तर की ओर कमला नदी के पूर्वी तट पर स्थित "मणरोणी" नामक ग्राम में एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था ।[2]

इनकी कृति न्याय-कुसुमाञ्जलि" में ईश्वरसिद्धि का सफल और स्तुत्य प्रयास किया गया है । इनकी यह रचना बौद्ध दार्शनिक श्री कल्याणरक्षित {829वि0} की ईश्वरभङ्गकारिका" के उत्तर के रूप में हुई है ।"आत्मतत्वविवेक" की रचना कल्याणरक्षित की "अन्यापोहविचारकारिका" और "श्रुतिपरीक्षा"तथा धर्मोत्तराचार्य {847वि0} के "अपोहनाम प्रकरण" एवं "क्षणभङ्गसिद्धि" के उत्तर रूप में हुई है । कल्याणरक्षित ने "अन्यापोहविचारकारिका" में क्षणभङ्ग का समर्थन तथा "श्रुतिपरीक्षा" में श्रुति को अप्रमाणित सिद्ध करने का प्रयास किया था । उदयन ने बौद्धों के उक्त सिद्धान्तों के खण्डन तथा न्यायसम्मत आत्मा एवं श्रुति के समर्थन के लिए "आत्मतत्त्वविवेक" जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की है ।

1- बृहस्पतिसुतः श्रीमान् भुवि विख्यातमङ्गलः ।धर्मसंस्थापनार्थाय बौद्धविध्वंसहेतवे। ख्यात उदयनाचार्यो बभूव शङ्करो यथा। ब्रह्मतत्त्वप्रकाशाय चकार कुसुमाञ्जलि

भादुणी वंशावली

2- भगवानपि तत्रैव मिथिलायां जनार्दनः श्रीमदुदयनाचार्यरूपेणावतार ।।

भक्तिमाहात्म्य ।

पाँच अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम चार अध्यायों में क्रमशः क्षणभङ्ग, बाह्यार्थभङ्ग, गुणगुणीभेदभङ्ग तथा अनुपलम्भ की आलोचना एवं अन्तिम अध्याय में शाश्वत आत्मा की सिद्धि की गई है।

आचार्य उदयन ने "परिशुद्धि" "न्याय-कुसुमाञ्जलि" एवं आत्म-तत्वविवेक ग्रन्थों के अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन के "प्रशस्तपादभाष्य" पर "किरणावली" टीका भी लिखी है।[1] "लक्षणावली एवं "न्याय-परिशिष्ट" भी इन्हीं की रचनायें हैं

आचार्य उदयन की जन्मतिथि लक्षणावली के आधार पर शक संवत् 906 एवं तदनुसार 984 एवं 1041 वि0संवत् निश्चित है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य दशम शताब्दी में मौजूद थे।

न्याय-मञ्जरी - (जयन्तभट्ट)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्री जयन्तभट्ट का जन्मकाल उनके पुत्र अभिनन्द द्वारा विरचित "कादम्बरी कथासार" नामक ग्रन्थ के आधार पर लगभग

1- औदुम्बरिरुदयनस्तस्मात्: सुखाय हितकारिणीम् ।
व्यातेने विदुषां प्रीत्यै विमलां किरणावलीम् ।।
अद्यापि मिथिलायास्तु तदन्वयभवा द्विजाः ।
विद्वांसः शास्त्रसम्पन्नाः पाठयन्ति गृहे-गृहे ।। भक्ति माहात्म्य ।

2- तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ।।

लक्षणावली ।

नवीं शताब्दी का पूर्वकाल ही प्रतीत होता है । न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के अन्दर वाचस्पतिमिश्र तथा आनन्दवर्धन के उल्लेख के आधार पर इनका अस्तित्व एवं स्थितिकाल 9वीं शताब्दी मालूम होती है ।

जयन्तभट्ट न्यायशास्त्र के ख्यातिप्राप्त एक बहुत ही बड़े विद्वान् थे । इन्होंने न्यायसूत्रों पर कोई क्रमिक व्याख्या नहीं लिखी, किन्तु न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट पदार्थों के क्रम का अनुसरण करके न्याय के सभी मन्तव्यों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है जो न्यायमञ्जरी के नाम से प्रसिद्ध है । उसका प्रमाण प्रमेयादि प्रकरणों में विभाजन किया गया है, तथा न्याय-दर्शन के आवश्यक सूत्रों का उल्लेख करते हुए प्रत्येक मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है । जयन्तभट्ट नवीनशैली के प्रवर्तक दार्शनिक हैं । उनके विवेचन में सूक्ष्मता है, गहनता है, साथ ही स्पष्टता भी है । सरल, सुबोध, काव्यमयी प्राञ्जल भाषा में दर्शन के गहन मन्तव्यों का विवेचन करना उनकी निजी विशेषता है । न्यायमञ्जरी में न्याय के मन्तव्यों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है । अन्य मतों की समीक्षा करते हुए न्याय के मतों की स्थापना की गई है । न्याय के एकदेशी सिद्धान्ती मतों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । वस्तुतः न्याय-मञ्जरी न्याय-सम्प्रदाय का एक मौलिक शोधग्रन्थ है, जो न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय में स्वतन्त्र रचना का मार्ग प्रशस्त करता है ।

श्री जयन्तभट्ट के विषय में एक यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि न्यायमञ्जरी का लेखनकार्य श्री जयन्त ने किसी निःशब्द बन्धनस्वरूप स्थान में राजा

की तरफ से रखे जाने के पश्चात् ही किया है जैसा कि न्यायमन्जरी से भी ज्ञात होता है ।[1]

वह बन्धनस्वरूप स्थान राजा की तरफ से बनवाया हुआ कोई माकान विशेष हो अथवा ऐकान्तिक शास्त्रीय विचारों के सम्पादन के लिए महाराज की तरफ से सङ्केतित साधनसम्पत्तिभूत कोई आरण्यक स्थान विशेष ही हो जो कि श्री जयन्तभट्ट के लिए बन्धनभूत प्रतीत होता हो, जहाँ पर रहकर उन्होंने ग्रन्थरचनासम्बन्धी विनोद के आधार पर ही अपने दिन गुजारे हों, अथवा हो सकता है कि कारागारस्वरूप बन्धन में रहकर ही श्री जयन्तभट्ट ने अपने ग्रन्थ-लेखन जन्य विनोद से ही दिन गंवाये हैं ।

श्री जयन्त गौड़देशवासी होने के नाते गौड़ ब्राह्मण थे । इनका गोत्र भारद्वाज था । ये काश्मीर देशवासी एवं परमशिवभक्त होने के कारण कट्टर शैव थे । इनके पूर्वज लोग अङ्ग देश के निवासी रहे-ऐसा सुनने में आता है । इनके प्रपितामह शक्तिस्वामी अङ्गदेश से काश्मीर में आकर पश्चिम देशवासी बने । यहाँ आने के पश्चात् आप काश्मीर देश के मुक्तापीड महाराज जिनका दूसरा नाम ललितादित्य था, के यहाँ प्रधानमन्त्री हुए । श्री शक्तिस्वामी महान् त्यागी तथा एक आदर्श पुरुष थे । ये श्री जयन्तभट्ट के पिता जो चन्द्रप्रकाश थे,उनके पितामह थे । इस प्रकार शक्तिस्वामी की चौथी पीढ़ी में श्री जयन्तभट्ट पैदा हुए-ऐसा मालूम पड़ता है ।

1- राजा तु गह्वरेऽस्मिन् न शब्दके बन्धने विनिहितोऽहम् ।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः ।।
न्या०म०

यद्यपि उदयनाचार्य के बाद न्यायसूत्रों की जो टीका-प्रटीका की पद्धति थी, वह समाप्त हो गई, परन्तु प्राचीन पद्धति से न्यायसूत्रों के ऊपर स्वतन्त्र वृत्ति आदि की रचना लगभग सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही । इस बीच में प्राचीन न्याय के जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसकी सूची नीचे दी जा रही है -

प्राचीन न्याय

ग्रन्थ	लेखक	समय
न्याय-सूत्र	गौतम अक्षपाद	200 ई0
न्याय-भाष्य	वात्स्यायन	200 ई0
न्यायवार्तिक	उद्योतकर	635 ई0
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र	841 ई0
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि,	उदयनाचार्य	984 "
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	1000"
न्यायनिबन्धप्रकाश	वर्धमान	1225"
न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	-
न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पतिमिश्र(द्वितीय)	1450"
न्यायरहस्य	रामभद्र	1630"
न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	1634"
न्यायसंक्षेप	गोविन्द शर्मा	1650"
न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	1700"

न्याय दर्शन का नवीन उत्कर्ष

नव्यन्याय -

भारत में बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ, जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति के अन्य भागों की भाँति दार्शनिक क्षेत्र पर भी पड़ा और न्याय-साहित्य के निर्माण में उसने एक नवीन प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न कर दिया । दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियाँ इस परिवर्तन की सङ्क्रान्ति काल थीं । बारहवीं शताब्दी में जिस न्याय का निर्माण हुआ, उसमें प्राचीन न्याय से दो विशिष्टताएं होने के कारण ही इस नये न्याय साहित्य को नव्यन्याय की संज्ञा प्रदान की गई । इनमें प्रथम विशेषता यह है कि पुराने न्याय में लिखे जाने वाले न्यायसूत्र एवं उसका भाष्य तथा उनपर लिखी गई टीका प्रटीकाओं की क्रमबद्धता के स्थान पर इस युग में प्राचीन न्याय में प्रतिपादित पदार्थों पर क्रमबद्ध टीकाएं न लिखकर उन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण किया गया । यद्यपि इस प्रकार के ग्रन्थ "न्यायकुसुमाञ्जलि" एवं " आत्मतत्त्वविवेक" की तरह से अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना पहले भी की जा चुकी थी, परन्तु नव्यन्याय के समय में लिखे गये ग्रन्थों की लेखनशैली उन ग्रन्थों की लेखन शैली से भिन्न थी । यही शैली बाद में व्याकरणादि साहित्य लेखन में भी अपनायी गयी । जो प्राचीन साहित्य से अपने आप को अलग करके नव्य साहित्य के रूप में अपनी पृथक् पहचान बनाती है । जैसे कि प्राच्य व्याकरण एवं नव्य व्याकरण, प्राचीन वेदान्त एवं नवीन वेदान्त आदि ।

नव्यन्याय की दूसरी विशेषता प्रतिपाद्य विषयवस्तु के परिवर्तन के रूप में देखने को मिलती है । जिन पदार्थों को प्राचीन काल में अधिक महत्त्व दिया जाता था । उन पदार्थों का वर्णन नव्य न्याय के अन्दर गौण हो गया । जैसे कि न्यायसूत्रकार ने अपने न्यायसूत्र का पाँचवा अध्याय केवल "जाति और निग्रहस्थान" के विवेचन में व्यय किया है जब कि नव्यन्याय में उनका केवल नामोल्लेख मात्र किया गया । तथा अवयव आदि के वर्णन में जो कि प्राचीन न्याय में उपेक्षित था अधिक महत्त्व दिया गया है ।

12वीं शती में गङ्गेशोपाध्याय नामक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् का मिथिलान्तर्गत मधुबनी के पास मंगरोनी गाँव में जिसका प्राचीन नाम "मङ्गलवनी" था, में उदय हुआ । उन्होंने न्यायाभिमत प्रमाणचतुष्टय को लेकर क्रमबद्ध तत्त्वचिन्तामणि नाम के एक प्रौढ ग्रन्थ का प्रणयन किया । यद्यपि भासर्वज्ञ के द्वारा इस क्रम से न्याय का विवेचन किया जा चुका था । फिर भी गङ्गेश की विवेचना पद्धति भासर्वज्ञ की विवेचना पद्धति से विलक्षण, उत्कृष्ट, परिष्कृत एवं परिमार्जित थी, क्योंकि उसमें विशेष पदावली का प्रयोग करके विवेचन के याथातथ्य पर अधिक बल दिया गया था । इनकी विवेचन पद्धति में व्याप्ति आदि के स्वरूप पर गहन विचार करने का प्रयास किया गया था । अतएव नव्यन्याय साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व गङ्गेशोपाध्याय एवं उनकी कृति तत्त्वचिन्तामणि को दिया जाता है । कुछ विद्वानों के द्वारा तो तत्वचिन्तामणि को नव्यन्याय का आधारभूत ग्रन्थ एवं गङ्गेशोपाध्याय को नव्यन्याय का पिता कहा गया है ।

नव्यन्याय में प्रमाण के अन्तर्गत ही न्याय-वैशेषिक के तत्त्वों का विवेचन किया गया है, फिर भी नव्यन्याय की अपनी निजी विशेषताएं हैं। शैलीगत विशेषताओं के अतिरिक्त इसमें तर्क की प्रधानता है। प्रमाण विवेचन को दर्शन का साध्य मान लिया गया है तथा तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य गौण हो गया है। यद्यपि तत्त्वचिन्तामणि आदि में मुक्ति का विशद विवेचन किया गया है तथापि नव्यन्याय के अध्ययन की दृष्टि से निरूपण गौण ही है। वस्तुतः नव्यन्याय सच्चे अर्थों में तर्कशास्त्र कहा जा सकता है। शास्त्रार्थ के लिए या शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिए यह शैली विशेष महत्त्व की है। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि तत्त्वविवेचन की दिशा में न्या०वै० की गति अवरुद्ध हो गई, प्राचीन न्या०वै० के ग्रन्थों का पठन-पाठन कुछ समय के लिए समाप्त हो गया।

"तत्त्वचिन्तामणि" अपने निर्माणकाल से ही मैथिल सम्प्रदाय की शिक्षा का चरम उद्देश्य बन गया। वहाँ वर्धमानोपाध्याय, पक्षधरमिश्र तथा वासुदेवमिश्र आदि अनेक विद्वानों ने इस धारा को आगे बढ़ाया। मिथिला के विद्वानों ने नव्यन्याय को मिथिला में ही सुरक्षित रखा। उन्हें इसका मिथिला से बाहर जाना अभिमत नहीं था। केवल इस ग्रन्थ का पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए वहाँ के लोग अपने जीवन के 12 वर्ष प्रसन्नतापूर्वक व्यय कर सकते थे और उसमें गौरव का अनुभव करते थे। आगे चलकर 16वीं शताब्दी में वासुदेव सार्वभौम ने जो पक्षधरमिश्र के शिष्य थे, मिथिला में नव्यन्याय का अध्ययन करने के बाद बङ्गाल के प्रधान विद्यापीठ नवद्वीप जिसकी स्थापना 1503 में हुई थी, में इस तत्त्वचिन्ता-

मणि का प्रचार किया । तत्पश्चात् रघुनाथ शिरोमणि आदि के द्वारा सारे बङ्गाल में इसका प्रचार हो गया । तभी से "नवद्वीप" और "मिथिला" यह दोनों नव्यन्याय के प्रधान केन्द्र रहे, और आज भी इन दोनों विद्यापीठों को अपने नव्यन्याय के पाण्डित्य पर गर्व करने का उचित अधिकार है ।

तत्त्वचिन्तामणि एक विशाल ग्रंथ है इसके चार खण्डों में प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का एक-एक खण्ड में क्रमशः विवेचन किया गया है । सम्पूर्ण संसार के सारे दार्शनिक ग्रन्थों में जितनी टीकाएं इस ग्रन्थ की हुई हैं उतनी किसी दूसरे ग्रन्थ की नहीं हुई है । श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है कि यह तत्त्वचिन्तामणि का मूल ग्रन्थ लगभग 300 पेज का है जब कि इसकी सभी टीकाओं की कुल सम्मिलित पृष्ठ संख्या लगभग दस लाख से ऊपर है । इतनी अधिक टीकाएं विश्वसाहित्य के विरले ग्रन्थ पर ही मिल सकेंगी ।

जैसे कि अभी कहा जा चुका है कि "मिथिला" और "नवद्वीप" यह दो स्थान नव्य न्याय के प्रधान केन्द्र रहे हैं । वहीं के विद्वानों के द्वारा इस पर टीका प्रटीका लिखकर इसका इतना वृहद रूप प्रदान किया गया है । जिन विद्वानों के द्वारा इस नव्यन्याय का विस्तार किया गया है, उनकी नामावली, काल तथा ग्रन्थ आदि का विवरण दोनों शाखाओं के हिसाब से अलग अलग नीचे दिया जा रहा है -

नव्यन्याय की मैथिल शाखा का विकास

क्र०सं०	नाम	समय	ग्रन्थ
1-	गङ्गेशोपाध्याय	1200	तत्त्वचिन्तामणि
2-	वर्धमानोपाध्याय	1250	1- तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश
			2- न्यायनिबन्ध प्रकाश (न्या०वा०ता०परि०कीटीका)
			3- न्याय परिशिष्ट प्रकाश (न्या०प०की टीका)
			4- प्रमेय निबन्ध प्रकाश
			5- किरणावली प्रकाश
			6- न्याय-कुसुमाञ्जलि प्रकाश
			7- न्याय लीलावती प्रकाश
			8- खण्डन खण्ड प्रकाश
3-	पक्षधर मिश्र (जयदेव)	1275	1- तत्त्वचिन्तामणि आलोक
			2- द्रव्य पदार्थ
			3- लीलावती विवेक
4-	वासुदेव मिश्र	1275	तत्त्वचिन्तामणि टीका
5-	रुचिदत्त मिश्र	1275	1- तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश
			2- न्याय-कुसुमाञ्जलि प्रकाश-मकरन्द

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
6-	भगीरथ मेघ ठक्कुर	1400	1- जलद(कुसुमाञ्जलि प्रकाश कीटीका)
			2- किरणावली प्रकाश प्रकाशिका की टीका
			3- लीलावती प्रकाश व्याख्या कीटीक
7-	महेश ठक्कुर	1400	पक्षधर मिश्र की आलोक पर दर्पण टीका
8-	शङ्कर मिश्र	1450	1- आत्मतत्त्वविवेक कल्पलता
			2- खण्डनखण्डखाद्य की टीका
			3- तत्त्वचिन्तामणि मयूख
			4- त्रिसूत्री निबन्ध व्याख्या
			5- भेदरत्न प्रकाश(शाङ्करवेदान्त का खण्डन)
			6- गौरी दिगम्बर प्रहसन
			7- वैशेषिक सूत्रोपस्कार
			8- बौद्ध धिक्कार टीका
			9- अभेद धिक्कार(शङ्करका खण्डन)
			10- न्यायलीलावती कण्ठाभरण
9-	वाचस्पतिमिश्र(द्वितीय)	1450	1- अनुमानखण्डटीका(त0चि0कीटीका)
			2- खण्डन खण्डोद्धार
			3- न्याय-सूत्रोद्धार
			4- शब्द निर्णय

क्र०सं०	नाम	समय	ग्रन्थ
10-	निसरू मिश्र	1475	पदार्थचन्द्र
11-	दुर्गादत्त मिश्र	1550	न्यायबोधिनी
12-	देवनाथ ठक्कुर	1562	तत्त्वचिन्तामण्यालोक-परिशिष्ट
13-	मधुसूदन ठक्कुर	1575	तत्वचिन्तामण्यालोक कण्टकोद्धार

नव्यन्याय की नवद्वीप शाखा का विकास

1-	वासुदेव सार्वभौम	1550	
2-	रघुनाथ शिरोमणि	1600	1- तत्त्वचिन्तामणिदीधिति
			2- बौद्ध धिक्कार शिरोमणि
			3- पदार्थतत्त्वनिरूपण
			4- किरणावली प्रकाश दीधिति
			5- न्यायलीलावती प्रकाश दीधिति
			6- अवच्छेदकत्वनिरुक्ति
			7- खण्डनखण्डखाद्य-दीधिति
			8- आख्यातवाद
			9- नञ्वाद
3-	हरिदास न्याया-लङ्कार भट्टाचार्य	1600	1- न्याय कुसुमाञ्जलि कारिका व्याख्या
			2- तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश
			3- भाष्यालोक टिप्पणी

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
4-	जानकीनाथशर्मा	1600	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी
5-	कणाद तर्कवागीश	1610	1- मणि व्याख्या
			2- भाषा रत्न
			3- अपशब्द खण्डन
6-	रामकृष्णभट्टाचार्य	1625	1- गुणशिरोमणि प्रकाश
			2- न्याय दीपिका
7-	मथुरानाथ तर्कवागीश	1625	1- तत्त्वचिन्तामणिरहस्य
			2- तत्त्वचिन्तामणि आलोक रहस्य
			3- दीधितिरहस्य
			4- सिद्धान्तरहस्य
			5- किरणावलीप्रकाशरहस्य
			6- न्यायलीलावतीप्रकाशरहस्य
			7- न्यायलीलावती दीधिति रहस्य
			8- बौद्धधिकार रहस्य
			9- आदिक्रियाविवेक
			10- आयुर्वेदभावना
8-	कृष्णदास सार्वभौम भट्टाचार्य	1625	1- तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रसारिणी
			2- अनुमानालोक प्रसारिणी

क्र०सं०	नाम	समय	ग्रन्थ
9-	गुणानन्द विद्यावागीश	1625	1- अनुमानदीधितिविवेक
			2- आत्मतत्वविवेक दीधिति टीका
			3- गुणविवृत्तिविवेक
			4- न्याय-कुसुमाञ्जलिविवेक
			5- न्यायलीलावतीप्रकाशदीधितिविवेक
			6- शब्दालोक विवेक
10-	भवानन्द सिद्धान्त वागीश	1625	1- तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशिका
			2- प्रत्यक्षालोकसारमञ्जरी
			3- तत्त्वचिन्तामणिटीका
11-	हरिराम तर्कवागीश	1625	1- तत्त्वचिन्तामणि टीका विचार
			2- आचार्यमतरहस्यविचार
			3- रत्नकोशविचार
			4- स्वप्रकाशरहस्यविचार
12-	रामभद्र सार्वभौम	1630	1- दीधिति टीका
			2- न्यायरहस्य
			3- गुणरहस्य
			4- न्याय-कुसुमाञ्जलिकारिका व्याख्या
			5- पदार्थविवेकप्रकाश
			6- षट्चक्रकर्मदीपिका

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
13	जगदीशतर्कालङ्कार	1630	1- त0चि0दीधितिप्रकाशिका [जगदीशी]
			2- त0 चि0 मयूख
			3- न्यायादर्श या न्यायलारावली
			4- शब्दशक्ति प्रकाशिका
			5- तर्कामृत
			6- पदार्थतत्त्वनिर्णय
			7- न्यायलीलावती दीधिति व्याख्या
14-	राजचूडामणि मखी	1630	तत्त्वचिन्तामणिदर्पण
15-	विश्वनाथसिद्धान्त पञ्चानन	1634	1- नञ्वाद टीका
			2- न्यायसूत्रवृत्ति
			3- सुबर्थतत्त्वालोक या कारकचक्र
			4- पदार्थ तत्त्वालोक
			5- न्यायतन्त्रबोधिनी
			6- भाषापरिच्छेद
			7- पिङ्गल प्रकाश
16-	रुद्रन्यायवाचस्पती	1650	1- तत्त्वचिन्तामणि दीधितिपरीक्षा
			2- किरणावलीप्रकाशवृत्तिपरीक्षा
			3- पदार्थखण्डनव्याख्या
17-	गोविन्दन्यायवागीश	1650	1- न्यायसंक्षेप
			2- पदार्थखण्डनव्याख्या

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
18-	रघुदेव न्यायालङ्कार	1650	1- तत्त्वचिन्तामणि गूढार्थदीपिका
			2- दीधिति टीका
			3- न्या0कुसु0कारिका व्याख्या
			4- द्रव्यसारसङ्ग्रह
			5- पदार्थखण्डनव्याख्या
19-	गदाधर भट्टाचार्य	1650	1- त0 चि0 दीधितिप्रकाशिका
			2- त0 चि0 व्याख्या
			3- त0 चि0 आलोकटीका
			4- मुक्तावली टीका
			5- रत्नकोषवादरहस्य
			6- अनुमानचिन्तामणिदीधितिटीका
			7- आख्यातवाद
			8- प्रामाण्यवाददीधितिटीका
			9- शब्दप्रामाण्यवादरहस्य
			10- बुद्धिवाद
			11- मुक्तिवाद
			12- विधिवाद
			13- विषयतावाद
			14- व्युत्पत्तिवाद
			15- शक्तिवाद

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
20-	श्रीकृष्णन्यायालङ्कार	1650	भावदीपिका (न्यायसिद्धान्त मञ्जरी की टीका)
21-	धर्मराजाध्वरीण	1650	तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशटीका
22-	गोपीनाथ मौनी	1650	1- शब्दालोकरहस्य
			2- उज्ज्वला (तर्कभाषा टीका)
			3- पदार्थविवेकटीका
23-	रामभद्रसिद्धान्तवागीश	1660	सुबोधिनी (शब्दशक्ति प्र0की टीका)
24-	नृसिंह पञ्चानन	1675	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी भूषा
25-	जयराम न्यायपञ्चानन	1700	1- त0चि0दी0गूढार्थविद्योतन
			2- त0 चि0आलोकविवेक
			3- न्यायसिद्धान्तमाला
			4- शब्दार्थमाला
			5- गुणदीधितिविवृत्ति
			6- न्यायकुसुमाञ्जलिकारिका व्याख्या
			7- पदार्थमणिमाला
			8- काव्यप्रकाशतिलक
26-	रामदेव चिरञ्जीव	1700	1- विद्वदामोदतरङ्गिणी (

क्र0सं0	नाम	समय	ग्रन्थ
27-	रामभद्र तर्कवागीश	1700	1- तत्त्वचिन्तामणिदीधिति टीका
			2- व्याप्तिवादव्याख्या
			3- दिनकरीयप्रकाशतरङ्गणी
			4- तत्त्वसङ्ग्रहदीपिका
			5- सिद्धान्त मुक्तावली टीका
28-	जयराम तर्कालङ्कार	1700	शक्तिवाद टीका
29-	गौरीकान्त सार्वभौम	1725	1- भावार्थदीपिका (तर्कभाषा की टीका)
			2- सद्युक्तिमुक्तावली
30-	रुद्रराम	1750	1- वादपरिच्छेद
			2- व्याख्या व्यूह
			3- चित्तरूप
			4- अधिकरण चन्द्रिका
			5- वैदिक शास्त्रीय-पदार्थनिरूपण
31-	कृष्णकान्त विद्या-वागीश	1780	1- न्यायरत्नावली
			2- दायभागटीका
			3- गोपाल लीलामृत
			4- चैतन्य चन्द्रामृत
			5- उपमान चिन्तामणि टीका
			6- शब्दशक्ति प्रकाशिका टीका

क्र०सं०	नाम	समय	ग्रन्थ
32-	कृष्णभट्ट आडे	1790	गदाधरीफक्किका
33-	महादेव उत्तमकर	1790	व्याप्ति रहस्यटीका
34-	रघुनाथ शास्त्री	1875	गदाधारीयपन्चवाद टीका

वैशेषिक दर्शन

न्यायशास्त्र की उत्पत्ति एवं उसके विकास का विवेचन करने के बाद अब वैशेषिक दर्शन के जन्म एवं उसके विकास का विवेचन करना चाहिए । जिस प्रकार न्यायदर्शन के प्रतिष्ठापक के रूप में गौतम अक्षपाद एवं मेधातिथि आदि अनेक नाम संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के प्रतिष्ठापक के रूप में भी कोई एक नाम नहीं अपितु बहुत सारे नाम हमारे सामने उपस्थित होते हैं जैसे कि कणाद, काश्यप, औलूक, औलूक्य एवं उलूक । परन्तु ये सारे सम्बोधन सम्भवतः एक ही व्यक्ति के हैं । परन्तु विद्वान् लोग इस विषय में एकमत नहीं हैं कि इस वैशेषिक दर्शन के संस्थापक के ये सारे नाम कैसे पड़े ? कणाद औलूक्य आदि नाम पड़ने के विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं । कणाद नाम पड़ने के विषय में व्योमशिव ने कणाद शब्द की सप्रमाण व्युत्पत्ति करने का प्रयास किया है ।[1] इसी तरह की एक प्रसिद्धि चीन के एक ग्रन्थ से भी कणाद या उलूक के विषयमें प्राप्त होती है।[2]

1- कणानत्तीति कणादस्तमिति विशिष्टाहारनिमित्तसंज्ञोपदर्शनेनासम्बोध-निरासः । तद्व कणान्त्वा भक्षयेत्काम माहिषाणि दधीनि चेत्यादियुक्ति-युक्तम् ।

व्योमवती पृ0 20§ग§

2- वैशेषिक फिलासफी -पेज-5

श्रीधराचार्य ने भी कणाद नाम के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं।[1]

परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि इनके सिद्धान्त परमाणुवाद के आधार पर इनका नाम कणाद पड़ा है। वे इस तर्क के समर्थन में अपने ढंग से "कणाद" शब्द की व्युत्पत्ति दिये हैं।[2] यद्यपि बौद्ध तथा जैन दर्शनों में भी अणु के विषय में विचार व्यक्त किये गये हैं परन्तु यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि अणुवाद वैशेषिक दर्शन की ही विशेषता है। यह बादरायणसूत्र[3] तथा धर्मोत्तरकृत न्यायबिन्दु टीका[4] के बल पर भी प्रमाणित किया जा सकता है।

व्योमशिवाचार्य ने कुछ व्युत्पत्तियों का अपने व्योमवती में निरास भी किया है।[5]

1- कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतो रथ्यानिपतितास्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा। अतएव "निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु" इत्युपालम्भस्तत्रभवताम्।
न्याय कन्दली पृ० 4

2- कणान् परमाणून् अत्ति सिद्धान्त्वेन आत्मसात्करोतीति कणादः।
वैशेषिक फिलासफी पेज 6 (चौखम्बा प्रकाशन)

3- ब्रह्मसूत्र 2/2-11

4- न्यायबिन्दु पृ० 348

5- अन्ये त्वसद्बोधनिरासार्थं कणान्ददातीति दयत इति वा व्युत्पत्त्यन्तरमाश्रियन्ते। अत्र किल वैशेषिकसूत्ररचनाकरणेत्युच्यते इति। चिन्त्यमेतत्। प्रसिद्धपरिज्ञानपरिहारार्थं चोपात्तमिति अलं असद्व्याख्यानैरिति।
व्योमवती पृ० 20 (अ)

अतएव उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि "कणाद" संज्ञा उनके आचार अथवा सिद्धान्त से सम्बन्धित है न कि यह वैशेषिक सूत्रकार का वास्तविक नाम है । इसी लिए इनको कहीं-कहीं कणभुक् कणभक्ष एवं कणव्रत आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है ।

पदार्थ धर्मसङ्ग्रह एवं किरणावली में इन्हें काश्यप कहा गया है । ऐसा मालूम होता है कि इनके कश्यप गोत्र में पैदा होने से गोत्र नाम के आधार पर इन्हें "काश्यप" कहा गया है । इस बात का समर्थन चन्द्रकान्तीय वैशेषिक भाष्यभूमिका को देखकर भी किया जा सकता है । उसमें लिखा हुआ है कि "स चाऽयं महर्षिः कश्यपस्य गोत्रापत्यम् । विरुद्धासिद्ध संदिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत इत्यादो काश्यपतयाऽस्योल्लेखात् ।"

वायुपुराण में इन्हें प्रभास क्षेत्रवासी सोमशर्मा का शिष्य और भगवान शङ्कर का सत्ताइसवां अवतार एवं परम शैव बतलाया गया है ।[1] जिसका उल्लेख पीछे कणाद के प्रकरण में किया जा चुका है ।

वैशेषिक सूत्रकार के "उलूक" नाम पड़ने के कारण के विषय में भी विद्वानों में काफी मतभेद है । डॉ० उई ने कहा है कि "चित्सान" के अनुसार इनका उलूक नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि ये उलूक के समान रात्रि में जीविकोपार्जन

1- तर्कभाषा इंट्रोडक्शन पेज 5

हेतु घूमा करते थे ।[1] परन्तु व्योमशिवाचार्य ने तो इस विषय में कुछ नहीं कहा कि इनको उलूक क्यों कहा जाता था, जब कि ये भी वैशेषिक सूत्रकार को उलूक की संज्ञा अवश्य देते हैं ।[2] यही बात नैषधीय चरित के व्याख्याकार नारायणभट्ट के साथ भी घटित होती है क्योंकि ये उलूक को कणाद का पर्याय मात्र मानते हैं।[3] वाचस्पत्यम् में कहा गया है कि ये उलूक कणाद उलूक ऋषि की सन्तान है । अतएव इन्हें औलूक्य कहा जाना ठीक ही है । जब कि जैनाचार्य अभयदेव सूरि[4] एवं उदयनाचार्य[5] ने भी इसी मत का अनुमोदन किये हैं । जैन विद्वान् राजशेखर ने तो यहाँ तक कहा है कि चूंकि कणाद को वैशेषिक शास्त्र का उपदेश उलूकरूपधारी शङ्कर से मिला है, अतएव इनको उलूक तथा इनके शास्त्र को औलूक्य कहा गया है।[6]

1- वैशेषिक फिलासफी, पेज 3

2- अन्ये तु धर्मैः सह धर्मिणः उद्देशः कृतः । केनेति ? विना पक्षिणोलूकेन ।

व्योमवती पृ0।14

3- वैशेषिकमपि उलूकापरनाम्ना कणादमुनिना प्रोक्तम् ।

नैषधीयचरितप्रकाश 22/36

4- एतदेवोक्तम् भगवता परमर्षिणा औलूक्येन ।

सम्मतितर्क व्याख्या पृ0।40

5- स्मयति हि कणादो मुनिः महेश्वरनियोगप्रसादवधिगम्य शास्त्रं प्रणीतवान्।

किरणावली पृ04।-।40

6- मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्मसामान्य-विशेषसमवायलक्षणं पदार्थषट्कम् उपदिदेश ।

न्यायलीलावती भूमिका पृ02 में उद्धृत

इसी प्रकार की एक उक्ति चीनी ग्रन्थ से भी प्राप्त होती है ।[1] सर्वदर्शनसङ्ग्रह में भी इस दर्शन को औलूक्य दर्शन कहा गया है ।[2] न्यायबिन्दु टीका में इस दर्शन के आचार्यों को उनके परमाणुवाद के आधार पर पैलव कहा गया है ।[3]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कणाद के दर्शन को काणाद, काश्यप औलूक, औलूक्य तथा पैलव आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है । परन्तु सब नामों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम वैशेषिक दर्शन ही है ।

वैशेषिक नामकरण का कारण -

काणाद दर्शन को वैशेषिक दर्शन क्यों कहा जाता है उसके उत्तर के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है । विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके नामकरण के आधार को सिद्ध करते हैं । चीनी विद्वान् की एक परम्परा के अनुसार विशिष्ट उपदेष्टा स्वरूप कणाद के द्वारा ही दर्शन का उपदेश होने के कारण इसको वैशेषिक नाम दिया गया ।[4] परन्तु डॉ0उई ने एक अन्य तथ्य को भी उजागर किया है । उनका कहना है कि "दशपदार्थशास्त्र" के प्रणेता आचार्य चन्द्र को भी विशेष उपदेशदायक कहा गया है ।[5] अतएव ऐसा जान पड़ता है कि

1- वैशेषिक फिलासफी पेज 6

2- इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसङ्ग्रहे औलूक्यदर्शनम् ।

सर्व0द0सं0औलूक्यदर्शन पृ0 384

3- "पैलुकेन कणादशिष्येण" न्याय बिन्दु टीका पृ0332

4- वैशेषिक फिलासफी पेज 5

5- वही0पृ0 ।

इन दोनों परम्पराओं की दृष्टि में वैशेषिक शब्द के मूलभूत "विशेष" शब्द से तात्पर्य "औदिक विशेष" है ; जैसा कि वैशेषिक सूत्र में भी कहा गया है ।[1] परन्तु डॉ० उई ने ही उन दोनों विवरणों में अपना असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा है कि यह जरूरी नहीं है कि वैशेषिकों की ही बुद्धि विशिष्ट हो ।[2] अतएव औदिक विशेष के आधार पर किसी सम्प्रदाय का नामकरण सर्वथा असङ्गत होगा। परन्तु चन्द्रकान्त के द्वारा लिखे गये चन्द्रकान्तभाष्य में कहा गया है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्त्वों के व्याख्यान होने से ही इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा है ।[3] डॉ० उई ने भी एक चीनी परम्परा का मत अपने वैशेषिक दर्शन में किया है ।[4] षड्दर्शन-समुच्चय की व्याख्या में मणिभद्रसूरि ने कहा है कि चूंकि नैयायिकों की अपेक्षा वैशेषिक दर्शन में द्रव्यगुणतत्त्व आदि के सिद्धान्तों में विशेष उत्कर्ष है इसलिए इसे वैशेषिक माना गया है ।[5] प्रो० उई ने एक अन्य चीनी परम्परा

1- सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।

वै०सू० 1/2/3

2- वैशेषिक फिलासफी, पेज 9

3- यदिदम् वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत्खलु तन्त्रान्तरात् विशेषस्यार्थस्य अभिधानात् ।

चन्द्रकान्तभाष्य-पृ05

4- वैशेषिक फिलासफी-पेज 5

5- नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामान्यादि विशिष्टमिति वैशेषिकम् ।

षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति पृ0-4

का उल्लेख किया है जिसके अनुसार काणाद शास्त्र को सांख्य शास्त्र से विशिष्टतर होने के कारण "वैशेषिक" के रूप में माना गया ।[1] नैषधीयचरित महाकाव्य के व्याख्याकार नारायण भट्ट ने द्रव्य, गुण आदि पदार्थों को ही विशेष मानकर इसके तत्त्वज्ञरूप में काणाद दर्शन को वैशेषिक दर्शन मान लिया है ।[2] परन्तु बहुत से विद्वानों का मत है कि इस दर्शन में "विशेष" नामक पदार्थ की नवीन अवधारणा के आधार पर इस दर्शन को "वैशेषिक" दर्शन कहा गया है ।[3] जिसका समर्थन आचार्य वल्लभ ने भी न्यायलीलावती में "श्लाघ्या विशेषस्थितिः" कहकर किया है ।[4] डॉ राधाकृष्णन् आदि अर्वाचीन विद्वान् भी इसी मत के समर्थक हैं ।[5] इस दर्शन को वैशेषिक कहलाने में एक यह भी कारण हो सकता है कि इस दर्शन में दो या दो से अधिक घटों के देखने से जो 'अयमेक:' "अयमेक:" इस अपेक्षाबुद्धि के आधार पर उत्पन्न होने वाली जो द्वित्व की उत्पत्ति है उसका प्रकार निरूपण इसी दर्शन में किया गया है । अतः यह भी सिद्धान्त अन्य दर्शनों की अपेक्षा विशिष्ट है, अतएव इस सिद्धान्त को मानने वाले वैशेषिक कहलाये हों । जैसा कि कहा गया है -

---

1- डॉ॰उई-वैशेषिक फिलासफी पेज-4

2- नैषधीयचरित प्रकाश 22/36

3- शास्त्रपार्थे वैशेषिकशब्दव्युत्पत्तिः विशेष पदार्थमिदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः ।
न्यायकोश ।

4- न्यायलीलावती -श्लोक-2

5- राधाकृष्णन-इण्डियन फिलासफी पेज 176
एवं डॉ॰उई-वैशेषिक फिलासफी पेज-7

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।

यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ।।

जब कि किरणावली प्रकाश में वर्धमान ने तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करने वालों को वैशेषिक कहा है ।[1]

वैशेषिक सूत्रों का समय

यद्यपि वैशेषिक दर्शन के छिटपुट चिह्न वेदों में भी उपलब्ध होते हैं तथापि इतिहासकारों का विचार है कि वैशेषिकदर्शन का क्रमबद्ध विकास उत्तरवैदिक युग में ही हुआ होगा । महाभारत के शान्तिपर्व में "वैशेषिक" शब्द का उल्लेख हुआ है ।[2] फिर भी उसके व्याख्याकारों के बीच इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि इस विशेष शब्द से अभिप्राय "काणाद दर्शन" अर्थ में हुआ है । अर्जुन मिश्र जो कि महाभारत के व्याख्याकारों में से एक हैं, ने ही अपने ग्रन्थ भारतार्थदीपिका में इस वैशेषिक शब्द को "काणाद दर्शन" के रूप में स्वीकार किया है ।[3]

1- विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः तेन व्यवहरतीत्यर्थः ।

किरणावली प्रकाश पृ०6 ।3 (एशियाटिक सोसाइटी- कलकत्ता)

2- यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा ।
यस्य नान्यः प्रवक्ताऽस्ति मोक्षे तदपि मे शृणु ।। महाभा०शान्तिपर्व अ 320 श्लो०22

3- वैशेषिकम्=पदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारा हेयोपादेयफलम् हेयोपादानाभ्यामात्म-तत्त्वविवेकफलं कणादप्रणीतशास्त्रम् । भारतार्थ दीपिका 320/22

परन्तु बाद में ये भी स्वमत में अरुचि दिखाते हुए "यद्वा विशेषाय प्रवृत्तं सांख्यपदेन प्रसिद्धमेव शास्त्रं वैशेषिकम्" ऐसा भी लिखा है । परन्तु महाभारत के उक्त श्लोक के पूर्व भी प्रथम तथा चतुर्थ श्लोकों में "छत्रादिषु विशेषेण मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः" तथा "जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्" कहकर जनक एवं सन्यासी के मध्य दार्शनिक प्रसङ्ग में "विशेष" शब्द साभिप्राय रखा गया है । अतः यह विचारणीय है कि इस प्रसङ्ग में जो "विशेष" शब्द है वह काणाद दर्शन के अर्थ में है अथवा सांख्य दर्शन के अर्थ में ।

वायु पुराण के महेश्वरावतारयोग नामक तेईसवें अध्याय में अक्षपाद, कणाद, उलूक तथा वत्स को सोमशर्मा का पुत्र बताया गया है ।[1] छब्बीसवें परिवर्त में वेदुत एवं आश्वलायन की उत्पत्ति तथा सत्ताइसवें परिवर्त में अक्षपाद, कणाद इत्यादि के जन्म का उल्लेख किया गया है । जातुकर्ण्य व्यास के काल में सोमशर्मा की स्थिति प्रभासतीर्थ में बतायी गई है । वायुपुराणानुसार जातुकर्ण्य व्यास सत्ताइसवें परिवर्त में तथा कृष्णद्वैपायन व्यास अट्ठाइसवें परिवर्त में हुए थे ।

1- सप्तविंशति में प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते ।
जातुकर्ण्यो यदा व्यासो भविष्यति तपोधनः ।।
तदाऽहं संभविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः ।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ।।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः ।
अक्षपादः कणादश्च उलूको वत्स एव च ।।

वायु०पुराण अ० 23

इस प्रकार आतुकर्ण्य व्यास के समय उत्पन्न सोमशर्मा के पुत्र कणाद द्वैपायन व्यास से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं ।

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के 263 वें अध्याय में दश ऋषियों को तामस कहा गया है, जिसमें महर्षिकणाद का भी नाम परिगणित किया गया है।[1] अतएव इन सभी विवेचनाओं से सिद्ध होता है कि कणाद की स्थिति पद्मपुराण, वायुपुराण एवं कृष्णद्वैपायनकृत महाभारत की रचना के समय से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है। रेण्डिल का कहना है कि वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी उल्लेख सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य के मिलिन्दपह्न में मिलता है ।[2] राजा मिलिन्द का समय 150 ई०पू० माना जाता है । गार्वे के मतानुसार वैशेषिक दर्शन को न्यायदर्शन से भी प्राचीनतर माना जाना चाहिए ।[3] डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास का कहना है कि चरक संहिता के

1- शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् ।
 येषां स्मरणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि ।।
 प्रथमं हि मया चोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् ।
 मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः प्रोक्तानि च ततः शृणु ।।
 कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
 गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै ।।
 पद्मपु०उत्तरखण्ड 263/66-68

2- रेण्डिले-इण्डियन लाजिक इन दि अरली स्कूल-पेज 12

3- [क] गार्वे - दि फिलासफी आफ एंसियंट इण्डिया पेज-20

 [ख] रेण्डिले-इण्डियन लाजिक इन अरली स्कूल-पी0177

पदार्थसम्बन्धी सिद्धान्त वैशेषिकपदार्थ विधा पर ही आधृत हैं ।[1] वे वैशेषिक सूत्रों की रचना बौद्ध दर्शन के आविर्भाव के पूर्व ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वैशेषिक सूत्रों में आत्मा सम्बन्धी कोई विवेचन नहीं हुआ है ।[2] उनका यह भी कहना है कि चूँकि कणाद धर्म की व्याख्या की प्रतिज्ञा करके अन्त में यह कहते हैं कि वैदिक-कर्मानुष्ठान से अदृष्ट की उत्पत्ति होने पर अभ्युदय होता है, अतएव इनका यह सिद्धान्त किसी अति प्राचीन मीमांसा प्रस्थान पर आधृत है ।[3] परन्तु डॉ०राधा-कृष्णन का कहना है कि धर्म शब्द का प्रयोग देखकर मीमांसा प्रस्थान का स्मरण करना युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि वैशेषिक सूत्रकार ने "धर्म" शब्द का प्रयोग निवर्तक धर्म के लिए किया है, मीमांसा प्रस्थान की तरह प्रवर्तक अर्थ में उनको अभीष्ट नहीं था ।[4] कुछ विद्वानों का कहना है कि सांख्य सूत्र के विवेचन के आधार पर कि "न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्" वैशेषिक दर्शन को सांख्य दर्शन से भी प्राचीनतम माना जाना चाहिए ।

इस प्रकार से वैशेषिक सूत्रों के समय के विषय में सभी विद्वान् मतैक्य नहीं हैं, अतएव वैशेषिक सूत्र की रचना का कोई निश्चित समय बतलाना कठिन है । फिर भी कुछ विद्वानों ने तर्क-वितर्क के आधार पर कुछ मत प्रस्तुत

1- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, वा0 I पेज 280

2- " " 281

3- वही पृ0 280

4- इण्डियन फिलासफी वा0 II पेज 179, पादटिप्पणी -2

किये हैं जो नीचे दिये गये हैं-

(1) जर्मन याकोबी ने न्याय सूत्र का समय 200 ई० से 500 ई० के बीच मानकर वैशेषिक सूत्रों को उससे कुछ प्राचीन माना है ।[1]

(2) डा० उई ने वैशेषिक सूत्रों का समय नागार्जुन से पूर्ववर्ती सिद्धकर 50 से 150 ई० के आस-पास सिद्ध किया है ।[2]

(3) म० म० डा०कुप्पू स्वामी शास्त्री जी ने ई० पूर्व चतुर्थ शतक के मध्य से भी पूर्व वैशेषिक सूत्रों की रचना को स्वीकार किया है ।[3] इनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि वैशेषिक सूत्रों की रचना ई० पू० प्रथम द्वितीय सदी तक हो चुकी थी ।

वैशेषिक सूत्रों का स्वरूप -

महर्षि कणाद के पश्चात् वैशेषिक दर्शन की परम्परा प्रशस्तपाद के अभ्युदय के पूर्व तक लगभग लुप्त हो जाने कारण उनके सूत्रों के स्वरूप के विषय में कोई ठीक-ठीक निर्णय नहीं लिया जा सकता । यहाँ तक कि सूत्रों की संख्या के विषय में भी सही जानकारी नहीं उपलब्ध हो पाती है, क्योंकि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उनके सूत्रों की संख्या भिन्न-भिन्न देखने को मिलती है । शङ्कर मिश्र ने

1- जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियन्टलसोसाइटी वा० XXX।

2- डा०उई वैशेषिक फिलासफी, पेज 65

3- प्राइमर आफ इंडियन लाजिक पेज XI। (इंट्रोडक्शन)

अपने उपस्कार में वैशेषिक सूत्रों की संख्या कुल मिलाकर 370 दर्शायी है, जब कि मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वैशेषिक दर्शन में इन सूत्रों की संख्या नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक 324 ही मिलती है। उसमें द्वितीय आह्निक नहीं मिलता है। यदि इस नवम अध्याय के प्रथम आह्निक के बाद शङ्कर मिश्र द्वारा दर्शाये द्वितीय आह्निक के सूत्रों की संख्या को जोड़ दिया जाय तो कुल मिलाकर सूत्रों की संख्या 353 ही हो पाती है। अतः मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वैशेषिक-सूत्र और शङ्कर मिश्र द्वारा सङ्कलित वैशेषिक सूत्र में नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक में भी सूत्रों की संख्या भिन्न पायी जाती है। बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्दवृत्ति के साथ प्रकाशित संस्करण में 384 सूत्र मिलते हैं। इस संस्करण की एक यह विशेषता है कि इसमें अष्टम नवम एवं दशम अध्यायों का अन्य अध्यायों की तरह दो-दो आह्निकों में विभाजन नहीं है।

वैशेषिक दर्शन का विकास

यद्यपि 'कणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' के अनुसार पदज्ञान के लिए जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र की शरण लेना अत्यावश्यक है, तद्वत् पदार्थ-ज्ञानहेतु महर्षि कणादविरचित वैशेषिक दर्शन का अध्ययन भी आवश्यक है। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कणाद के पश्चात् कणादशास्त्र लगभग लुप्त हो चुका था। उदयनाचार्य के उदय तक जितना न्यायदर्शन टीका-टिप्पणियों के द्वारा विकास को प्राप्त हुआ था, उतना ही वैशेषिक दर्शन उपेक्षित रहा था। फिर भी

वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद भाष्य के रूप में या अन्य कुछ टीकाओं के रूप में वैशेषिक दर्शन का किञ्चिद् विकास अवश्य हुआ था । इस बात की पुष्टि के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार प्रशस्तपादभाष्य के पहले और बाद में वैशेषिकदर्शनसम्बन्धी जिन टीका टिप्पणियों के विषय में जानकारी मिलती है; उनमें से बहुतायतों का केवल श्रवणमात्र होता है क्योंकि वे इस समय सर्वथा लुप्त हैं । वैशेषिक सूत्रों पर जिन टीकाओं के विषय में जानकारी होती है, उनमें से कुछ निम्न है -

(1) वाक्य टीका-

जैन लेखक महातार्किक मल्लवादी ने अपने ग्रन्थ द्वादशार नयचक्र में वैशेषिक सूत्रों पर लिखी गई वाक्य नामक टीका का उल्लेख किया है ।[1] इस नयचक्र के व्याख्याकार सिंहसूरि के द्वारा नयचक्रवृत्ति में "अस्य वाक्यस्य व्याख्याग्रन्थः" कहकर "वाक्य" नामक टीका का समर्थन किया गया है ।[2] तत्पश्चात् इस वाक्यभाष्य पर प्रशस्तमतिनाम्नी प्रशस्तमति की टीका भी लिखी गई जिसके उद्धरण प्रमाणसमुच्चय में मिलते हैं ।[3]

1- असत्सम्बन्धपरिहारार्थं निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वात् इति वाक्यं सभाष्यम् प्रशस्तोऽन्यथा व्याचष्टे ।

नयचक्र पृ0 150

2- नयचक्रवृत्ति पृ0 152

3- कारणसमवेतस्य वस्तुनः उत्तरकालं सत्तासम्बन्ध इति बहूनाम्मतम्। वस्तूत्पत्तिकाले एवेति तु वाक्यकाराऽभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः सिद्धस्य वस्तुनः स्वकारणैः सत्तया च सम्बन्ध इति प्रशस्तमतोऽभिप्रायः ।

2- श्रायस्क कृत व्याख्या-

दिङ्•नागाचार्य के प्रमाणसमुच्चय की एक पंक्ति में आये हुए "केचित्"[1] की व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धि ने "श्रायस्कादयः" करके वे0द0के श्रायस्क व्याख्याकार एवं आदि पद गृहीत अन्य व्याख्याकारों के विषय में जानकारी दी है ।[2] परन्तु इन श्रायस्कादि व्याख्याकारों के विषय में कोई अन्य जानकारी दे पाना असम्भव है, क्योंकि न तो उनकी कोई व्याख्या इस समय मिल रही है और न तो उनके विषय में अन्य कोई जानकारी ही उपलब्ध होती है ।

3- रावणभाष्य-

प्रमाणसमुच्चय में ही दिङ्•नाग ने एक मतान्तर का उपन्यास करके "अन्ये" पद का प्रयोग किया है ।[3] जिसका सम्बन्ध जिनेन्द्रबुद्धि ने रावण से जोड़ा है ।[4] ब्रह्मसूत्र शाङ्•करभाष्य की रत्नप्रभा व्याख्या में भी रावणभाष्य का निर्देश किया गया है ।[5]

1- केचित् प्रमाणात् फलमर्थान्तरमिच्छन्तः असाधारणकारणत्वात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षं प्रमाणमामनन्ति । प्रमाणसमुच्चय पृ0 169

2- विशालामलवती पृ0 174

3- अन्ये तु प्रधानत्वादात्ममनः सन्निकर्षं प्रमाणमाहुः ।
प्रमाण स0पृ0 169

4- आत्ममनसो प्रधानत्वात् तत्सन्निकर्षस्यापि प्रमाणत्वं रावणादयो मन्यन्ते ।
विशालामलवती पृ0174

5- द्वाभ्यां द्व्यणुकाभ्याम् आरब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयवसंयोग इति रावणप्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तनवैशेषिक-

4- कटन्दी टीका -

नयचक्र की न्यायागमानुसारणी वृत्ति में एक "कटन्दी" नाम्नी व्याख्या का उल्लेख किया गया है ।[1] मुरारिमिश्र के द्वारा अपनी कृति अनर्घराघव में "वैशेषिककटन्दीपण्डितः जगद्विजयमानः पर्यटामि"[2] यह वाक्य कहलाया है, जब कि इसकी व्याख्या में रुचिपति उपाध्याय ने स्वकृतकटन्दी का ही पण्डित रावण को माना है । अतएव उसके आधार पर कुप्पू स्वामी शास्त्री कटन्दी को ही रावणभाष्य स्वीकार करते हैं ।[3] परन्तु नयचक्रवृत्ति के अनुसार कटन्दी भाष्य न होकर टीका ही सिद्ध होती है ।[4] अतएव इससे रावणभाष्य और कटन्दी टीका में एकता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि किसी भी ग्रन्थकार ने भाष्य को टीका के रूप में नहीं स्वीकार किया है ।

कुछ विद्वान् इस रावणभाष्य को प्रशस्तपाद से परवर्ती मानते हैं।[5] परन्तु प्रशस्तपाद के वाक्यों से प्रतीत होता है कि उनकी ग्रन्थ रचना के पूर्व कोई विस्तृत भाष्यग्रन्थ विद्यमान था ।[6] किसी विद्वान् ने यह भी कहा है कि वैशेषिकदर्शन

1- नयचक्रवृत्ति- पृ0 149-50

2- अनर्घराघव- पृ0 191 {काव्यमालासंस्करण}

3- जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च मद्रास, वा0 ।।। पेज1-5

4- "कटन्द्यां टीकायाम्" नयचक्रवृत्ति पृ0 147

5- ओडास- इंट्रोडक्शन टु दि तर्कसंग्रह । पृ0 33

6- पूर्वग्रन्थेषु वृन्दप्रमेयत्वानेनासत्यं वदन्ति---इत्यादि

के प्रारम्भिक काल में रचित रावणभाष्य आदि ग्रन्थों में नास्तिकता को देखकर वैशेषिक दर्शन के उद्धार के लिए प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसङ्ग्रह की रचना की है।[1] भगवान् शङ्कराचार्य ने भी वैशेषिक मत को अर्धवैनाशिक कहा है।[2] अतएव रावण-भाष्य प्रशस्तपादभाष्य से प्राचीनतर ही सिद्ध होता है।

5- आत्रेय भाष्य -

मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वै०सू०वृत्ति में आत्रेयभाष्य के कुछ उद्धरण प्राप्त होते हैं।[3] स्याद्वादरत्नाकर में आत्रेयभाष्य के बहुत से वाक्य उद्धृत किये गये हैं। डॉ० वी० राघवन्[4] तथा प्रो० अनन्त लाल ठाकुर जी[5] ने आत्रेयभाष्य के सभी उद्धरणों को सङ्कलित किया है। इनके आधार पर वै०सू० के आत्रेयकर्तृकभाष्य का निर्णय किया जाता है।

1- ए प्राइमर ऑफ इंडियन लाजिक पेज XXV - VII

2- शाङ्करभाष्य 2/2/18

3- वै० सू० वृ० पृ० 3/5/65

4- वर्क्स एण्ड आथर्स कोटेड इन श्रीदेवाज़ स्याद्वादरत्नाकर -

नाथूराम प्रेमी कमेमोरेशन वा०पेज 429-438

5- आत्रेय - दि भाष्यकार-इंडियन कल्चर, XIII पेज 185-188

6- भारद्वाजवृत्ति-

म0 म0 पं0 विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री जी ने न्यायकन्दली की भूमिका में एक भारद्वाजवृत्ति का उल्लेख किया है, जब कि डॉ0राधाकृष्णन्[1] और प्रो0 दासगुप्त[2] ने इस बात का समर्थन किया है। श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने यह भी लिखा है कि किसी सन्यासी के पास उन्हें मिथिलाक्षर में भिन्न-भिन्न हस्तलिखित भारद्वाजवृत्ति की एक प्रति देखने को मिली थी परन्तु बाद में वे सन्यासी पुनः नहीं मिल पाये। कलकत्ता (1969) तथा बहरामपुर (1978) से एक गङ्गाधर कविरत्नकृत भारद्वाजवृत्तिभाष्य का प्रकाशन हुआ है। परन्तु यह वस्तुतः भारद्वाजवृत्ति की व्याख्या नहीं है। प्रत्युत एक स्वतन्त्र निबन्ध है। अतः उसके आधार पर भारद्वाजवृत्ति का पता लगाना कुछ असम्भव सा है। संभव है कि शङ्करमिश्र के कणादरहस्य के समान ही यह भी भारद्वाजवृत्ति का भाष्य हो। शङ्कर मिश्र ने अपने उपस्कार में ।। बार वृत्तिकार के मत प्रस्तुत किये हैं।[3] परन्तु ये वृत्तिकार भारद्वाजवृत्तिकार रहे या अन्य, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

1- डॉ0 राधाकृष्णन - इण्डियन फिलासफी, पेज 180

2- प्रो0 दास गुप्ता - हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, पेज 306

3- उपस्कार - वै0 सू0 1/1/2, 1/2/3 (दो बार), 1/2/6, 3/1/7, 4/1/7, 6/1/5, 6/1/12, 7/1/3, 9/2/8, 10/1/3.

7- पदार्थधर्मसङ्ग्रह- {प्रशस्तपाद}

वैशेषिक-दर्शन सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों में पदार्थधर्मसङ्ग्रह का महत्त्व सर्वाधिक है । इसका दूसरा नाम 'प्रशस्तपाद-भाष्य' भी है । कहीं-कहीं इसका नाम 'पदार्थ-प्रवेश' भी मिलता है ।[1] वैशेषिक दर्शन में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ होने के कारण इस ग्रन्थ के ग्रन्थकार को तथा इस ग्रन्थ को वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में "पदार्थविदः"[2] और "पारमर्षम् वचनम्"[3] कहकर इनकी महत्ता को स्वीकार किया है । व्योमशिवाचार्य का तो यहाँ तक कहना है कि वैशेषिक दर्शन के विषय में हमें पूरी जानकारी पदार्थधर्मसङ्ग्रह से ही सम्भव हो सकती है ।[4] इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि शिवाचार्य की दृष्टि में पदार्थधर्मसङ्ग्रह का महत्त्व वैशेषिक सूत्रों से भी अधिक है । उदयनाचार्य के विचार से इसकी महत्ता विषयप्रतिपादन की स्पष्टता, भाष्य की अपेक्षा लघुता एवं पदार्थविवेचन में प्रकर्षता के कारण है ।[5] सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण श्रीधराचार्य ने

1- त0सं0 पञ्जिका- पृ0 192, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ0 531,

न्या0 कुमुदचन्द्र पृ0 364, सम्मतितर्क-प्रकरण-पृ0661

2- तात्पर्यटीका- पृष्ठ 8। {कलकत्ता}

3- तात्पर्यटीका- पृष्ठ 458

4- {क} वेदितया वा अस्मदादेस्तत्त्वज्ञानं न स्यादिति प्रशस्तपादसंपिता ।
व्योम0 पृ0 19

{ख} इत्यस्मादेः संग्रहादेव तत्त्वज्ञानम् । वही 33.

5- वेशर्दं लघुत्वं कृत्स्नत्वञ्च, प्रकर्षः । किरणा: पृ0सं0 44

भी इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है ।[1] शायद प्रशस्तपाद के बुद्धि वैभव को समझकर ही जैन तथा बौद्ध आचार्यों ने इन्हें प्रशस्तमति की संज्ञा दी है । निरीश्वरवादी कणाददर्शन के साधारणजन परम्परा से उपेक्षित होने के कारण प्रायः लुप्त हुए वैशेषिक दर्शन को पुनरुज्जीवित करने के लिए ही, इस ग्रन्थ में ईश्वर की कल्पना करके वैशेषिक दर्शन के प्रति लोगों की आस्था को जगाने का काम प्रशस्तपाद ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रणयन के माध्यम से किया । आज तो वैशेषिक के मन्तव्यों को समझने के लिए प्रशस्तपादभाष्य ही हमारा मार्गदर्शक है । वैशेषिक शास्त्र में इस ग्रन्थ की महत्ता इसलिए भी सिद्ध होती है कि परवर्ती आचार्यों ने इसी पर टीका-प्रटीकाएं लिखी है । वस्तुतः आज के वैशेषिक सिद्धान्त प्रशस्तपाद द्वारा प्रतिपादित किये गये सिद्धान्त ही हैं । वैदिक या अवैदिक दर्शनों के लेखकों ने वैशेषिक के सिद्धान्तों की चर्चा करते समय प्रायः प्रशस्तपादभाष्य को ही उद्धृत किया है या उसकी ओर सङ्केत किया है ।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्रों का क्रमशः भाष्य नहीं किया है अपितु उन्होंने वैशेषिक सूत्रों में आये हुए तत्त्वों का एक स्वतन्त्र क्रमबद्ध निबन्ध के रूप में प्रतिपादन किया है । उन्होंने ऐसे भी अनेक मन्तव्यों का निरूपण किया है जिनका वैशेषिक सूत्रों में उल्लेख नहीं किया गया है । संक्षेप में उनकी विशिष्ट देन है-

---

1- तदुपनिबन्धव्यतिरिक्तस्य मन्वादिवाक्यवन्महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः ।

न्याय क०पृ० 4

(1) समवाय तथा विशेष की व्याख्या (2) कणाद के 17 गुणों के स्थान पर 24 गुणों की स्थापना (3) बुद्धि आदि गुणों की क्षणिकता (4) अपेक्षाबुद्धि द्वारा संख्या की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण (5) पाकजरूपादि की उत्पत्ति तथा पीलु-पाकवाद की व्याख्या (6) परमाणु से द्वयणुक आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया एवं सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय के क्रम का निरूपण (7) द्वयणुक तथा त्र्यसरेणु आदि के परिमाण की उत्पत्ति के निमित्त का निरूपण आदि ।

अतः वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसङ्ग्रह का महत्त्व वस्तुतः अनिर्वचनीय है ।

प्रशस्तपाद का नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है जैसे प्रशस्तपाद[1] प्रशस्तदेव,[2] प्रशस्तदेवपाद[3] प्रशस्तकर,[4] प्रशस्तदेवकर[5] प्रशस्तमति[6] और प्रशस्त ।[7] परन्तु प्रमेयकमलमार्तण्ड के सम्पादक आचार्य

1- व्योमवती -पृ0 19, कणादरहस्य, पृ0 ।

2- न्या0क0 पृ0 4, उपस्कार 1/1/8, 4/1/2

3- उपस्कार 9/2/6

4- स्याद्वादरत्नाकर- पृ0 920

5- न्या0 क0 पञ्जिका

6- न0 च0 पृ0 152, सम्मतितर्क पृ0 716, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ0 270, नयचक्रवृत्ति- पृ0148, तत्त्वसङ्ग्रह पृ0 43

7- न0 च0 पृ0 150, उपस्कार 9/2/3, 10/1/1

महेन्द्र कुमार जी ने प्रशस्तमति तथा प्रशस्तपाद को अलग-अलग स्वीकार किया है।[1] फिर भी यदि नयचक्र का अध्ययन किया जाय तो प्रशस्त, प्रशस्तपाद और प्रशस्तमति की भिन्नता को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ पर प्रशस्तमति[2] और प्रशस्त[3] एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

यदि यह सही है तो प्रशस्तपाद की पदार्थधर्मसङ्ग्रह के अतिरिक्त एक ग्रन्थ "प्रशस्तमति टीका" भी है जो कि "वाक्यभाष्यटीका" के नाम से जानी जाती है । यह टीका "वाक्यभाष्य" पर लिखी गई है । हो सकता है यह इनकी प्रथम कृति रही हो, और बाद में इस टीका की विशालता को देखकर इसका संक्षिप्तीकरण करके इनके द्वारा दूसरी कृति के रूप में पदार्थधर्मसङ्ग्रह का प्रणयन किया गया हो । परन्तु इस समय इनकी यह वाक्यभाष्यटीका लुप्त हो चुकी है । इसका कारण यह हो सकता है कि इसकी विशालता के कारण लोग इसे अधिक उपादेय न मानते रहे हों, अतएव वह पठन-पाठन से दूर हो गई हो और कालान्तर में उसका सर्वथा लोप हो गया हो । कुछ भी हो लेकिन यह निश्चित है कि इनकी यह कृति भी कम महत्त्वपूर्ण न रही होगी ।

1- प्रमेयकमलमार्तण्ड भूमिका - पृ० 8

2- नयचक्र पृ० 152

3- नयचक्र पृ० 150

प्रशस्तपाद का समय -

इनके समय को सही-सही निश्चित करना बड़ा कठिन है, क्योंकि इन्होंने अपने समय के विषय में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । फिर भी प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसङ्ग्रह वैशेषिक दर्शन का द्वितीय उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ है । विद्वानों के अनुसार यह ग्रन्थ ही वैशेषिक दर्शन का प्रथम तथा प्रामाणिक प्रकरण ग्रन्थ है । प्रशस्तपाद की उद्योतकर से प्राचीनता प्रायः सर्ववादिसिद्ध है । उद्योतकर ईसवी छठी सदी के अन्त या सातवीं सदी के प्रारम्भ में विद्यमान थे । किसी-किसी के अनुसार वे परमार्थ तथा धर्मपाल से पूर्वभावी थे ।[1] प्रशस्तपाद की न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से पूर्वभाविता बोडास को भी अभिमत है ।[2] परन्तु यदि यह स्वीकार किया जाय कि न्याय भाष्यकार-वात्स्यायन प्रशस्तपाद से पश्चाद्भावी है, तब तो वात्स्यायन के पश्चाद्भावी दिङ्नाग प्रशस्तपाद के अवश्य ही पश्चाद्भावी होंगे । परन्तु डॉ0कीथ[3] तथा श्चेरवात्स्की[4] ने प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का ऋणी माना है । लेकिन श्चेरवात्स्की ने बाद में स्वमत में अरुचि पैदा करके फिर से प्रशस्तपाद को दिङ्नाग से पूर्ववर्ती मान लिया है । जेकोबी को भी प्रशस्तपाद की दिङ्नाग से पूर्ववर्तिता ही अभिमत है । इनके अतिरिक्त भी अन्य विद्वानों ने ऐसा ही

1- वैशेषिक फिलासफी, पेज 18

2- बोडास-हिस्टोरिकल सर्वे आफ इंडियन लाजिक, पेज 40
[रायलएशियाटिक सोसाइटी बाम्बे, वा0 XIX

3- इंडियन लाजिक एण्ड आटोमिज्म पेज 27

4- इंट्रोडक्शन टू न्यायप्रवेश, बाई ए0बी0ध्रुव पेज XVIII

मत देकर इस मत से अपनी सहमति दिखलाई है ।[1] प्रशस्तपाद असन्दिग्धरूप से शङ्कराचार्य के पूर्वभावी हैं, क्योंकि शङ्कराचार्य द्वारा कणादमत जैसा प्रस्तुत है, वह प्रशस्तपाद के ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है । कैडेगन ने भी वात्स्यायन को प्रशस्तपाद से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है ।[2] प्रो० दासगुप्त ने प्रशस्तपाद का समय छठ शतक माना है । सूत्रकार के समकालिक ही प्रशस्तपाद थे[3] ऐसा भी किसी का मत है । प्रो० ध्रुव ने उपर्युक्त सभी मतों के परीक्षणोपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है -

इन सभी मतों में प्रो० ध्रुव का मत ही सर्वाधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि उनका परीक्षण तर्कानुकूल है ।

1-[क] इण्डियन लाजिक एण्ड आटोमिज्म, पेज 98-110

[ख] दि वैशेषिक सिस्टम, पेज 319-23

2- वैशेषिक सिस्टम, पेज 605

3- सूत्रकारस्य समये भाष्यकारोऽप्यजायत इति केचित् ।

प०भा०स० भूमिका [ढुण्ढिराजशास्त्री]

4- इंट्रोडक्शन टू दि न्यायप्रवेश- पेज XX ।

पदार्थधर्मसङ्ग्रह की व्याख्याएँ

[क] व्योमवती -[व्योमशिवाचार्य]

पदार्थधर्मसङ्ग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की ओर विद्वानों का आकर्षण होना अत्यन्त स्वाभाविक है । अतएव इसके अर्थगाम्भीर्य को प्रकाशित करने के लिए इसकी अनेक प्रामाणिक व्याख्याएँ लिखी गई हैं । परन्तु वर्तमान काल में उपलब्ध सभी व्याख्याओं में प्राचीनतम व्याख्या व्योमशिवाचार्यकृत व्योमवती टीका है ।[1] व्योमशिवाचार्य की प्राचीनता इसलिए भी सिद्ध होती है, क्योंकि राजशेखर के पदार्थधर्मसङ्ग्रह के सभी व्याख्याताओं की गणना में व्योमशिवाचार्य का नाम सर्वप्रथम हैं । परन्तु सामान्यतः वैशेषिक सम्प्रदाय में शब्द का पृथक् प्रामाण्य स्वीकृत न होने पर भी व्योमशिव द्वारा वह स्वीकृत है ।[2] इसी कारण कोई-कोई व्योमशिव की अतिशय प्राचीनता स्वीकार नहीं करते । वे व्योमशिव को श्रीधराचार्य तथा उदयन के भी पश्चाद्भावी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । वादीन्द्र [1225ई0] कृत रससार तथा वल्लभाचार्यकृत लीलावती में आचार्य व्योमशिव का उल्लेख है । व्योमशिव का समय सप्तम शतक या उसके बाद का है क्योंकि इन्होंने व्योमवती में नाट्यशास्त्र[3] भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद,[4] कुमारिल के

1- प्रशस्तपादभाष्य की भूमिका म0म0पं0गोपीनाथ कविराज पृ0 1 [चौखम्बा]

2- सरस्वती भवन स्टडी वा0 III पेज 109

3- व्योमवती पृ0 557

4- वही0 पृ0 20 [ख]

श्लोकवार्तिक[1] धर्मकीर्ति,[2] प्रभाकर[3] और श्रीहर्ष[4] का उल्लेख किया है । ये सभी व्यक्ति प्रायः सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हैं । अतः व्योमशिवाचार्य का समय सातवीं शताब्दी अथवा उसके बाद स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है ।

{ख} <u>शालिकनाथकृत व्याख्या-</u>

प्रभाकरमीमांसक शालिकनाथ मिश्र ने भी पदार्थधर्मसङ्ग्रह पर एक व्याख्या लिखी थी, जो कि अभी अनुपलब्ध है । तर्कभाषा प्रकाशिकाकार श्री चिन्नम्भट्ट ने तर्कभाषा प्रकाशिका में ही मृत्पिण्डपाषाणादिलक्षणः शरीरेन्द्रियः व्यतिरिक्तः विषय इति शालिकनाथः प्रशस्तपाद भाष्यव्याख्याने व्यरूपयत्" लिखकर प्रशस्तपादभाष्य के व्याख्याता के रूप में शालिकनाथ का नामोच्चारण किया है । अतएव इन प्रमाणों के आधार पर पदार्थधर्मसङ्ग्रह की शालिकनाथकृत व्याख्या की सत्ता अवश्य ही स्वीकार की जानी चाहिए । लेकिन इस विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि चिन्नम्भट्ट द्वारा स्मृत शालिकनाथ प्रभाकर मीमांसक शालिकनाथ से अभिन्न है अथवा भिन्न है ।

1- व्योमवती पृ0 590-91

2- व्योमवती पृ0 306-7 {प्रमाणवार्तिक के पद्य}

3- व्योमवती पृ0 399

4- व्योमवती पृ0 392

§ग§ न्यायकन्दली :-

प्रशस्तपादभाष्य की उपलब्ध व्याख्याओं में व्योमशिव की व्योमवती के बाद आचार्य श्रीधर §991ई0§की न्यायकन्दली टीका है । श्रीधराचार्य की यह टीका भी अत्यधिक प्रशस्त तथा ग्रन्थाभिव्यञ्जक है । कन्दलीकार श्रीधर वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थों से परिचित नहीं थे । श्रीधर तथा वाचस्पति ने बौद्धाचार्य धर्मोत्तर का उल्लेख किया है । विन्ध्येश्वरी प्रसाद का मन्तव्य है कि श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली उदयनाचार्यकृत किरणावली पर आधृत है । परन्तु यदिअन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर देखा जाय तो विन्ध्येश्वरी प्रसाद का यह कथन निर्मूल सिद्ध होता है क्योंकि उन प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि न्यायकन्दली ही किरणावली से प्राचीनतर है ।[1] अपनी किरणावली में उदयन ने श्रीधर के मत का खण्डन किया है यह प्रायः सर्ववादिसिद्ध है । अतएव उदयनाचार्य ही श्रीधराचार्य से पश्चाद्वर्ती सिद्ध होते हैं । तथापि दोनों के समय में अधिक अन्तराल न होने के कारण दोनों व्याख्याकारों के परस्पर परिचय की प्रतीति उनके व्याख्याओं के देखने से होती है । न्यायकन्दली में अन्य मतों विशेषकर बौद्धमतों का निराकरण करते हुए न्यायवैशेषिक मतों की स्थापना की गई है । इसके अतिरिक्त श्रीधर ने कुछ निजी मत भी स्थापित किये हैं जैसे कि ज्ञानकर्मसमुच्चय को न्यायकन्दली में मुक्ति का साधन माना गया है । कन्दली के ऊपर लिखी गई राजशेखर की न्यायकन्दलीपंजिका और पद्मनाभमिश्र की न्यायकन्दीसार

1- हिस्ट्री आफ [नव्य] न्याय इन मिथिला पेज 8-।।

व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं । श्रीधर का समय दशम सती माना जाता है ।

(घ) किरणावली -

उदयनाचार्य की विद्वत्ता से आबालवृद्ध जनसमूह परिचित हैं । इनकी किरणावली असन्दिग्धरूप से एक दुरूह ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में उन्होंने पदार्थधर्मसङ्ग्रह की व्याख्या करते हुए वैशेषिक मत के वर्णन के समय अत्यन्त मितभाषिता का आश्रय लिया है । अतएव किरणावली के अर्थगौरव के कारण ही उदयन के पश्चादवर्ती काल में कई शताब्दियों तक न्याय-वैशेषिक के विशिष्ट आचार्यों के द्वारा इस पर टीका प्रटीकाएँ लिखी जाती रही हैं । जिनकी सहायता के बिना किरणावली ग्रन्थ के तात्पर्य को समझ पाना मुश्किल होता है । किरणावली ग्रन्थ पर गङ्गेशोपाध्याय के पुत्र तथा शिष्य वर्धमान के द्वारा किरणावली की गम्भीरता के तलस्पर्श के लिए "किरणावलीप्रकाश" टीका की रचना की गई । तत्पश्चात् "किरणावलीप्रकाश" को भी विद्योतित करने के लिए रघुनाथ शिरोमणि को "किरणावलीप्रकाश दीधिति" नामक टीका का प्रणयन करना पड़ा । इसके पश्चात् पद्मनाभमिश्र जो "सकलशास्त्रारविन्द प्रद्योतन भट्टाचार्य" के नाम से भी जाने जाते हैं,- ने "किरणावलीभास्कर" नामक टीका की रचनाकी । किरणावली की इन टीकाओं के अतिरिक्त प्रकाश,विवृत्ति इत्यादि अन्य टीकाएँ भी विद्यमान हैं । विवृति टीका रुचिदत्त की है जो कि किरणावली प्रकाश पर है । इन टीकाओं से किरणावली की गम्भीरता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । इनके समय के विषय में पहले ही विस्तृत विवेचन किया जा चुका है ।

३०- न्यायलीलावती- {श्री वत्साचार्य}

राजशेखर ने "चतुर्थी तु लीलावतीति ख्याता श्री वत्साचार्यो बबन्ध" लिखकर एक न्यायलीलावती व्याख्या का सङ्केत किया है । परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने अपने गुरु के रूप में श्री वत्साचार्य का सङ्केत किया है । परन्तु उन्होंने वत्साचार्य द्वारा प्रणीत पदार्थधर्मसङ्ग्रह की व्याख्या "लीलावती" का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है । इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय लोगों के द्वारा "कणाद-रहस्य" के समान श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रणीत प्रकरण ग्रन्थ "न्यायलीलावती" को भी प्रशस्तपाद की टीका मानते रहे होंगे और राजशेखर ने भी उसी परम्परा के अनुसार इसका उल्लेख टीका के रूप में किया है । अतएव यह सम्भव है कि लेखक के द्वारा प्रमाद से श्रीवल्लभ के स्थान में श्रीवत्स लिख दिया गया हो । वैसे गौड़ तथा मिथिला के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थकार ने लीलावती को आकरग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया तथा उस पर टीकाओं की रचना की ।

वर्धमानोपाध्याय ने न्यायलीलावती पर भी किरणावली के समान "प्रकाश" टीका की रचना की है । इसके बाद न्यायलीलावती पर श्री प्रगल्भाचार्य की 'प्रगल्भा' टीका है । वर्धमान की लीलावतीप्रकाश पर श्रीजयदेव {पक्षधर} ने "विवेक" टीका का प्रणयन किया है । श्री वटेश्वरोपाध्याय जो सम्भवतः यज्ञपति उपाध्याय के प्रपितामह थे,— ने भी न्यायलीलावती पर टीका लिखी है । 1500 ई० के लगभग भगीरथ ठक्कुर वर्धमान ने भी लीलावतीप्रकाश पर "प्रकाशिका" टीका लिखा । पन्द्रहवीं शताब्दी में ही धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकार मैथिल

वाचस्पतिमिश्र ने भी न्यायलीलावती पर टीका का प्रणयन किया था, ऐसी विद्वानों की धारणा बनी हुई है । इन्हीं के समकालीन शङ्करमिश्र ने लीलावतीकण्ठाभरण नामक टीका की रचना की है । नव्यन्याय के अलौकिक प्रतिभावान् श्री रघुनाथ शिरोमणि ने न्यायलीलावतीप्रकाश पर "दीधिति" टीका एवं पद्मनाभमिश्र ने न्यायलीलावती पर "रहस्य" टीका लिखी ।

{च} कणाद रहस्य - {शङ्करमिश्र}

इस ग्रन्थ को बहुत से विद्वान् पदार्थधर्मसङ्ग्रह की टीका के रूप में स्वीकार करते हैं । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह पदार्थधर्मसङ्ग्रह की व्याख्या नहीं है, जैसा कि शङ्कर मिश्र ने स्वयं "प्रशस्तपादवाक्यव्याख्याच्छलेन" ऐसा कहकर स्पष्ट कर दिया है ।

{छ} भाष्यनिकष- {मल्लिनाथ}

ऐसा प्रतीत होता है कि मल्लिनाथ के द्वारा भी पदार्थधर्मसङ्ग्रह में "भाष्यनिकष" नाम की एक व्याख्या लिखी गई थी । परन्तु यह व्याख्या इस समय उपलब्ध नहीं है ।

{ज} सेतु-{पद्मनाभमिश्र}

प्रद्योतनभट्टाचार्यापरनामा श्रीपद्मनाभमिश्र ने पदार्थधर्मसङ्ग्रह पर "सेतु" टीका का प्रणयन किया है । परन्तु यह व्याख्या द्रव्यपदार्थपर्यन्त ही उपलब्ध है । यह व्याख्या बहुत ही विशाल एवं पाण्डित्यपूर्ण है । इस व्याख्या

में प्राचीन व्याख्याकारों के मत का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है ।

(ख) सूक्ति- (जगदीश तर्कालङ्कार)

महानैयायिक तर्कालङ्कार की व्याख्या "सूक्ति" नाम से प्रसिद्ध है। जो कि पदार्थधर्मसङ्ग्रह पर सूक्तिरूप ही है । जगदीश तर्कालङ्कार की विद्वत्ता जिस प्रकार नव्यन्याय में है, उसी प्रकार वैशेषिक शास्त्र में भी है । यह व्याख्या भी "सेतु" व्याख्या की भांति द्रव्य पदार्थ तक ही उपलब्ध है ।

8- भाष्य -

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति में एक भाष्य के विषय में उल्लेख किया गया है,[1] जो कि शायद पूर्वोक्त वाक्यभाष्य से भिन्न है । इस वृत्ति में कथित भाष्य का एक उद्धरण आया है कि "अश्रोत्रमपि भाष्यकृदभिहितमस्ति, इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रत्यक्षम् आत्ममनः सन्निकर्षो वा" ; "-यह मत पूर्वकथित रावणमत और आत्रेय मत दोनों का समाहार रूप है । परन्तु यह नहीं निश्चित हो पा रहा है कि भाष्यकार ने ही रावणमत और आत्रेय मत दोनों को एक साथ स्वीकार कर लिया है अथवा रावण और आत्रेय ने ही अपनी-अपनी विवेचना के अनुसार भाष्यकार के एक-एक मत का अभ्युपगम किया है । साथ ही यह भी निर्णय नहीं किया जा सका है कि यह भाष्य आत्रेय-भाष्य से भिन्न भाष्य है या अभिन्नभाष्य।

1- प्रमाणसमुच्चय वृत्ति । पृ0 174,195

9- वृत्ति-

चन्द्रानन्द ने अपनी वै0सू0वृत्ति में[1] जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी विशाला-मलवती में[2], तथा शङ्कर मिश्र ने अपने उपस्कार में[3] एक वृत्ति का उल्लेख किया है । चन्द्रानन्दवृत्ति एवं उपस्कार में उस वृत्ति के कुछ उद्धरण भी दिये गये हैं । परन्तु मूलरूप में वृत्ति अभी अनुपलब्ध है । यह कहना भी कठिन है कि तीनों लोगों ने एक ही वृत्ति का उल्लेख किया है अथवा भिन्न-भिन्न, और यदि यह वृत्ति एक स्वतंत्र ग्रंथ है तो उसका रचना कार कौन है ?

10- चन्द्रानन्दवृत्ति-

बड़ौदा से वैशेषिक सूत्र की 1961 में एक चन्द्रानन्दवृत्ति का प्रकाशन हुआ है । यह वृत्ति संक्षिप्त होने पर भी वैशेषिक दर्शन के तात्पर्य को समझने में काफी उपयोगी है । सम्पादक के अनुसार चन्द्रानन्द का समय 700 ई0 के आस-पास है ।

11- कणादसूत्रनिबन्ध-

भट्टवादीन्द्र द्वारा वै0सू0पर की गई टीका में "कणादसूत्रनिबन्ध"

1- च0 वृ0 पृ0 69,70

2- विशा0 पृ0 173

3- उपस्कार 1/1/2, 1/2/3, 1/2/6, 3/1/17, 4/1/7, 6/1/5, 6/1/12, 7/1/3, 9/2/8, 10/1/3

नामक एक वैशेषिक सूत्र की टीका का उल्लेख किया गया है ।[1] इसका सङ्केत अनन्त लाल ठाकुर ने बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्द वृत्त्यनुगत वैशेषिक दर्शन के उपोद्घात में किया है । भट्टवादीन्द्र का समय 13वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है । यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है परन्तु इसका हस्तलेख मिथिला विद्यापीठ के मातृका विभाग में सुरक्षित है ।

12- मिथिला विद्यापीठवृत्ति-

मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा से 1957 ई० में एक संक्षिप्त वृत्ति के साथ वैशेषिक दर्शन का प्रकाशन हुआ है । परन्तु यह रचना अज्ञातनामा व्यक्ति की है, जो नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक ही उपलब्ध हो पायी है । यह व्याख्या वैशेषिक सूत्रों के तात्पर्य को समझने में काफी उपादेय है जो कि चन्द्रानन्दवृत्ति से उत्कृष्टतर है । इसका रचनाकाल 1300 ई० के आस-पास स्वीकार किया गया है । भट्टवादीन्द्र के वार्तिक के साथ काफी हद तक अर्थसाम्य रखने के कारण इसे वादीन्द्र अथवा उनके शिष्य द्वारा रचित माना जा सकता है ।

13- उपस्कार -

1500 ई० के प्रसिद्ध मैथिल दार्शनिक शङ्करमिश्र के द्वारा रचित "वैशेषिकसूत्रोपस्कार" आजकल सबसे प्रचलित व्याख्या है । इस उपस्कार पर भी पञ्चानन तर्करत्न के द्वारा "परिष्कार" नाम्नी टीका लिखी गयी है जो कि कलकत्ते से

1- इंट्रोडक्शन टू दि महाविद्या विडम्बना, पेज XVI

प्रकाशित हुई है । उपस्कार का महत्त्व वैशेषिक सूत्र की व्याख्याओं में आजकल अद्वितीय है । इसके लेखन के समय तक वैशेषिकदर्शन पर एक वृत्ति वर्तमान थी, परन्तु उसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था, जैसा कि पहले बताया जा चुका है ।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त कुछ आधुनिक व्याख्याएं भी उपलब्ध हैं जिनमें चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का "भाष्य", जयनारायण तर्कपञ्चानन की "विवृति", रघुदेव का व्याख्यान, हरिप्रसाद शास्त्री की "वैदिकवृत्ति" तथा अन्यान्य हिन्दी व्याख्यान आदि । इनमें चन्द्रकान्त का "भाष्य" तथा जयनारायण की "विवृत्ति" अधिक उपादेय हैं ।

प्रकरण ग्रन्थ -

लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में नव्यन्याय के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ उसकी विशेषता के रूप में प्रकरण ग्रन्थों का भी प्रादुर्भाव हुआ । इस युग में विद्वज्जन प्राचीन परम्परानुसार प्रचलित न्यायसूत्र और न्यायभाष्य के टीका-प्रटीका के रूप में लेखनकार्य को विराम देकर स्वतन्त्र ग्रन्थलेखन की ओर प्रवृत्त हुए ।उनके द्वारा शास्त्रविषयक सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा किसी एक अथवा एक से अधिक अङ्गों के विशिष्ट विवेचन में अधिक रुचि दिखलाई जाने लगी जिसके परिणाम स्वरूप विशिष्ट प्रकार के ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ जिनको पाराशर उपपुराणानुसार प्रकरणग्रन्थ की संज्ञा दी गई । पाराशर पुराण में कहा गया है कि उन ग्रन्थों को प्रकरणग्रन्थ कहते हैं जिनमें किसी एक शास्त्र के एक अंश को और आवश्यकतानुसार

अन्यशास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादित किया जाय ।[1]

प्रकरणग्रन्थों का लेखन नव्यन्याय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है । ऐसे प्रकरणग्रन्थों की संख्या न्याय-वैशेषिक शास्त्र में पर्याप्त हैं, जिनका अध्ययन पदार्थविषयक जानकारी के लिए बहुत ही उपयोगी है ।

यद्यपि प्रकरणग्रन्थों की लेखन परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । इसकी प्राचीनता का अनुमान इससे सहज ही लगाया जा सकता है कि धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु को प्रकरणग्रन्थ बतलाया है ।[2] तदनन्तर भी ऐसे अनेक प्रकरणग्रन्थों का प्रणयन किया गया है । जैसे कि वाचस्पतिमिश्र के तत्त्वबिन्दु को मीमांसाशास्त्र सम्बन्धी प्रकरणग्रन्थ कहा जा सकता है । उदयनाचार्य के "लक्षणावली" तथा "न्याय-कुसुमाञ्जलि" को भी प्रकरण ग्रन्थ की श्रेणी में रखा जा सकता है । सम्भवतः इन ग्रन्थों से पूर्व भी भासर्वज्ञ ने "न्यायसार" का प्रणयन किया था । परन्तु ग्यारहवीं शती से तो प्रकरणग्रन्थों के लेखन में एक प्रवाह सा आ गया, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे ग्रन्थों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई, जब कि पहले ऐसे प्रकरणग्रन्थ यदा-कदा ही लिखे जाते थे ।

1- शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।

पाराशर उपपुराण

2- सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिनाऽस्य प्रकरणस्याभिधेय प्रयोजनं उच्यते ।
एवं "तस्माद् अस्य प्रकरणस्यारम्भणीयत्वं दर्शितम्---------।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही रहा है, परन्तु प्रकरण ग्रन्थों की एक सबसे बड़ी विशेषता इस रूप में विकसित हुई कि इन ग्रन्थों में दोनों सम्प्रदायों को एक-दूसरे से अभिन्न बना दिया गया और दोनों के विवेचन को समाहाररूप में प्रस्तुत किया गया तथा एक-दूसरे के सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्त में स्वीकार किया जाने लगा। अतएव उदयनाचार्य द्वारा न्याय एवं वैशेषिक शास्त्रों के सिद्धान्तों को मिलाकर प्रस्तुत करने वाली परम्परा इस युग में और ही पुष्टता को प्राप्त हो गई।

इस युग में न्याय-वैशेषिक शास्त्रों से सम्बन्धित जिन प्रकरणग्रन्थों का निर्माण किया गया, उन्हें चार कोटियों में रखकर उनका परिगणन किया जा सकता है।

§1§ न्याय के वे प्रकरणग्रन्थ जिनमें प्रमाण पदार्थ का प्रधान रूप से और प्रमेयादि पन्द्रह पदार्थों का तदङ्गत्वेन वर्णन होता है, उन्हें प्रथम प्रकार के प्रकरणग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है। इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में भासर्वज्ञ §1000ई0§ के "न्यायसार" का नाम उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ भासर्वज्ञ का एक अनमोल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में प्रमाणलक्षण के प्रसङ्ग से संशय और विपर्यय की चर्चा करके प्रमाण के तीन भेद बताये गये हैं -प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इस संख्यासाम्य के कारण यह ग्रन्थ सांख्य और जैन दर्शन के अनुरूप है।

भासर्वज्ञ ने प्राचीन न्याय की पद्धति एवं उसके सिद्धान्त को परिवर्तित करके प्रमाण के तीन भेदों को स्वीकारकर न्यायसम्मत उपमान प्रमाण का

अस्वीकार कर दिया है । उनका मोक्षविषयक सिद्धान्त भी प्राचीन न्याय के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि वे मोक्ष में नित्य आनन्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, जब कि भाष्यकार ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसका खण्डन किया था । न्यायसार पर लिखी गई 18 टीकाओं पर मुख्यरूप से विजयसिंह गुणी एवं जयतीर्थ द्वारा अलग-अलग लिखी गई "न्यायसार" टीका, भट्टराघव द्वारा लिखित "न्यायसार विचार" एवं जयसिंहसूरिकृत "न्यायतात्पर्यदीपिका" ही उपलब्ध हैं ।

2- द्वितीय प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में वे ग्रन्थ समाहित किये जा सकते हैं जो न्यायशास्त्र के ग्रन्थ होते हुए भी न्याय-दर्शन के प्रमाणादि सोलहों पदार्थों के साथ वैशेषिक दर्शन के द्रव्यादि सप्तपदार्थों का भी वर्णन करते हैं । परन्तु उनका विवेचन स्वतन्त्ररूप से नहीं होता, बल्कि न्यायसम्मत षोडश पदार्थों के किसी वर्ग में अन्तर्भावित होकर होता है । इस प्रकार के प्रकरणग्रन्थों में मुख्यरूप से श्री वरदराज की "तार्किकरक्षा" एवं केशवमिश्र की "तर्कभाषा" को समाहित किया जा सकता है । वरदराज 12वीं शताब्दी के सम्भवतः आन्ध्रप्रदेश के निवासी हैं । वरदराज ने "तार्किकरक्षा" नामक प्रकरणग्रन्थ को लिखकर उसके तात्पर्य के विद्योतनार्थ उस पर "सारसङ्ग्रह" नाम की व्याख्या भी लिखी है । उनके पश्चात् विष्णुस्वामी के शिष्य ज्ञानपूर्ण ने "लघुदीपिका" और मल्लिनाथ ने "निष्कण्टका" टीका की रचना करके उसका पर्याप्त श्रीसंवर्धन किया है ।

केशवमिश्र तो मिथिला के निवासी हैं । इनकी 'तर्कभाषा' न्यायदर्शन के महानद में प्रवेश पाने के लिए बहुत ही श्रेष्ठ ग्रन्थ है । यदि यह कहा जाय कि उचितरूप से अध्ययन करके यदि इस ग्रन्थ को अभ्यस्त रखा जाय तो न्याय-

वैशेषिक दोनों दर्शनों के प्रमेय करामलकवत् हो सकते हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । इस ग्रन्थ पर वर्तमान समय तक 14 टीकाओं की रचना हो चुकी है जो कि तर्कभाषा की उपादेयता और लोकप्रियता के प्रबल साक्षी हैं ।

इन दोनों प्रकरण ग्रन्थकारों ने न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण करते हुए वैशेषिक के द्रव्यादि पदार्थों का अन्तर्भाव प्रमेय में कर लिया है । इनमें से वरदराज का समय 1150 और केशवमिश्र का समय लगभग 1275 ई0 है ।

﴾3﴿ प्रकरण ग्रन्थों की तीसरी कोटि में ऐसे ग्रन्थों को रखा जाता है, जिनमें न्यायदर्शन के प्रमाणों को वैशेषिक दर्शन के पदार्थों की किसी श्रेणी में अन्तर्भावित कर वैशेषिक के द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के साथ उनका प्रतिपादन किया जाता है। न्याय-वैशेषिक के पदार्थों को इस प्रकार मिलाकर प्रतिपादन करने की शैली मुख्यरूप से उदयनोत्तरकाल में प्रचलित हुई है । उदयन ने अपनी लक्षणावली में वैशेषिक के सात पदार्थों का वर्णन किया है । परन्तु उनमें न्याय के प्रमाण पदार्थ का निरूपण नहीं है । उससे पूर्व केवल प्रशस्तपादभाष्य में प्रमाण का भी समावेश हुआ है । इस प्रकार के प्रकरणग्रन्थों में मुख्यरूप से वल्लभाचार्य की "न्यायलीलावती", अन्नम्भट्ट का "तर्कसङ्ग्रह", विश्वनाथ न्यायपञ्चानन का "भाषापरिच्छेद", जगदीश-तर्कालङ्कार का "तर्कामृत" एवं लौगाक्षिभास्कर की "तर्ककौमुदी" आदि ग्रन्थ मुख्य हैं । "न्यायलीलावती" में उच्चकोटि के जिन नैयायिकों के द्वारा टीका लिखी गई है, उनमें मुख्यरूप से वर्धमानोपाध्यायकृत "न्यायलीलावतीप्रकाश", रघुनाथ शिरोमणिकृत "न्यायलीलावतीदीधिति", शङ्करमिश्रकृत "न्यायलीलावतीकण्ठाभरण"

हैं । बाद में "न्यायलीलावतीप्रकाश" पर भी मथुरानाथतर्कवागीश की "न्याय-लीलावतीप्रकाशविवेक" एवं भगीरथठक्कुरकृत "न्यायलीलावतीप्रकाशविवृति" आदि टीकायें लिखी गई हैं । वल्लभाचार्य का समय 12वीं शती स्वीकार किया जाता है ।

तर्कसङ्ग्रह की मुख्य टीकाओं में "दीपिका" जो कि स्वयं ग्रन्थकार द्वारा की गई है, सर्वोत्कृष्ट टीका है । इस टीका के अतिरिक्त न्यायबोधिनी, प्रकाश एवं पदकृत्य टीकायें भी मुख्य हैं ।

अन्नम्भट्ट का समय 17वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है । इनका जन्मस्थान आन्ध्रप्रदेश में "चित्तूर" माना जाता है ।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन रघुनाथ शिरोमणि की शिष्य परम्परा में नवद्वीप के नैयायिक माने जाते हैं । इन्होंने अपने भाषा-परिच्छेद पर एक व्याख्या भी लिखी है जो "न्यायसिद्धान्तमुक्तावली" के नाम से विद्वत्समाज में प्रसिद्ध है ।[1] मुक्तावली की "दिनकरी" और "रामरुद्री" टीकायें अतिलोकप्रिय हैं । दिनकर एवं रामरुद्र-दोनों टीकाकारों को भी 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का विद्वान् माना जाता है । विश्वनाथ न्यायपञ्चानन विद्यानिवास के पुत्र हैं-ऐसा इनकी कृति "पिङ्गलप्रकाशिका" से ज्ञात होता है ।[2]

1- निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।
विशदीकरवाणि कौतुकान्नु राजीवदयावशम्वदः ।। न्या०सि०मु०2

2- विद्यानिवाससूनोःकृतिरेषा विश्वनाथस्य ।
विदुषामतिसुगमधियाममत्सराणां मुदे भविता ।।
पि०प्र०

जगदीश तर्कालङ्कार जो 17वीं शती के नैयायिक हैं, ने अपने तर्कामृत में भाव और अभावरूप में पदार्थों का द्विविध वर्गीकरण करके वैशेषिक के सातों पदार्थों का वर्णन करते हुए न्यायदर्शनानुमोदित चतुर्विध प्रमाणों का वर्णन किया है । यह तर्कामृत ग्रन्थ न्यायदर्शन में अनुक्त वैशेषिकाभिप्रेत विशेष का तथा वैशेषिक दर्शन में अस्वीकृत शब्द तथा उपमान प्रमाण का प्रतिपादन करने के कारण न्याय और वैशेषिक का मिलित प्रकरणग्रन्थ माना जाता है ।

लौगाक्षिभास्कर का समय 17वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है । ये न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन के विद्वान् हैं । इनका न्याय-वैशेषिक सम्मत प्रकरणग्रन्थ "तर्ककौमुदी" है । ये वाराणसी में रहते थे ।

§4§ चौथे प्रकार के प्रकरणग्रन्थ उन्हें कहा जा सकता है जिनमें कुछ न्याय और कुछ वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण किया गया है । इस प्रकार के प्रकरणग्रन्थों में शशधर के "न्यायसिद्धान्तदीप" एवं माधवाचार्य के सर्वदर्शनसङ्ग्रह को समाहित किया जा सकता है ।

शशधर ने न्यायसिद्धान्तदीप में न्याय और वैशेषिक के विषयों का साकल्येन वर्णन न कर उनके कुछ विषयों का ही वर्णन किया है । इस ग्रन्थ पर शेषानन्त की "न्यायसिद्धान्तदीपटीका" है जो इस ग्रन्थ की उपयोगिता की वृद्धि करती है । इनका समय 12वीं शती माना जाता है ।

माधवाचार्य 14वीं शती के विद्वान हैं । "सर्वदर्शनसङ्ग्रह" में इन्होंने अपने को सायण का अनुज बताया है ।[1] सर्वदर्शनसङ्ग्रह में माधवाचार्य ने सभी वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के सिद्धान्तों का संक्षेप में अलग-अलग विवेचन किया है ।

1- श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसङ्ग्रहः ।।

स0द0स03

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वरवाद

अनादिकाल से मनुष्य के अन्तस्तल में यह बहुत सारे प्रश्न प्रायः उठते ही रहते हैं कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ? विश्व के पीछे कौन सी ऐसी शक्ति है जो उसके सृजन और संहार के माध्यम से अपने ऐश्वर्य का परिचय दे रही है ? किस सत्ता से परिचित होकर समस्त विश्व नियमानुसार स्वकार्यरत है ? प्रकृति क्यों अपने नियमों का उल्लंघन न करने के लिए बाध्य है ? संसार के प्राणियों का सुख और दुःख तथा विभिन्न व्यक्तियों में उनके वैशिष्ट्य या न्यूनाधिक्य का कारण क्या है ? एवं उस दुःख से निवृत्त होने का उपाय क्या है ? ये सभी प्रश्न ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर को जानने के लिए मनुष्य अनादि काल से प्रयत्नशील रहा है ।

यद्यपि आस्तिकता एवं नास्तिकता का आधार वेद को स्वीकार किया गया, किन्तु सभी भारतीय दर्शनों के लिए ईश्वरवाद एक आवश्यक उपसिद्धान्त बना हुआ था । प्राचीन भारतीय चिन्तन एवं जनप्रवृत्ति दोनों ही ईश्वर के अभाव में टिक नहीं सके । निरीश्वरवादी आस्तिकदर्शनों सांख्य, मीमांसादि में परवर्ती आचार्यों ने सम्भवतः युग की माँग के अनुकूल बनाने के लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए देखे जाते हैं । योगदर्शन-सांख्यसिद्धान्तों की क्रियात्मक व्याख्या है । महर्षि पतञ्जलि सांख्य की उपेक्षा से परिचित रहे होंगे, इसीलिए सांख्यीय तत्त्वमीमांसा में उन्होंने विकल्परूप में ही सही, ईश्वर की

सत्ता स्वीकार करके ईश्वरविषयक विरोध के सामने घुटने टेक दिये । जैन बौद्धादि दर्शन प्रारम्भ से आत्मा एवं ईश्वरादि का खण्डन करने में लगे रहे, लेकिन उनके वंशजों ने उनके पूरे प्रयत्नों पर पानी फेरकर महावीर स्वामी एवं बुद्ध को अवतार ही मानने लगे ।जातक कथाओं में बुद्ध के विभिन्न जन्मों में उनकी ईश्वरता का वर्णन करते नहीं थकते । इसीलिए सम्भवतः धीरे-धीरे आस्तिक और नास्तिक शब्दों के अर्थों में झुकाव आया । आधुनिक भाषाविद् ईश्वरवादी को आस्तिक एवं निरीश्वरवादी को नास्तिक कहते हैं । यों तो यह भाषा-विज्ञान का विषय है कि उक्त शब्दों के अर्थपरिवर्तन का ऐतिहासिक कारण एवं क्रम क्या है ? किन्तु ईश्वरवाद के अन्यान्य पक्षों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर भारतीयता की पहिचान बन गया । वैदिक काल का कर्मकाण्ड ईश्वरवादी भक्ति के एक झोंके से पता नहीं कहाँ उड़ गया । मध्ययुग के भक्तों एवं कवियों ने पौराणिक आख्यानों, रामायण, महाभारत ने ईश्वर की ऐसी धाक जमा दी कि दार्शनिक चिन्तक उसके सामने नतमस्तक होने को विवश थे । दार्शनिक चिन्तक भी समाज का अंग है । अतः वह समाज की प्रवृत्तियों एवं अपेक्षाओं से अप्रभावित भी नहीं रह सकता । वस्तु लगता है कि अपने को दार्शनिकता के मंच पर बनाये रखने के लिए इन सब लोगों को भी ईश्वरविषयक विचारों को अपने तत्त्वचिन्तन में शामिल करना पड़ा जिनके पूर्वजों ने ईश्वर विचार को अस्पृश्य समझ रखा था ।

ईश्वर की सिद्धि वेदप्रमाण से होती है । योगी लोगों ने समय-समय पर प्रत्यक्ष से उनका साक्षात्कार करके वेदोक्त ईश्वर की सत्ता को सर्वसाधारण को समझाया, बताया भी होगा । किन्तु जो साधारण लोगों का प्रमाण है -

वह तो अनुमान ही है । प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमान ही वह प्रमाण है जिसे सभी भारतीय दार्शनिक एक स्वर से स्वीकारते हैं क्योंकि प्रत्यक्षैव चक्षुष्क चार्वाक भी बिना अनुमान प्रमाण के प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणों का निषेध और प्रत्यक्ष मात्र का प्रमाण होना सिद्ध नहीं कर सके । छोटे बड़े, पढ़े-अनपढ़, अल्पज्ञ और शास्त्रज्ञ-सबकी जीवनयात्रा का प्रमुख आधार तो अनुमानही है । अस्तु जिस ईश्वर का सबको सहजता से प्रत्यक्ष नही हो सकता, जो लोग वेद पर अविश्वास करने के कारण केवल इस आधार पर ईश्वर की सत्ता स्वीकारकरने के पक्षधर नहीं है, कि उसकी सत्ता का निरूपण वेद करता है, यह उत्तरदायित्व न्याय पर आ पड़ता है कि वह प्रत्यक्ष परोक्ष अन्यान्य तत्त्वों को अनुमान के माध्यम से सर्वजनबोधगम्य बना सके । इसी श्रृङ्खला में न्याय के सामने अनीश्वरवादियों की यह चुनौती थी कि सर्वजन-ग्राह्य प्रमाण के माध्यम से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की जाय और उन करोड़ों लोगों के उस विश्वास की रक्षा की जाय, जिस पर जैनों, बौद्धों के ही नहीं, सांख्यों, मीमांसकों के भी आघात होते रहे हों । न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने ईश्वर विषय की संवेदनशीलता का प्रारम्भ से ही अनुमान लगा लिया था और बिना किसी प्रमाद के ईश्वरसिद्धि को आचार्यों ने न्याय-वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा में उपयुक्त स्थान दिया । यहाँ तक कि ईश्वरविषयक समग्र चिन्तन को प्रमाणादि षोडश पदार्थ विवेचन अथवा द्रव्यादि सप्त पदार्थ विवेचन के मध्य अपर्याप्त अवसर से असन्तुष्ट होकर और ईश्वरसत्ता के विरोध में सम्भावित समस्त आशंकाओं को एकैकशः निराकृत करने के उद्देश्य से उदयन ने दशम शताब्दी में न्याय-कुसुमाञ्जलि नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की जिसका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय ईश्वर सिद्धि ही है।

ईश्वरचिन्तन का क्रमिक विकास

ईश्वरविषयक अनुसन्धान करने पर ऋग्वेदादि में इन्द्र वरुणादि अनेक देवताओं की विभिन्न शक्तियों के रूप में कल्पना देखने को मिलती है जिससे उपर्युक्त सभी प्रश्नों का समाधान संभव हो सकता है । चरम सत्ता की विद्योतक भिन्न-भिन्न शक्तियों का विशद एवं सुरुचिपूर्ण वर्णन ऋग्वेदादि में मिलने के कारण इन संहिताओं से अनेक दार्शनिक प्रस्थानों का जन्म हुआ है । परन्तु यदि ठीक से विचार किया जाय तो ऋग्वेद में आये हुए बहुदेववाद की कल्पना एकदेववाद या एकसत्तावाद की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं ।[1] गीताकार की दृष्टि में इनकी उपासना से वास्तव में परमेश्वर की ही उपासना होती है, तद्भिन्न अन्य देवताओं की अपनी कोई सत्ता नहीं है ।[2]

यद्यपि विश्वसत्ता अथवा संसार की प्रेरक शक्ति के अन्वेषण के फलस्वरूप ऐक्यवाद की निश्चित विचारधारा उपनिषदों में ही देखने को मिलती है । तथापि इस सिद्धान्त के कुछ विचार हमें बीजरूप में संहिताओं में भी मिलते हैं । ऐसी ऐक्यवाद की कल्पना जिसमें परमेश्वर का प्रकृति से अभेद माना जाता है तथा परमेश्वर प्रकृति में पूर्णतया व्याप्त है - का उत्कृष्ट उदाहरण ऋग्वेद का दशम् मण्डल

1- हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ऋग्वेद 8/7/3

2- येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

का पुरुषसूक्त है ।[1] अथर्ववेद के "स्कम्भसूक्त[2] और उच्छिष्ट सूक्त[3] में यह ऐक्यवाद और भी स्पष्ट हो जाता है । जिनमें कहा गया है कि ब्रह्मा का ही दूसरा नाम "स्कम्भ" है और वही स्कम्भ विश्व का कारण सर्वव्यापी एवं सर्वेश्वर है । इसी तरह उच्छिष्ट सूक्त में भी कहा गया है कि सकल दृश्य जगत् का सर्वथा निषेध कर देने पर जो कुछ बचता है वही उच्छिष्ट है और उच्छिष्ट वस्तुतः ब्रह्मा का दूसरा नाम है ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन का भी आविर्भाव वेदों के पदचिह्नों पर चलकर ही हुआ है । अतएव न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी उस शक्ति के रूप में जो कि संसार की सृष्टि करके उसको सुचारु रूप से सन्चालित करता है तथा जिसकी कृपा से प्रकृति अपने नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती, ईश्वर की कल्पना की गई है । भले ही उन शास्त्रों में उस सत्ता की वेदसम्मत अद्वैत के रूप में न होकर द्वैतरूप में अर्थात् आत्मा और परमात्मा के रूप में हुई हो । फिर भी इन शास्त्रों में भी आत्मा की दृष्टि से दोनों आत्माओं में एकता का स्थापन किया गया है ।

1- सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात,
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्,
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।

ऋग्वेद 8/4/17

2- अथर्ववेद काण्ड 10, सूक्त 7, 8

न्यायदर्शन में उस शक्ति की परमेश्वर के रूप में कल्पना न्यायदर्शन के आधारस्तम्भ न्यायसूत्र के प्रणेता महर्षि गौतम ने अपने न्यायसूत्र के तीन सूत्रों में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि पुरुषकर्मों का बहुधा नैष्फल्य देखा जाने से ईश्वर ही उस सृष्टि का कारण है।[1] इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार श्री वात्स्यायन ने कहा है कि पुरुष जो भी समीहापूर्वक प्रयत्न करता है उसका किया हुआ प्रयत्न हमेशा सफल नहीं होता। अतएव इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुष का कर्मफल परपुरुषाधीन है। अतएव इस कर्मफल के अधिष्ठाता को ही ईश्वर माना जाना चाहिए।[2] वही ईश्वर इस सृष्टि का आदि कारण भी है।[3]

परन्तु महर्षि गौतम का कहना है कि यदि कोई यह शङ्का करे कि यदि फलनिष्पत्ति परपुरुषाधीन होती तो किसी व्यक्ति के द्वारा बिना प्रयत्न के ही उसको फल प्राप्त होना चाहिए। परन्तु ऐसा वास्तव में होता नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता कि बिना प्रयत्न के फलनिष्पत्तिरूप लाभ

1- ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।

न्या०सू०4/1/19

2- पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति, तेनानुमीयते- "पराधीनपुरुषस्य कर्मफलाराधनम्" इति यदधीनं स ईश्वरः ।

न्या०भा०4/1/19

3- तस्मादीश्वरः कारणमिति ।

किसी को हो सके ।[1] अतएव गोतम ने खुद ही इस प्रकार की आशङ्का उठाकरके उसका समाधान भी खुद ही करते हैं । उनका कहना है कि पुरुषकर्म में ईश्वर सहायक कारक है, अतएव उपर्युक्त शङ्का समीचीन नहीं हो सकती ।[2]

भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि ईश्वर प्रयत्नकर्ता पुरुष पर प्रयत्न हेतु अनुग्रह करता है और फलप्राप्ति हेतु उसकी सहायता करता है । जब प्रयत्न करने पर भी अनुकूल फल नहीं मिलता तो यही समझना चाहिए कि ईश्वर का अनुग्रह नहीं है ।[3] भाष्यकार ने ईश्वर को जीवात्मा से भिन्न एवं सङ्ख्या आदि गुणों से युक्त बतलाया है । परन्तु यह ईश्वर जीवात्मा से भिन्न होने पर भी वास्तव में आत्मजातीय ही है, अतएव इसका परिगणन भी आत्माके ही अन्तर्गत किया गया है । ईश्वर में अधर्म, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद नहीं होते जब कि अणिमादि आठों ऐश्वर्य होते हैं । यह अपने संकल्पानुसार कर्म करने या न करने में समर्थ होता है ।[4]

1- न पुरुषकर्माभाव फलानिष्पत्तेः ।

न्या०सू०4/1/20

2- तत्कारितत्वादहेतुः ।

न्या०सू०4/1/21

3- पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति ।

न्या०भा०4/1/21

4- गुणविशिष्टमात्मान्तरम् ईश्वरः तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः । अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम् । संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः ।

न्या०भा०4/1/21

इस प्रकार से न्यायदर्शन में उसके प्रारम्भिक काल से ही ईश्वर विषयक परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है । न्यायसूत्रों के भाव को भाष्यकार वात्स्यायन ने विद्योतित करके ईश्वरविषयक विचारों को कुछ विस्तृत रूप प्रदान किया ईश्वरविषयक विचारों की यह परम्परा न्यायभाष्य के अनन्तर भी अविच्छिन्नरूप से गतिमती रही है । उद्योतकर ने न्यायभाष्य पर "न्यायवार्तिक" टीका लिखकर एवं वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक पर "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" लिखकर ईश्वर सम्बन्धीविवेचनों को और अधिक संवर्धित किया । इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप का वर्णन लगातार क्रमिक विकास की ओर अग्रसर रहा है । आगे चलकर न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीका पर "परिशुद्धि" टीका लिखने वाले आचार्य उदयन ने तो ईश्वर-सिद्धि के लिए एक विस्तृत प्रकरणग्रन्थ के रूप में "न्यायकुसुमाञ्जलि" नामक ग्रन्थ का प्रणयन ही कर दिया, जिसका एकमात्रप्रतिपाद्य ईश्वरसिद्धि ही है । "न्याय-मञ्जरी" नामक अपने ग्रन्थ में आचार्य जयन्तभट्ट ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण ढंग से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया है । इन लोगों के पश्चात् भी ईश्वरविषयकविवेचना का अन्त नहीं हुआ बल्कि नव्यन्यायान्तर्गत श्री गङ्गेशोपाध्याय ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "तत्त्वचिन्तामणि" में ईश्वरविवेचन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

कणाददर्शन में ईश्वरविषयक स्थिति न्यायदर्शन से कुछ भिन्न है, क्योंकि महर्षि कणाद ने अपने दर्शन में ईश्वर का स्पष्टरूप से उल्लेख नहीं किया है। वैशेषिक दर्शन में ईश्वरसत्ता को स्थापित करने का श्रेय प्रशस्तपाद को जाता है । वैशेषिक सूत्रों में स्पष्टरूप से ईश्वर का उल्लेख न होने से कुछ विद्वान् उन्हें अनीश्वर-वादी मानते हैं । परन्तु उनके विपरीतअन्य विद्वानों का कहना है कि वैशेषिक सूत्र

में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख न होने मात्र से यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि महर्षि कणाद अनीश्वरवादी थे । उनका कहना है कि किसी वस्तु के अनुक्तिमात्र से उसका अभाव नहीं निश्चित किया जा सकता, अपितु उसके अभाव की सिद्धि के लिए प्रयास भी किया जाना चाहिए । चूंकि वैशेषिकसूत्र में ईश्वर की असिद्धि हेतु भी कोई प्रयास नहीं किया गया है अतएव वैशेषिक सूत्र को अनीश्वरवादी कदापि नहीं माना जा सकता । बल्कि तन्त्रयुक्ति[1] के आधार उन्हें भी ईश्वरवादी स्वीकार किया जाना चाहिए । कुछ लोगों का कहना है कि चूंकि कणाद को विशेष आत्मा के रूप में ईश्वर अभीष्ट था, अतएव उन्होंने आत्मा से भिन्न रूप में ईश्वर की विवेचना नहीं की है, बल्कि ईश्वर भी आत्मा के विवेचन से ही विवेचित हो गया है ।

वास्तव में वैशेषिक सम्प्रदाय ने भी प्राचीन काल से ही कणाद के सूत्रानुसार ही संसार के निमित्त कारण के रूप में नित्य तथा सर्वज्ञ ईश्वर का समर्थन किया है । शारीरिक भाष्य में इस आशय का एक मन्तव्य शङ्कराचार्य ने भी प्रस्तुत किया है ।[2] जो भी हो लेकिन निष्कर्ष यह है कि कणाद के द्वारा किसी सूत्र में जगत्कर्ता ईश्वर के नामविशेष का उल्लेख न करने पर भी उससे यह प्रतिपादित नहीं होता है कि उन्होंने ईश्वर के विषय में कोई बाते नहीं कही है, क्योंकि ईश्वर के विषय में अनुमान प्रमाण दिखाने पर उसमें ईश्वर का नाम

1- परमतप्रतिसिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः । न्या०भा०1/1/4

2- तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति ।

शारी०भा02/2/37

नहीं कहा जा सकता है । सर्वज्ञत्व अथवा वेदकर्तृत्वरूप में ही ईश्वर का अनुमान हो सकता है, जब कि कणाद ने उनके विषय में अनुमान प्रमाण प्रदर्शित किया है। इसी तरह महर्षि पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में स्वमतानुसार सर्वज्ञ ईश्वर का अस्तित्वसाधक अनुमान प्रमाण ही प्रदर्शित किया है ।[1] किन्तु उसके द्वारा ईश्वर का नाम तथा अन्यान्य समूचे तत्त्वों की विशेष जानकारी नहीं होती है । अतएव भाष्यकार व्यासदेव ने वहाँ पर कहा है कि ईश्वर का नाम तथा अन्यान्य तत्त्ववेदादि शास्त्रों से जानने चाहिए ।[2] वैशेषिक दर्शन के पूर्वोक्त स्थल में कणाद का भी तात्पर्य उक्तरूप से समझा जाता है, क्योंकि उनके सूत्र "तस्मादागमिकम्"[3] इस सूत्र की अनुवृत्ति करके वायु की तरह ईश्वर का नाम आदि भी आगमिक होने के कारण वेदादि शास्त्रों से ही जानने योग्य है । सूत्रग्रन्थों में पूर्वकथित सूत्र की अनुवृत्ति सूत्रकारों को अभिमत होती ही है, क्योंकि उनको स्वल्पाक्षर से ही अधिकाधिक अर्थ को सूचित करना अभिप्रेत होता है । इसीलिए ऐसी कृतियों को सूत्र नाम की संज्ञा प्रदान की गई है ।[4] इसी प्रकार न्यायमञ्जरीकार ने भी

1- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।

योगसू0 1/25

2- तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या ।

यो0भा0 1/25

3- वै0 सू0 2/1/17

4- सूत्रञ्च बह्वर्थसूचनाद्भवति । यथाहुः- लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च । सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः इति भामती ।

भामती 1/1/1

कहा है कि स्वल्पाक्षरों से अधिक अर्थ को सूचित करना ही सूत्र है । तथा सूत्रकार का यही परम कौशल है कि वह स्वल्पाक्षरों वाले एक ही वाक्य से अधिकाधिक वस्तुओं को विद्योतित करें ।[1]

कुछ लोग कणाद दर्शन में ईश्वर का अभ्युपगम पाशुपत सम्प्रदाय के प्रभाव से मानते हैं ।[2] यद्यपि यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कणाद वास्तव में ईश्वरवादी थे या नहीं । लेकिन जगत्सृष्टि आदि की प्रक्रिया की स्पष्ट उपपत्ति के लिए अनुमानादि के आधार पर ईश्वर को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है, जैसा कि प्रशस्तपादभाष्यकार ने स्वीकार किया है ।

वैशेषिक सूत्र के कुछ व्याख्याकारों ने वैशेषिक सूत्र में भी ईश्वर को खोजने का प्रयास किया है । शङ्करमिश्र ने उपस्कार टीका में वैशेषिक सूत्र के "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" 1/1/3, 'संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्' 2/1/18, 'प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः' 2/1/19, 'सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः' 7/2/20 आदि सूत्रों में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का काम किया है । शङ्कर-मिश्र ने उपस्कार में स्पष्ट किया है कि वेद धर्म में प्रमाण एवं अभ्रान्तत्व से युक्त इसलिए हैं क्योंकि वेद नित्य निर्दोष परमाप्त ईश्वर से प्रणीत हुए हैं ।[3] वेद का

1- अनेकार्थसूचनादेवसूत्रमुच्यते, एतदेवसूत्रकाराणां परं कौशलं यदेकेनैव वाक्येन स्वल्पैरेवाक्षरैनेकवस्तु समर्पणम् । न्या०म०भाग । पृ042

2- कणादानाम् ईश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत् ।

युक्ति दीपिका ।

3- तथा च तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम् ।

प्रामाण्य भी ईश्वरकर्तृक होने से है ।[1]

वेद के कर्तारूप में स्वीकार करते हुए शङ्कर मिश्र कहते हैं कि उसी पुरुष विशेष को वेद का कर्ता कहना होगा जो वेद में उक्त स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदिकों के प्रत्यक्षज्ञान का आधार हो । ऐसा वक्ता आप्तपुरुष ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता ।[2] उन्होंने "संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्" के भाष्य में स्पष्ट किया है कि सांसारिक पदार्थों का नामकरण तथा जगत् कार्य की रचना यह दोनों हम जैसे अल्पज्ञ सांसारिक प्राणियों की अपेक्षा अतिशयित शक्ति वाले ईश्वर तथा योगी आदिकों के साधक लिङ्ग हैं ।[3] उन्होंने जगत् कार्य को भी ईश्वर के अनुमान में लिङ्ग मानते हुए कहा है - क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति ।[4]

उनका कहना है कि ईश्वर ने जिस शब्द का जिस अर्थ में सङ्केत किया है वह शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है । ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ

1- उप० 10/2/9

2- न चास्मदादयस्तेषां सङ्ग्राखावच्छिन्नानां वक्तारः सम्भाव्यन्ते, अतीन्द्रियार्थत्वात्, न चातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽस्मदादयः ।

उप० 10/2/9

3- संज्ञा-नाम, कर्म-कार्यं क्षित्यादि, तदुभयमस्मद्विशिष्टानां ईश्वरमहर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम् ।

उप० 2/1/18

4- एवं कर्मापि कार्यमपीश्वरे लिङ्गं तथाहि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्

दोनों के बीच का सम्बन्ध जिसे "समय" भी कहते हैं-ईश्वर के अधीन है ।[1] इस प्रकार उपस्कार में कुछ वैशेषिक सूत्रों को शङ्करमिश्र ने ईश्वरास्तित्व के पक्ष में स्वीकार किया है ।

प्रशस्तपादभाष्य तथा उसकी टीकाओं में जगत् की उत्पत्ति, विनाश एवं वेदों के कर्तारूप में ईश्वर की स्थापना उपस्कार भाष्य के लिखे जाने के पहले ही की जा चुकी है । ईश्वर के विषय में विस्तृत निरूपण वैशेषिक के क्षेत्र में उपस्कार से पर्याप्त पहले हो चुका था, जिसका विवरण अगले अध्यायों में किया जायेगा ।

ईश्वरवाद की आवश्यकता एवं उसका औचित्य

न्याय-वैशेषिकदर्शनगत ईश्वरवाद की समुचित व्याख्या के उपरान्त साधारणतः जन-मानस में ईश्वरविषयक विचारधारा के सम्बन्ध में कई प्रकार के प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसे कौन से कारण हैं जिन्होंने न्याय-वैशेषिक मतावलम्बियों को अपने-अपने दर्शनों में ईश्वर को समुचित स्थान प्रदान करने के लिए बाध्य किया ? इन प्रश्नों का उचित उत्तर साधारण पाठक को भी न्याय-वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थपरिशीलन से स्वयमेव ही मिल जाता है, जिनके वशीभूत होकर

1- समय ईश्वरसङ्केतः-अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः, यः शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति, तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः ।

उप07/2/20

इन लोगों ने अपने ग्रन्थों में ईश्वर की परिकल्पना की है। न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त ईश्वरविषयक मान्यताओं के पीछे जो तथ्य समझ में आते हैं उनमें मुख्यतया निम्न हैं -

1- <u>जगदुत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के सम्पादनार्थ-</u>

न्याय-वैशेषिकों के सामने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के प्रेरक रूप में कोई उचित निमित्त कारण सूझ नहीं पड़ा क्योंकि जगत् के उपादान कारण परमाणु स्वयं अचेतन है । अतएव उन परमाणुओं में बिना किसी चेतन पदार्थ में आश्रित प्रयत्न के स्वयं गति नहीं उत्पन्न हो सकती जिससे कि द्व्यणुक, त्रसरेणु के क्रम से जगदुत्पत्ति सम्भव हो सके । साथ ही साथ उसकी स्थिति के लिए धारक प्रयत्न और विनाश के लिए भी अपेक्षित प्रयत्न का उनमें अभाव है । उनकी दृष्टि में जीवात्मारूप चेतन के प्रयत्न से इस अचिन्त्य संसार की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और न तो बिना चेतनप्रयत्न के जगदुत्पत्ति ही हो सकती है । जगदुत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन पुरुष के द्वारा ही सम्भव है। अतएव उन्होंने उस चेतन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कल्पना की है, जिसके नित्य प्रयत्न से इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं उसका विनाश सम्भव हो सकता है । गीता में भी कहा गया है कि कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्पादि में उनको मैं फिर रचता हूँ ।[1]

1- सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। गी09/7

2- वेदप्रामाण्य स्थापन हेतु -

चूँकि न्याय-वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति वेद को अप्रामाण्य मानने वाले जैन बौद्धादि के विचारों के समानान्तर वेद प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए हुई थी, अतः वेदप्रामाण्य की सत्यता के स्थापन हेतु उन्हें सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा । इस विषय में न्याय-वैशेषिकों के सिद्धान्तों का टकराव मुख्यरूप से मीमांसकों के सिद्धान्तों से हुआ । यद्यपि मीमांसक भी वेद-प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं परन्तु वे वेद को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं ।

चूँकि नैयायिकों और वैशेषिकों के सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही अपने सिद्धान्तरूप में व्यवहृत हुए अतएव तर्कानुसार वे वेद को सर्वज्ञ कर्तास्वरूप ईश्वर की रचना मानते हैं । उनका कहना है कि चूँकि वेद शब्दरूप हैं । अतएव शब्दों की अनित्यता से वेद भी अनित्य होंगे । अतः वर्तमान सृष्टि में उनकी किसी प्रकार से अविच्छिन्न धारा के रूप में सत्ता स्वीकार की जा सकती है, परन्तु प्रलयकाल में वे वेद अवश्य ही विनष्ट हो जायेंगे । तब प्रलय के अनन्तर होने वाली सृष्टि में वेदों का अवश्य ही अभाव हो जायेगा । अतएव पूर्वसृष्टिकालीन वेदों के प्रलयकाल में विनाश हो जाने पर वर्तमान सृष्टिकालिक उपलब्ध वेदों की रचना सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा ही स्वीकृत हो सकती है । क्योंकि यदि इनकी रचना किसी असर्वज्ञ अस्मदादि जैसे लोगों से मानेंगे तो उसके कर्ता के असर्वज्ञ होने से वेदों का प्रामाण्य बाधित हो जायेगा । अतएव वेदों के प्रामाण्य

एवं उनको पौरुषेय सिद्ध करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी । इसी आधार पर इन्होंने वेदों के प्रामाण्य तथा सभी प्रमाणों के प्रामाण्य को परतः स्वीकार किया है ।

3- <u>वर्ण-व्यवस्था के सम्पादन के लिए</u> -

वर्ण व्यवस्था के सन्चालनार्थ भी न्याय-वैशेषिकों को ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा है । चूँकि न्याय- वैशेषिकों के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति और विनाश अवश्यम्भावी है । अतः सृष्टि के आदि काल में ईश्वराभाव में वर्णनिर्धारण की समस्या खड़ी हो जायेगी, क्योंकि प्रलयकाल में सभी वर्णों के विनाश के बाद उत्पत्ति काल में ब्राह्मणादि का निर्धारण करना असंभव हो जायेगा । उस समय पूर्वसृष्टि के ब्राह्मणादि वर्णों में से कोई भी स्थित नहीं होगा कि तत्तज्जातीय माता पिता से उत्पन्न सन्तान को तत्तज्जातीय घोषित किया जाय । यदि सर्गादिकाल में वर्ण-व्यवस्था का निर्धारण नहीं होगा तो वैदिक विधि से विहित यज्ञादि क्रियाओं को कार्यान्वित करना असम्भव हो जायेगा अतएव न्याय-वैशेषिकों को सृष्टि के आदि में वर्णनिर्धारण के निमित्तरूप में ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी ।

4- <u>शक्ति सङ्केतक के रूप में</u> -

न्याय-वैशेषिकों को इसलिए भी ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी कि सृष्ट्यादि में यदि ईश्वर की कल्पना नहीं कि जायेगी तो सृष्ट्युत्तरवर्ती काल में संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्धरूप शक्तिग्रह के अभाव में लोकव्यवहार अनुपपन्न हो

जायेगा, क्योंकि उस समय शक्तिज्ञान कराने वाला कोई वृद्ध उपस्थित नहीं रहेगा, जिसको शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान हो । अतएव ईश्वर की सत्ता की कल्पना करने पर इस समस्या का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि वह ईश्वर स्वयं प्रयोज्य और प्रयोजक का रूप धारण करके कठपुतली और मायावी की तरह अव्युत्पन्न लोगों के लिए शक्तिज्ञान के मार्ग को प्रशस्त कर देगा, जिससे लोक-व्यवहार की उपपत्ति संभव हो जायेगी । वैशेषिक सूत्रकार ने इसी ध्येय से कहा है कि संज्ञा, कर्म आदि अस्मदादि से विशिष्ट पुरुष के लिङ्ग है ।[1] शङ्करमिश्र ने वैशेषिक सूत्र के संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्" की टीका में कहा है कि सांसारिक पदार्थों का नाम रखना तथा जगत् रूप कार्य की रचना करना यह दोनों हम जैसे सांसारिक प्राणियों से अतिशयित शक्ति वाले ईश्वर तथा योगी आदि कों का साधक लिङ्ग है ।[2] उनके अगले सूत्र "प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मणः"[3] में शङ्करमिश्र का कहना है कि जिस विशिष्ट आत्मा को स्वर्ग अदृष्ट आदि प्रत्यक्ष होते हैं । वही उनका स्वर्ग, अदृष्ट आदि नाम रख सकता है, क्योंकि चैत्र मैत्रादि नाम के शरीरों में उनके माता-पिताओं ने उनका चैत्र मैत्र ऐसा नाम रखा है -ऐसा देखने में आता है । ऐसा होने से घट-पट इत्यादि सांसारिक पदार्थों

1- संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । वै०सू० 2/1/18

2- संज्ञा-नाम, कर्म-कार्यं क्षित्यादि, तदुभयमस्मद्विशिष्टानाम् ईश्वरमहर्षीणां सत्वेऽपि लिङ्गम् । उप02/1/18

3- वै०सू02/1/19

का नाम रखना ईश्वर की इच्छारूप सङ्केत के ही अधीन है । जो शब्द जिस पदार्थ में ईश्वर ने "इसे घट कहना', 'इसे पट कहना' इत्यादि इच्छारूप सङ्केत से सूचित किया है वही उस अर्थ के बोध में साधु है । जिस प्रकार "जो कोई औषधि नेवले के दाढ़ के अग्रभाग से स्पर्श की जाती है वह सम्पूर्ण औषधि सर्प के विष को नष्ट करती है" ऐसी संज्ञा करना हमारे ऐसे जीवात्माओं से अधिक शक्ति वाले आयुर्वेद प्रवर्तक धन्वन्तरि आदिकों के सिद्धि का साधक है तथा जो चैत्र मैत्र इत्यादि नाम पुत्र का पिता से रखा जाता है वह भी "द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्" अर्थात् 'बारहवें दिन पिता पुत्र का नामकरण करे' इत्यादि सामान्यरूप से धर्मशास्त्र की विधि से ईश्वरप्रेरित ही है-यह निश्चित है । अतः यह सिद्ध होता है कि नाम रखना ईश्वर का साधक लिङ्ग है ।[1] उन्होंने "सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः"[2] की व्याख्या में कहा है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में भगवान् ने सङ्केत किया है, वह शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है । ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ दोनों का सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा से ही है । यह समय ईश्वर के अधीन है ।[3] इन्होंने सामयिक का अर्थ "ईश्वर का सङ्केत" किया है।[4]

1- तथाहि यस्य स्वर्गापूर्वादयः प्रत्यक्षाः स एव तत्र स्वर्गापूर्वादि संज्ञाः कर्तुमीष्टे प्रत्यक्षे चैत्रमैत्रादि पिण्डे पित्रादेश्चैत्रमैत्रादिसंज्ञा निवेशनवत् । एवञ्च घट-पटादि संज्ञा निवेशनवत् । एवञ्च घट-पटादि संज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसङ्केताधीनमेव यःशब्दो यत्रेश्वरेण सङ्केतितः स तत्र साधुः---इत्यादि विधिना नूनमीश्वरप्रयुक्तेव तथा च सिद्धः संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । उप02/1/19

2- वै0सू07/2/20

3- यःशब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति, तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः । उप07/2/2

4- समयः ईश्वरसङ्केतः-अस्माच्छब्दादयमर्थो बोधव्य इत्याकारः।
उप07/2/20

5- घटादि निर्माण के शिक्षक के रूप में -

ईश्वर को स्वीकार करना नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इसलिए भी आवश्यक समझा कि जिससे सृष्टि के आदि में वह ईश्वर घटनिर्माण आदि की प्रक्रिया को स्वयं कुलालादि का शरीर धारण करके उपर्युक्त विधि से लोगों को शिक्षित कर सके और तदनन्तर शिक्षित व्यक्तियों से घटादि निर्माण में समर्थ व्यक्तियों की परम्परा चल सके ।

6- मोक्षप्राप्ति में सहायक के रूप में -

न्याय-वैशेषिकों ने ईश्वर को जीवों के मोक्ष प्राप्ति में सहायक बताया है । इनका कहना है कि ईश्वर मनन से उत्पन्न अदृष्ट द्वारा जीवों को मोक्ष प्राप्ति हो सकती है ।

यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि ईश्वरमनन मोक्ष के प्रति कैसे साधन हो सकता है क्योंकि "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" आदि श्रुतियों में तो केवल आत्मसाक्षात्कार को ही मोक्ष का हेतु माना गया है । यहाँ पर आत्मन् शब्द जीवात्मापरक है ।

इस शङ्का के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति दो प्रकार से सम्भव है । एक तो आत्मा का साक्षात्कार करके और दूसरा प्रकार है ईश्वरमनन के द्वारा ।[1] ईश्वर के मनन से अदृष्टोत्पत्ति होगी जिससे आत्म-

---

1- ईश्वरमनन वादृष्टद्वारा स्वात्मसाक्षात्कारद्वारा वा मुक्तौ हेतुः ।
विवृति

साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होगी जिसके फलस्वरूप जीवात्मा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है । नैयायिक ईश्वरमनन द्वारा मोक्ष प्राप्ति को सिद्ध करने के लिए श्रुतिप्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं । उनका कहना है कि "ईशावास्यमिदं सर्वं" इत्यादि ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र में स्पष्टरूप से ईश्वर का उल्लेख हुआ है और तदनन्तर आये हुए "तमेव विदित्वा"[1] इस मन्त्र में प्रयुक्त सर्वनाम "तम्" से उस ईश्वर का ही ग्रहण होता है, जिससे श्रुति मोक्ष प्राप्ति का कथन करती है । इस प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार भी मोक्ष का हेतु हो सकता है । न्यायसूत्रकार गौतम ने भी "तत्कारितत्वादहेतुः"[2] से यही बतलाना चाहा है कि जीव के धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा करते हुए जगत् के कर्ता परमेश्वर ही सभी कर्मों के कराने वाले तथा फल देने वाले हैं । उनके अनुग्रह के बिना किसी को किसी भी कर्म में सफलता नहीं मिल सकती है । इसलिए उसके अनुग्रह के बिना मुक्ति भी नहीं मिल सकती है । उदयनाचार्य तो ईश्वर का निरूपण करने वाले अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय-कुसुमाञ्जलि को ही "अमृतरस प्रस्यन्दमाध्वीवस्तु"[3] अर्थात् मोक्ष का उत्पादक कह डाला है क्योंकि प्रकृतग्रन्थ के द्वारा ईश्वर मनन रूप प्रक्रिया

1- श्वेता० 3/8 एवं 6/15

2- न्या०सू० 4/1/21

3- न्या० कु० 1/1

से ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है जिसकी उपासना को स्वर्गतुल्य जीवन्मुक्ति और परममुक्तिरूप दो प्रकार के अपवर्गों का मार्ग बताया गया है ।[1] माधवाचार्य ने भी यह स्वीकार किया है कि जीवात्मा को निःश्रेयस् की प्राप्ति परमेश्वर के अनुग्रह से ही सम्भव है ।[2] महाभारत में भी कहा गया है कि जीवात्मा के सुख और दुःख की व्यवस्था ईश्वर के हाथ में है, जो जीवों को कभी स्वर्ग एवं कभी नर्क भेजता है । ईश्वर के जागने पर सृष्टि एवं निद्रित होने पर प्रलय होती है ।[3]

1- स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ।।

न्या०कु० 1/2

2- तस्मात् परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेणात्मतत्त्वसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम् ।

स०द०सं०[अक्षपाद दर्शनम्] पृ०429

3- अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।

महाभारत वनपर्व 30/28

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ।।

न्या०वा०4/1/2। पृ047। में उद्धृत

प्रशस्तपाद ने प्रशस्तपादभाष्य में कहा है कि निःश्रेयस् की प्राप्ति ईश्वर की विशेष प्रकार की इच्छा से कार्य करने में उन्मुख धर्म से होती है।[1] वैशेषिक सूत्र में कहा गया है कि धर्म विशेष से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।[2] परन्तु यहाँ यह शङ्का होती है कि जब मोक्ष की प्राप्ति द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान से होती है, तब तो धर्म निःश्रेयस् की प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता। परन्तु यदि ऐसा मान लेंगे तो सूत्र का विरोध होगा क्योंकि कणाद ने कहा है कि जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है।[3] इसी सूत्रविरोध के परिहारार्थ भाष्यकार प्रशस्तपाद ने "तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्तद्धर्मादेव" कह कर किया है। जिसका अभिप्राय यह है कि निःश्रेयस् की प्राप्ति धर्म से ही होती है, किन्तु द्रव्यादि तत्त्वज्ञान धर्म का कारण है इसलिए परम्परा से मोक्ष का भी कारण है।[4]

1- तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव।

प्र०पा०भा०पृ०2

2- धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वै०सू० 1/4

3- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

वै०सू० 1/2

4- तन्निःश्रेयसं धर्मादेव भवति, द्रव्यादितत्त्वज्ञानं तस्य कारणत्वेन निःश्रेयस-साधनमित्यभिप्रायः।

न्या०क० पृ० 18

पदार्थों के यथार्थज्ञान से वाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं में दोष बुद्धि उत्पन्न होती है, क्योंकि ये सभी दुःख के कारण हैं। दोष बुद्धि के उत्पन्न होने पर वैराग्य की उत्पत्ति होती है तब फिर वह व्यक्ति धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों में कथित निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ आत्मज्ञान का अभ्यास करता है। इनआचरणों से निवृत्तिजनक धर्म की वृद्धि होने पर जब आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है, तब उस आत्मा का शरीरके साथ अत्यन्त वियोग स्वरूप मोक्ष की उत्पत्ति होती है। परन्तु धर्म भी तब तक अकेला मोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता जब तक कि उसे ईश्वर की इच्छा की सहायता न मिले।[1] इसीलिए प्रशस्तपाद को "तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव" यह वाक्य लिखना पड़ा। "चोद्यन्ते स्वकार्येषु प्रेर्यन्तेऽनया भावाः" इस व्युत्पत्त्यनुसार जिस इच्छा से कारणरूप वस्तु अपने कार्यों में उसके उत्पादन के लिए प्रेरणा प्राप्त करें वही इच्छा चोदना शब्द का अर्थ है। "ईश्वरस्य चोदना" इस विग्रहानुसार ईश्वर की इच्छा ही ईश्वर चोदना शब्द का अर्थ है। इस प्रकार से यह अर्थ निकलता है कि ईश्वर के इच्छा-विशेष से कार्य के प्रति उन्मुख धर्म से ही मुक्ति होती है।[2] "तच्च" शब्द में प्रयुक्त "च" शब्द इस समुच्चय का बोधक है कि पदार्थों के साधर्म्यादिरूप तत्त्वविषयक ज्ञान के साथ मिलकर ही धर्म में मोक्ष की साधनता है।[3] इसी बात का समर्थन

1- धर्मोऽपि तावन्न निःश्रेयसं करोति यावदीश्वरेच्छया नानुगृह्यते।
न्या०क०पृ०19

2- ईश्वरचोदनयाभिव्यक्तादीश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् ईश्वरेच्छाविशेषेण कार्यारम्भाभिमुखताद्धर्मादेव निःश्रेयसं भवति। न्या०क०पृ०19

3- तच्चेति चकारो द्रव्यादि साधर्म्यज्ञानेन सह धर्मस्य निःश्रेयसहेतुत्वं समुच्चिनोति
न्या०क०पृ०19

वृत्तिकार[1] एवं सेतुकार[2] ने भी किया है। व्योमवतीकार ने भी कहा है कि तत्त्वज्ञान ईश्वर की चोदना से अभिव्यक्त धर्म से ही होती है।[3] उदयनाचार्य ने किरणावली में कहा है कि ईश्वर की चोदना अर्थात् उसका उपदेश जो कि वेद-नाम से प्रसिद्ध है-उसके द्वारा अभिव्यक्त अर्थात् प्रतिपादित धर्म से ही निःश्रेयस प्राप्त होता है।[4] माधवाचार्य ने कहा है कि बुद्धिमान लोग दुःख से छुटकारा पाने का उपाय खोजते हैं और उन्हें उस दुःख के विनाश के उपायरूप में परमेश्वर

1- तथा च ईश्वरदेशनया वेदेनाभिव्यक्ताद् प्रतिपादितादात्मधर्मिकश्रवणमनना-द्यात्मक धर्मादपि निःश्रेयसमित्यर्थः।

वृ०पृ०20

2- एवञ्च वेदात्मकेश्वरोपदेशाच्छुतिम्नः कामकर्मणः साधर्म्यादिना च तत्त्वसाक्षात्कारो भवतीति सिद्धम्।

से० पृ० 20 ब

3- तच्च तत्त्वज्ञानमीश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव भवति ------------ ईश्वरस्य चोदना संकल्पविशेषोऽस्येदमस्मात्सम्पद्यतामिति। तयाभि-व्यक्तात्सवकृताद्धर्मात्तत्त्वज्ञानमिति।

व्यो०पृ०33

4- ईश्वरस्य चोदना उपदेशो वेद इति यावद् तेनाभिव्यक्ताद् श्रुतिप्रतिपाद-धर्मादिवेत्यर्थः।

किर०पृ०99

का साक्षात्कार करना ही दीक्षा है ।[1] शङ्कराचार्य ने भी माहेश्वरों के विचार को अपने शारीरिकभाष्य में उद्धृत किया है । उनका कहना है कि माहेश्वरों का मन्तव्य है कि महत्त्वादिरूप कार्य, ईश्वरप्रधानरूप कारण, धारणाध्यानसमाधिरूप योग, धर्माधर्मक व्यापाररूप विधि और मोक्षरूप दुःखान्त-ये पाँच पदार्थ पशुपतिरूप ईश्वर से जीवों के बन्धरूप पाशों के नाश के लिए उपदिष्ट हैं और पशुपतिरूप ईश्वर उनका निमित्त कारण है ।[2] ब्रह्मानन्द ने परमेश्वर की स्तुति में कहा है कि मैं कब तुमको अपने हृदय में संयतमन से भजता हुआ अमङ्गलमय एवं सर्वदा दुःखयुक्त इस संसार से विरक्त होकर उस शान्ति को प्राप्त करूँगा जिसको कि महामुनियों ने पाया है । उनका कहना है कि हे भवबन्धन से मुक्त करने वाले भगवन् । तुम दया करके मुझे वही शान्ति दो ।[3] ब्रह्मानन्द की ऐसी स्तुति से

1- इह खलु निखिलप्रेक्षावान् निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारमुपायमाकलयति ।

सं०द०सं०औलूक्य दर्शन पृ०336

2- माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्चपदार्थाः पशुपतिने-श्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति ।

शारी०भा०2/2/37

3- कदाहं भो स्वामिन्नियतमनसा त्वां हृदि भज-

न्नभद्रे संसारे ह्यनवरतदुःखेऽतिविरसः ।

लभेयं तां शान्तिं परममुनिभिर्या ह्यधिगता,

दयां कृत्वा मे त्वं वितर परशान्तिं भव हर ।।

परमेश्वरस्तुतिसारस्तोत्रम् 3

भी सिद्ध होता है कि मुक्ति के प्रति ईश्वर-पूजन भी कारण है । विष्णु पुराण में कहा गया है कि उन भगवान विष्णु के प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में कौन पदार्थ दुर्लभ हैं ? धर्म, अर्थ और काम की प्रार्थना करना व्यर्थ है क्योंकि वे बहुत थोड़े हैं एवं अस्थायी हैं । अनन्त ब्रह्मवृक्ष पर आश्रित रहकर मुक्ति के इच्छुक लोग निःसन्देह मुक्तिरूपी फल प्राप्त करते हैं ।[1] सर्वदर्शन संग्रह के पूर्णप्रज्ञदर्शन में कहा गया है कि बिना विष्णु की कृपा के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी उल्लेख है कि जब चमड़े की तरह आकाश को लोग ढकने लग जाय तभी शिव अर्थात् परमेश्वर को जाने बिना ही दुःख का अन्त होने लगेगा ।[3] इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश को चमड़े से नहीं ढका जा सकता, उसी प्रकार शिव के ज्ञान के बिना मुक्ति पाना असम्भव है । नारायण श्रुति में उल्लेख आया है कि जिनकी कृपा पाकर परम दुःखरूपी इस संसार से लोग मुक्त हो जाते हैं, दूसरे लोग अर्थात् कृपा प्राप्त न करने वाले नहीं । इस कर्मजाल से

1- तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ताद् निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति ।।
वि०पु० 1/17/91

2- मोक्षश्च विष्णुप्रसादमन्तरेण न लभ्यते ।
स०द०सं०पूर्णप्रज्ञदर्शन पृ०233

3- यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।
श्वेता06/20

मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उस परम नारायण का चिन्तन करना चाहिए।[1] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद में उल्लेख किया गया है कि परमेश्वर ही जिस मनुष्य को ऊपर के लोकों में पहुचाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है तथा जिस मनुष्य को नीचे ले जाना चाहता है, उससे दुष्ट कर्म कराता है ।[2] कठोपनिषद में कहा गया है कि प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप रहित अव्यय तथा रसरहित, नित्य, गन्धरहित, अनादि, अनन्त, महत्व से पर, ध्रुव जो तत्त्व है, उस आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख से छूट जाता है ।[3] हंसोपनिषद में कहा गया है कि यह परमात्मा सभी शरीरों में व्याप्त रहता है जैसे कि काठ में आग अथवा तिलों में तेल । उसको जानकर कोई

1- यस्य प्रसादात्परमार्त्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण ।
नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात् ।।
नारायणश्रुति ।

2- स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते ।
कौषी० 3/9

3- अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।
कठो० 1/3/15

मृत्यु को नहीं प्राप्त होता ।[1] शाण्डिल्योपनिषद् में उल्लेख आया है कि जो निरन्तर उनका ध्यान करता है वह सर्वपापों से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है।[2] इसी तरह से योगसूत्रकार[3] एवं शङ्कराचार्य[4] भी ईश्वर की कृपा से ही मोक्ष पाना स्वीकार करते हैं । गीता में भी कहा गया है कि "ओऽम्" इस एक अक्षर-रूप ब्रह्म के नाम का उच्चारण करता हुआ और ओङ्कार के अर्थस्वरूप मुझको स्मरण करता हुआ जो मनुष्य शरीर को छोड़ता है वह परमगति को प्राप्त हो जाता है ।[5]

1- सर्वेषु देहेषु व्याप्तं वर्तते तथा अग्निं काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा न मृत्युमेति ।

ईशोपनिषद् 5

2- एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम् ।

स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ।।

शाण्डिल्यो0 3/2

3- ईश्वरप्रणिधानाद् वा ।

यो0सू01/23

4- तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवति ।

शारी0भा02/3/4।

5- ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

गी08/13

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि नैयायिकों ने उपर्युक्त जिन कारणों से ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, वह ठीक ही है। कारण कि उपर्युक्त सभी कार्यों का कर्तृत्व ईश्वरातिरिक्त अन्य किसी में भी सम्भव नहीं है। अतः उक्त समस्त कार्यों के सम्पादन हेतु अस्मदादि से अतिशयित शक्ति एवं बुद्धियुक्त चेतन की कल्पना करना परम आवश्यक है। साथ ही उनका यह मन्तव्य अनेक श्रुतियों, पुराणों एवं अन्य ईश्वरवादी दार्शनिक मतावलम्बियों के द्वारा भी स्वीकार्य है।

यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वरविषयक अवधारणा का सूत्रपात उपर्युक्त कारणों से ही हुआ है। परन्तु इस अवधारणा का विकास बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा दर्शन के विकास के साथ-साथ उनके साथ होने वाले संघर्ष से भी पर्याप्त-रूप से प्रभावित हुआ, जिनमें बौद्धों के संघर्ष की उपादेयता सर्वाधिक रही है। बौद्ध-दार्शनिकों ने समय-समय पर न्याय-सिद्धान्तों का खण्डन किया जिसके प्रत्युत्तर में नैयायिकों एवं वैशेषिकों के द्वारा भी प्रकृष्ट ग्रन्थों की रचना करके न्याय-वैशेषिक दर्शन को संवर्धित किया गया।

यद्यपि वैदिक प्रामाण्यवादी नैयायिकों का बौद्ध दार्शनिकों के साथ संघर्ष की परम्परा का उदय अक्षपाद के न्यायसूत्रों की रचना के बाद से ही आरम्भ हो गया था, क्योंकि न्यायसूत्र पर 300ई० के लगभग बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने आक्षेप किये हैं। 400 ई० के लगभग वात्स्यायन ने न्यायसूत्र पर "न्याय-भाष्य" लिखकर नागार्जुन के मत का खण्डन किया है। तत्पश्चात बौद्धाचार्य

दिङ्नाग ने 500 ई0 के लगभग जब वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया तब उसके उद्धार के लिए 635 ई0 लगभग उद्योतकराचार्य ने न्यायभाष्य पर "न्यायवार्तिक" नामक टीका की रचना की । उस न्यायवार्तिक की रचना हो ही पाई थी, कि 635 से 650 ई0 के लगभग धर्मकीर्ति ने पुनः उसका खण्डन प्रारम्भ कर दिया, तब 841 ई0 के लगभग श्री वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक पर "तात्पर्यटीका" लिखकर धर्मकीर्ति आदि बौद्धों के दुस्तर कुनिबन्धरूप पङ्क में फंसी हुई उद्योतकर की अत्यन्त वृद्ध गौवों की रक्षा करके पुण्यलाभ प्राप्त किया । तत्पश्चात् बौद्धाचार्य कल्याणरक्षित और धर्मोत्तराचार्य ने क्रमशः 829 तथा 847 ई0 के लगभग वाचस्पतिमिश्र की "तात्पर्यटीका" का भी खण्डन कर दिया जिसके प्रत्युत्तर का दायित्व उदयनाचार्य पर आ पड़ा । उन्होंने इसका उत्तर "न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकापरिशुद्धि" नामक ग्रन्थ लिखकर दिया । इन्होंने ईश्वरसाधनहेतु "न्यायकुसुमाञ्जलि" की रचना कल्याणरक्षित की "ईश्वरभङ्गकारिका" के उत्तर में की/आचार्य उदयन की यह कृति ईश्वरविषयक अवधारणा की चरम परिणति है । कल्याणरक्षित ने "ईश्वरभङ्गकारिका" में ईश्वर का खण्डन करने का दुस्साहस किया था । उदयनाचार्य के समान जयन्तभट्ट ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "न्याय-मञ्जरी" में ईश्वर सिद्धि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है । उदयनाचार्य के बाद बौद्धों की परम्परा लगभग समाप्त हो गई, फिर भी न्यायदर्शन में ईश्वरविषयक विचारधारा समाप्त नहीं हुई, बल्कि वह नव्य-न्याय में भी अपना स्थान बनाये है । गङ्गेशोपाध्याय ने अपने अद्वितीय ग्रन्थ "तत्त्वचिन्तामणि" में भी ईश्वर का विवेचन किया है ।

अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि न्याय-वैशेषिकों ने जिन कारणों से अपने दर्शन में ईश्वर की मीमांसा की है, उसका औचित्य क्या है ? क्योंकि जब उस परमेश्वर को सभी लोग किसी न किसी रूप में मानते हैं तो उस जगन्निर्माता

1-(क- देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

ब्र०सू०शा०भा०पृ०31-33

(ख) इय यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकार्यमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेव जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः ?

न्या०कु०प्र०14-19

(ग) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

ईश्वर के विषय में कोई सन्देह ही नहीं है । अतएव उनके द्वारा अपने दर्शन में ईश्वर का निरूपण करना पिष्टपेषण मात्र होने से उचित नहीं प्रतीत होता है । क्योंकि श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण आदि में अनेकधा परमात्मा का श्रवण होने से उसके स्वरूपादि का पूर्णज्ञान प्राप्त हो जाता है । अतएव उसका अनुमान करना ही व्यर्थ है ।

इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य का कहना है कि परमात्मा की अनुमान के द्वारा हम श्रुति में विहित नियमानुसार श्रवण के बाद मननरूप उपासना ही कर रहे हैं ।[1] क्योंकि "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"[2] के अनुसार श्रुति आदि से श्रवण के अनन्तर अनुमानादि से उसका मनन करने एवं उसके बाद उसका ध्यान करने का विधान है । इस तरह तीन प्रकार से ज्ञान को परिमार्जित करके उत्तम योग को प्राप्त किया जा सकता है ।[3] मनु ने भी कहा है । कि जो पुरुष

1- न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
   उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ।।

न्या0कुसु0 1/3

2- बृह02/4/5 एवं 4/5/6

3-(क) आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
   त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।

(ख) श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
   मत्वा च सततं ध्येयमेते दर्शनहेतवः ।।

वेदादि शास्त्रों की अविरोधी तर्कों के द्वारा धर्म को समझते हैं अर्थात् धर्म, ईश्वर प्रभृति अलौकिक अर्थों के ज्ञापक एवं ऋषि प्रणीत धर्मोपदेशरूप वेदादिशास्त्रों का अनुसन्धान करते हैं, वे ही धर्म के प्रकृष्ट जानकार हैं । इसके विपरीत जो केवल तर्क केही द्वारा कथित धर्म को समझने का प्रयास करते हैं, वे धर्मज्ञ नहीं हैं ।[1] अतः ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा भी किया जाना चाहिए ।

यहाँ यह पुनः यह प्रश्न उठता है कि अनुमानादि से किसी वस्तु का ज्ञान तब किया जाता है जब कि उसके विषय में सन्देह हो ।[2] परन्तु यहाँ पर तो श्रुति स्मृतियों से श्रवणोपरान्त ईश्वरविषयक समस्तज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नही है । अतएव ऐसे स्थलों में अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

इस पर नैयायिकों का कहना है कि साध्य की सिद्धि न तो स्वयं अपना विरोधी है क्योंकि एक ज्ञान के बाद भी द्वितीयादिक्षण में उस ज्ञान का धारावाहिक ज्ञान होते देखा जाता है, तथा वह अनुमिति का भी विरोधी नहीं है । न्यायभाष्यकार ने भी कहा है कि किसी साध्य की सिद्धि एक प्रमाण से तो किसी की सिद्धि अनेक प्रमाणों से भी होती है । उन्होंने ऐसे कई उदाहरण भी

1- आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।। मनु०12/106

2- नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे ।
न्या०भा०1/1/1 पृ06

न्यायभाष्य में प्रस्तुत किये हैं ।[1] न्यायमञ्जरीकार ने भी प्रमाणसम्प्लव को स्वीकार किया है ।[2] इसलिए शब्दप्रमाण से ईश्वर की सिद्धि होने पर भी उसके विषय में संशयाभाव अनुमान का बाधक नहीं है ।[3] अतएव अनुमान द्वारा उसके मनन का

1- किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते उत व्यवतिष्ठन्ते ? इत्युभयथा दर्शनम् -------सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरणम्-"अग्निः" इति । प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सङ्करोऽभिसम्प्लवः, असङ्करो व्यवस्थेति ।

न्या0भा01/1/4 पृ016

2- अनुमानान्तराधीना सम्बन्धग्रहपूर्विका ।

सम्बन्धाधिगतिर्न स्यात्सम्बन्धान्तरगतेरपि ।।

तेन दूरेऽपि सम्बन्धग्राहकं लिङ्गलिङ्गिनोः ।

प्रत्यक्षमुपगन्तव्यं तथा सति च सम्प्लवः ।।

न्या0म0भाग1 पृ0 49

3- (क) शाब्दसिद्धावप्यनुमित्सया नुमितेर्न संशयासत्त्व दोषाय ।

विवृति पृ0 24

(ख) सङ्करोऽभिसम्प्लवः असङ्करो व्यवस्थेति । न्या0भा0 1/1/4 पृ016

(ग) शाब्दसिद्धावप्यनुमित्सयानुमितेर्न संशयासत्त्वं दोषाय ।

ह0रि0वि0पृ024

प्रयास उचित ही है क्योंकि संशयाभाव में अर्थात् साध्य का ज्ञान होने पर भी यदि अनुमान द्वारा अर्थ को सिद्ध करने की "सिसाधयिषा" हो तो अनुमान प्रवृत्त होता देखा जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सिसाधयिषाभाव हो परन्तु संशय हो अर्थात् उसका ज्ञान न हो तो वहाँ भी अनुमान की प्रवृत्ति का अवसर है। जहाँ सिसाधयिषा और संशय दोनों की उपस्थिति हो वहाँ तो अनुमान प्रवृत्त होता ही है। परन्तु जहाँ सिसाधयिषाभाव एवं संशयाभाव दोनों हों वहाँ पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उपर्युक्त प्रथम तीन स्थलों में पक्षता बनती है जब कि चतुर्थ स्थल में पक्षता नहीं बन पाती।

यहाँ पर पुनः यह शङ्का होती है कि यदि संशयाभाव में भी अनुमान की प्रक्रिया सम्भव है तब तो पक्ष का मान्य लक्षण "संदिग्धसाध्यवान् पक्षः" खण्डित हो जायेगा। परन्तु बिना पक्ष के अनुमान का होना असंभव है। यदि संशयाभाव में भी अनुमान का प्रवृत्त होना स्वीकार किया जाय तो पक्ष का लक्षण क्या होना चाहिए?

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि "संदिग्धसाध्यवान् पक्षः" इस परिभाषा को परिष्कृत करके "सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाववान् पक्षः" यह पक्ष का प्रवृत्तिनिमित्त होना चाहिए। पक्षकी इस परिभाषा के अन्दर सारे तरह के अनुमानों की पक्षता बन जायेगी। पक्ष की इस परिभाषा में दो भाग हैं। विशेषण और विशेष्य। जिसमें "सिसाधयिषाविरह" यह विशेषण अंश है और "सिद्ध्यभावः" यह विशेष्य अंश है। जहाँ पर इन दोनों अंशों से युक्त सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूप सामग्री पायी जायेगी वहीं पर पक्षता

बन सकती है और अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है । जहाँ पर इस विशिष्ट सामग्री का अभाव होगा वहाँ पक्षता के अभाव में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व एवं असत्प्रतिपक्षत्व रूप पञ्चलक्षणोपेत न होने से अनुमान प्रवृत्त नहीं होगा । उपर्युक्त विशिष्ट सामग्री तीन अवस्थाओं में ही उपपन्न हो सकती है-

§1§ जहाँ सिसाधयिषा और सिद्धि दोनों होंगे, वहाँ सिसाधयिषाविरहरूप विशेषण अंश न होने से सिद्धि के रहते हुए भी विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावरूप सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव के बन जाने से पक्षता बन जाती है । इसलिए वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति हो जाती है ।

§2§ जहाँ सिसाधयिषा और सिद्धि दोनों का अभाव हो वहाँ भी सिसाधयिषाविरहरूप विशेषण अंश के रहते हुए भी सिद्ध्यभावरूप विशेष्य की अनुपस्थिति में विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावरूप सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूप पक्षता बन जाती है ।

§3§ जहाँ पर सिसाधयिषाविरहरूप विशेषण एवं सिद्ध्यभाव रूप विशेष्य दोनों का अभाव हो ऐसे स्थल में उभयाभाव विशिष्टाभावरूप सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव की प्रतीति होती है । इन तीनों स्थलों पर पक्षता बन जाने से अनुमान प्रवृत्त हो सकता है ।

§4§ चौथा स्थल ऐसा है जहाँ पर विशेषण अंश सिसाधयिषाविरह और विशेष्य अंश सिद्धि दोनों हो अर्थात् जहाँ साध्य की सिद्धि हो और उसको प्रकारान्तर से अनुमान द्वारा सिद्ध करने की इच्छा न हो वहाँ

सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि प्रतीत होती है, अतएव वहाँ सिसाधयिषाविरह-विशिष्टसिद्ध्यभावरूप पक्षता नहीं बन सकती है, अतएव ऐसे स्थल में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

चूंकि ईश्वर-स्थल में शब्दप्रमाण के द्वारा ईश्वर विषयक ज्ञान पहले से ही है, अतएव यहाँ पर ईश्वर की "सिद्धि" रूप विशेष्य अंश उपस्थित है । साथ ही "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति के निर्देश से उस ईश्वर के मनन हेतु अनुमान द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने की सिसाधयिषा होने से सिसाधयिषा-विरहरूप विशेषणांश न होने पर भी विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावरूप सिसाधयिषा-विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता के बन जाने से यहाँ पर अनुमान प्रवृत्त होने में कोई दोष नहीं है ।

फिर भी जो लोग अनुमान के लिए संशय को अनिवार्य समझते हैं । उनके संतोष के लिए उदयनाचार्य ने ईश्वर के विषय में पाँच प्रकार के संशय भी उपस्थित किये हैं ।[1] अतः संशय की उपस्थिति होने में अब ईश्वरविषयक अनुमान किया जा सकता है । अतएव नैयायिकों के द्वारा किया हुआ ईश्वरविषयक अनुमान सर्वथा उचित, प्रतिपादनीय, तर्कसंगत एवं ग्राह्य है ।

1- तदिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः ।

(1) अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात् (2) अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवात् । (3) तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात् (4) सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् । (5) तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति ।

न्या0कु0प्रथम स्तबक पृ029

द्वितीय अध्याय

ईश्वराभावसाधक विविध प्रमाणों की एवं तन्निरासपूर्वक ईश्वरसिद्धि

॥ द्वितीय अध्याय ॥

"ईश्वराभावसाधक विविध प्रमाणों की उत्थापना एवं तन्निरासपूर्वक ईश्वरसि

"न्यायवैशेषिक दर्शन में ईश्वरवाद की आवश्यकता एवं उसका औचि नामक शीर्षक के अन्तर्गत प्रथम अध्याय में उन मुख्य कारणों का संक्षेप में विवेच किया गया है जिन कारणों से न्यायवैशेषिक मतानुयायियों ने अपने दर्शन में ईश्वर क सत्ता को प्रमुखता से मान्यता प्रदान की है । परन्तु सांख्य, मीमांसक, बौद्ध, जै चार्वाकादि जिनको ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं है, वे ईश्वर की सत्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं । अतः वे सभी एकजुट होकर ईश्वरा भावसाधन के लिए विविध प्रमाणों का आश्रय लेते हैं ।

नैयायिकों का मन्तव्य है कि ईश्वर के बिना सर्गादि में अनित्य एव निर्दोष वेदों का अभाव रहने से कर्मयोगसिद्ध कपिलादि ऋषियों के द्वारा भी धर्मसम्प्रदाय का प्रचलन या जागतिक व्यवहार का चलन सम्भव नहीं है, अतएव इन कार्यों के संपादनार्थ ईश्वरसत्ता को स्वीकार किया जाना आवश्यक है । परन्तु पूर्वपक्षियों का कहना है कि उक्त धर्मसम्प्रदायरूप व्यवहार सर्गादि में भले ही संभव न हो, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त धर्मसम्प्रदाय का प्रचल ईश्वर के द्वारा ही हुआ था, क्योंकि ईश्वरसत्ता के बाधक प्रमाणों के विद्यमान रहने से उसकी सत्ता को नहीं स्वीकार किया जा सकता । पूर्वपक्षी के इस मन्त

को बोधिनीकार श्रीमद्वरदराज ने "न्याय-कुसुमाञ्जलि" की टीका में उपस्थापि किया है ।[1]

इसी मन्तव्य को पहले उदयनाचार्य ने "न्यायकुसुमाञ्जलि" ग्रन्थ में बौद्धमताभिप्राय से "तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्"[2] इस रूप में उपस्थित किया परन्तु प्रसङ्गवश बौद्धातिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के मतों का भी समावेश इस ईश्वरविषयक विप्रतिपत्ति में किया गया है । यह विप्रतिपत्ति पूर्वपक्षियों द्वा उपस्थापित पाँच विप्रतिपत्तियों में से एक है । इस विप्रतिपत्ति के अन्तर्गत उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों की ओर से ईश्वराभाव के समर्थन में विविध प्रमाणों का उपन्यास करके ईश्वरबाधकत्व का खण्डन करते हुए ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है । इस विप्रतिपत्ति का आशय यह है कि ईश्वराभावसाधक प्रमाणों की उपस्थि से ही तदभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसके अभाव के समर्थन में प्रत्यक्ष, अनुमा उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन छः प्रमाणों को उपस्थित किया जा सकता है ।

परन्तु इन प्रमाणों को ईश्वराभावसाधन में उपन्यस्त करने के बा कुसुमाञ्जलिकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन प्रमाणों में से कि

1- मा भून्नित्यवेदद्वारा वा कपिलादिद्वारा वा धर्मसम्प्रदायस्तथाप्येतदीश्वर-द्वारकत्वमपि कथं सिध्यति, तदीश्वरबाधकसद्भावात् । बो० पृ03।।

2- न्या० कुसु० 1/1/3 पृ० 40

भी प्रमाण के द्वारा ईश्वराभावसाधन सम्भव नहीं है । साथ ही वे कुछ प्रमाणों को प्रमाण रूप में स्वीकृत करने में ही प्रतिवाद करते हैं ।

वैसे न्यायमतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों की ही सत्ता स्वीकार की गई है ।[1] परन्तु नैयायिकों के अनुसार ये प्रमाणचतुष्टय ईश्वराभावसाधन में कार्यक्षम नहीं है ।

पूर्वपक्षियों को अभिमत अनुपलब्धि प्रमाण की सिद्धि

मीमांसकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अभाव इन छः प्रमाणों को स्वीकृति प्रदान की है ।[2] श्लोकवार्तिक के टीकाकार श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी इस प्रमाणसंख्या का अनुमोदन किया है ।[3] भाट्टमीमांसाभिमत उक्त छः प्रमाण अद्वैतवेदान्तियों को भी अभिमत हैं ।[4] कुमारिल भट्ट अभाव प्रमाण

1- प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । न्या०सू० 1/1/3

2-(क) श्लो० वा० प्रत्यक्षपरिच्छेद से अभाव परि० तक

(ख) श्लो० वा० पर न्यायरत्नाकर, अभाव परि०

3- तस्मात् षडेव प्रमाणानि न न्यूनानि नाधिकानि वेति । न्या०रत्ना०

4- तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धि भेदात् ।

वे०प०प्रत्यक्ष परि०पृ०20

को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि प्रथम पञ्चप्रमाणों से केवल भावपदार्थों का ही ज्ञान होता है, अतएव अभाव नामक प्रमेय का उपर्युक्त पाँच प्रमाणों से ग्रहण होना असम्भव है, तद्ग्रहणार्थ अभाव नामक छठा प्रमाण स्वीकार किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि जहाँ वस्तु के सत्ताबोध में पाँच प्रमाणों की गति नहीं है उस वस्तु की सत्ता का बोध अभाव नामक छठे प्रमाण से होता है।[1] जैसे कि "भूतले घटाभावः" के ग्रहणार्थ किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार उक्त पाँचों प्रमाण भावपदार्थों का ज्ञापन करते हैं, उसी प्रकार अभाव पदार्थ का ज्ञान अनुपलब्धि अथवा अभाव प्रमाण के व्यापार से होता है।[2] वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि अभाव पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से इसलिए असम्भव है क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाव होने से वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता है। अतएव "नास्ति" इत्याकारक अभावात्मक बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता[3]।

1- प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ।।

श्लो०वा०अभाव परि०श्लो०नं०।

2- प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते ।।

श्लो०वा०अभाव परि० 17

3- न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ।।

श्लो०वा०अभाव परि०18

उनका कहना है कि अभाव का ग्रहण अनुमान से भी नहीं होगा, क्योंकि अनुमान का लिङ्गपरामर्श प्रत्यक्षात्मक होता है, जब कि अभावग्रहण में ऐसे किसी लिङ्गपरामर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता । अभाव का ग्रहण शब्द, उपमान और अर्थापत्ति से भी संभव नहीं है । अभाव पदार्थ का ग्रहण पन्चप्रमाणातिरिक्त अभाव अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण से होता है । अतः घटाभावग्राही गृहीतृव्यापार जो सत् पदार्थ के ग्राहक प्रमाणों के अभाव से उत्पन्न होता है वही अभाव प्रमाण है और "नास्ति" ऐसी अभावग्रहणरूपा बुद्धि ही इसका फल या प्रमाण है ।[1] श्लोकवार्तिकार का कथन है कि हम वस्तुतः अभावरूप विषय का ग्रहण करते हैं और उसके भाव का स्मरण करते हैं, तब अन्तरिन्द्रियाँ अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभावात्मिका प्रमा उत्पन्न करती हैं ।[2] अतएव अभाव प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है ।

1- यो यमात्मनोघटादिविषय; प्रत्यक्षादि ज्ञानस्वरूपः परिणामः तदभावमात्रमेव अनुत्पत्तिः अभाव इति औच्यते । तच्च घटाद्यभावविषयः नास्ति बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवत् प्रमाणं नास्तीति । बुद्धिश्च फलम् । सैव या बुद्धिर्घटाद्यभावरूपे वस्तुनि जायमाना लक्षणयाऽनुत्पत्त्यभावशब्दाभ्यामुच्यते । तत्प्रामाण्ये च हानादिधीः फलम् । तदेव भाष्यार्थः प्रत्यक्षाद्यभावो यो नास्तीत्यस्यार्थस्य बोधकः सोऽभावो नाम प्रमाणमिति । श्लो०वा०अभाव परि०।। परन्या०रत्न

2- गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात् ।।
स्वरूपमात्रं दृष्ट्वाऽपि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदेव प्रतिपद्यते ।। श्लो०वा०अभाव परि०27-28

पूर्वपक्षी मीमांसक एवं वेदान्ती आदि अनुपलब्धि प्रमाण के अतिरिक्त भी अन्य ऐसे कई प्रमाण भी स्वीकार करके ईश्वर के बाधकरूप में उपस्थित करते हैं जो प्रमाण न्याय-सम्मत नहीं है । अतएव नैयायिकों के द्वारा प्रमाणचतुष्टय के अतिरिक्त अन्य ईश्वर बाधक प्रमाणों का दुहरा परिहार किया गया है । उदयनाचार्य ने कहा है कि एक तो वे सारे प्रमाण जो पूर्वपक्षियों के द्वारा ईश्वराभावसाधन में प्रस्तुत किये गये हैं वे ईश्वराभावसाधक नहीं सिद्ध हो सकते, बल्कि वे ईश्वर की सत्ता को ही सिद्ध करते हैं । दूसरी बात यह है कि नैयायिकाभिमत प्रमाण चतुष्टय के अतिरिक्त जो भी प्रमाण पूर्वपक्षियों को अभिप्रेत हैं वे वास्तव में प्रमाण ही नहीं है इसीलिये वे ईश्वराभाव को भी नही सिद्ध करते । वे सारे अतिरिक्त प्रमाण नैयायिकाभिमत चार प्रमाणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । तर्कभाषाकार श्री केशवमिश्र ने उन सभी प्रमाणों को प्रमाणचतुष्टय में अन्तर्भूत करते हुए कहा है कि न्याय-सूत्रादि में वर्णित चार प्रमाणों की ही सत्ता है, तदतिरिक्त अन्यान्य प्रमाणों का इन्हीं चारों प्रमाणों में अन्तर्भाव प्राप्त है ।[1]

अनुपलब्धि प्रमाण से पूर्वपक्षियों द्वारा ईश्वरासिद्धि का पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तियों द्वारा उसका खण्डन -

पूर्वपक्षी ईश्वर की असत्ता के स्थापनार्थ सर्वप्रथम अनुपलब्धि प्रमाण[2]

1- वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि । एतेभ्योऽन्यन्य प्रमाणं प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् । तर्कभाषा पृ0।37

2- तथानुपलब्धिर्यथा-प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेर् इति।

को प्रस्तुत करते हैं । यद्यपि अनुपलब्धि प्रमाण की गणना प्रमाणों के गणनाक्रम में सबसे अन्त में है, परन्तु फिर भी इस प्रमाण को ईश्वर की असत्ता के साधन में सर्वप्रथम उपस्थित किया गया है । ऐसा सम्भवतः इसलिये किया गया है क्योंकि आद्यार्थवादी विचारधारा में ईश्वर की बाह्यतः उपलब्धि सर्वसाधारण को नहीं होती । पूर्वपक्षियों का कहना है कि ईश्वर की सत्ता नहीं है क्योंकि उसकी प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि नहीं होती । जिसकी सत्ता होती है तो उसकी निश्चित ही प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि भी होती है ।[1] श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि जिसका ग्रहण होता है उसी की सत्ता भी सुनिश्चित होती है और जिसका ग्रहण नही होता उसकी सत्ता भी नही स्वीकार की जा सकती ।[2] अतएव क्योंकि ईश्वर की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि नहीं होती है अतः यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईश्वर की सत्ता ही नहीं है । अतः ईश्वराभाव का निष्कर्ष उसके अनुपलब्धि मात्र से अभाव प्रमाण के द्वारा उसी प्रकार से निकाला जा सकता है, जिस प्रकार कि भूतले घटाभावः" इस रूप की प्रमिति तदनुपलब्धि से सहज ही स्वीकार कर ली जाती है ।[3] पूर्वपक्षियों का कहना है कि यह ईश्वराभावविषयक

1- यदि स्यादुपलभ्येत ।

न्या०कु० पृ०3।।

2- गृह्यमाणस्य चास्तित्वं नाग्राह्यस्याप्रमाणकम् ।
तस्मादाकारवद् वस्तु ग्राह्यत्वाद्विद्यते ध्रुवम् ।।

श्लो०वा०शून्यवाद 7

3- भूतले घटाभाववदीश्वरस्याप्यनुपलब्धेः अभावस्य ग्रहात्

विवृति पृ० 101

बड़ा सीधा सा परिणाम है जो तदनुपलब्धि से प्राप्त होता है । अतएव अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ईश्वर की असत्ता स्थापित होती है अथवा यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि प्रमाण ईश्वर की सत्ता का बाधक है । अतएव ईश्वर की सत्ता को कथमपि नहीं स्वीकार किया जा सकता । अतः नैयायिकों को अभिमत ईश्वर न्यायोचित नहीं है, जबकि इसके प्रत्युत्तर में उदयनाचार्य का कहना है कि किसी वस्तु की अनुपलब्धिमात्र तदभावसाधिका नहीं हो सकती है बल्कि योग्यानुपलब्धि ही तदभावसाधिका होती है । न्यायकन्दलीकार ने भी योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ज्ञापक हेतु स्वीकार किया है । उनका कहना है कि जो सम्प्रदाय अभाव को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के इच्छुक हैं उन्हें भी यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान के सामान्य कारणों के रहने पर ज्ञात होने योग्य वस्तुओं के ज्ञान की अनुत्पत्ति ही उन वस्तुओं के अभाव का ज्ञापक "अभाव" नाम का प्रमाण है ।[1] अन्यथा ऐसी वस्तुओं के अभाव की भी प्रतीति की आपत्ति होगी, जिन वस्तुओं में स्वरूपतः प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है । हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि परमात्मा में योग्यानुपलब्धि न होने से उसका अभाव नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धि ही वस्तु के सद्भाव की बाधिका होती है ।[2]

1- योऽप्यभावं प्रमाणमिच्छन्ति, तस्यापि न ज्ञानानुत्पादमात्रात् प्रमेयाभावज्ञानम्, स्वरूपविप्रकृष्टस्यापि वस्तुनोऽभावप्रतीतिप्रसङ्गात् । किन्तु ज्ञानकारणेषु सत्सु ज्ञानयोग्यस्य वस्तुनो ज्ञानानुत्पादोऽभावगमनिमित्तम् ।

न्या०क०पृ०543

2- अयोग्ये परमात्मनि योग्यानुपलब्धिः कुतः । सैव बाधिका ।

विवृति 3/1 पृ०।०।

इसी बात का समर्थन बौद्धधर्मावलम्बी धर्मकीर्ति ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय-बिन्दु में किया है । उनका कहना है कि जो पदार्थ उपलब्धि के योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता वह अभाव व्यवहार का विषय है ।[1] उनका कहना है कि घटादि उपलब्धि के योग्य होकर भी जब उपलब्ध नहीं होते तब अनुपलब्धि प्रमाण से उनका अभाव ज्ञात होता है[2] । अतएव केवल प्रत्यक्षाभाव से ही किसी वस्तु का अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता। हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि यदि योग्यानुपलब्धि को अभावग्राहिका नहीं स्वीकार करेंगे बल्कि केवल अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक स्वीकार करेंगे तो अतीन्द्रिय वस्तुओं के उच्छेद की आपत्ति आ जायेगी ।[3] जिससे बौद्ध तथा मीमांसकसम्मत धर्माधर्मादि पदार्थों का भी अभाव तदनुपलब्धि से सिद्ध हो जायेगा जो कि पूर्वपक्षियों को अभीष्ट नहीं होगा । अतएव धर्माधर्मादि पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया जा सके-इसके लिए योग्यानुपलब्धि को ही अभावग्राहिका स्वीकार करनी चाहिए ।

1- यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः ।

न्या०बि०3/8

2- नोपलभ्यते च क्वचित् प्रदेशविशेषे उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्यनुपलब्धि प्रयोगः ।

न्या०वि०3/8

3- योग्यानुपलब्धिरेवाभावग्राहिका, अन्यथा अतीन्द्रियमात्रोच्छेदापत्तेः ।

विवृति 3/3 पृ०106

हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि प्रत्यक्षायोग्य परमात्मा ईश्वर में योग्यानुपलब्धि के अभाव होने से उसका अभाव अनुपलब्धि का विषय नहीं बन सकता ।[1]

यहाँ पर न्यायकुसुमाञ्जलिकार श्री उदयन ने पूर्वपक्षियों की ओर से शशविषाणत्व की आपत्ति उठाई है । न्याय-कुसुमाञ्जलि की टीका "प्रकाश" में प्रकाशकार श्री वर्धमानोपाध्याय ने भी पूर्वपक्षियों की ओर से कहा है कि यदि नैयायिक योग्यानुपलब्धि को ही अभावग्राहिका स्वीकार करके ईश्वर की सत्ता का सम्पादन करेंगे तो उसी नय से शश में सर्वथा अविद्यमान विषाणत्व भी सिद्ध होने लगेगा[2] क्योंकि विवृतिकार के अनुसार शशशृङ्ग के भी प्रत्यक्षायोग्य होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं होगा ।[3] जब नैयायिकों के अनुसार कुछ विद्यमान वस्तुओं का भी तद्गत योग्यानुपलब्ध्यभाव में प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता तो फिर उनके लिए यह कथन करना भी असम्भव हो जायेगा कि शशविषाणादि पदार्थों के न दिखाई देने से ही उसकी असत्ता स्वीकृत की गई है, क्योंकि वे केवल अनुपलब्धि मात्र को किसी वस्तु की असत्ता में कारण नहीं मानते । उदयनाचार्य ने इस पूर्वपक्ष का उत्तर "नैतदेवम्"[4] कह कर दिया है । उनका कहना है कि विषाण

1- परमात्मनोऽयोग्यतया योग्यानुपलब्धेरभावात् नाभावग्रहः ।
विवृति पृ0101

2- यदीश्वरः सिध्येत् तदा शशशृङ्गमपि सिध्येत् ।
प्रकाश पृ0 326

3- तदा शशशृङ्गस्याप्ययोग्यस्य नाभावः सिध्येत् ।
विवृति पृ0 101

4- न्या0कुसु0 पृ0 311

तो योग्यानुपलब्धि का ही विषय है ।[1] बोधिनीकार श्री वरदराज का कहना है कि श्रृङ्ग के रूपवत्त्व और महत्त्व से युक्त होने के कारण वह प्रत्यक्षयोग्य ही है क्योंकि गवादिश्रृङ्ग में भी श्रृङ्ग की प्रत्यक्षयोग्यता सिद्ध होती है, अतएव शश-विषाण की भी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि ही है ।[2] अतएव इससे शश में विषाणत्व का अभाव ही सिद्ध होता है । क्योंकि जब यह नियम है कि प्रत्यक्षयोग्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष अवश्य होता है तो यदि शशगत विषाण की सत्ता होती तो जिस प्रकार सभी श्रृङ्ग प्रत्यक्षयोग्य होने से प्रत्यक्ष होते हैं उसी प्रकार शशविषाण का भी प्रत्यक्ष होता । अतएव यही कहा जा सकता है कि शशविषाण इसलिए अप्रत्यक्ष नहीं है कि वह प्रत्यक्षयोग्य नहीं, बल्कि उसका अप्रत्यक्षत्व इसलिए स्वीकार किया जाता है क्यों कि उसकी सत्ता ही नहीं है ।[3] ऐसा ही मत धर्मोत्तर ने भी

1- श्रृङ्गस्य योग्यतयैव व्याप्तत्वात् इति ।

न्या०कु०पृ०3।।

2- श्रृङ्गस्य रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां प्रत्यक्षयोग्यत्वेन गवादिश्रृङ्गे व्याप्तिदर्शनाद-स्यापि श्रृङ्गस्य सतो योग्यतया भवितव्यम् तस्माच्छशश्रृङ्गस्य योग्यानुपलम्भो-ऽस्तीति ।

बोधिनी पृ०3।।

3- स्यादेवं यदि शशश्रृङ्गस्यास्तित्वे प्रमाणं स्यात्, तत्तु नास्ति ।

बोधिनी पृ० 326

प्रस्तुत किया है[1]। क्योंकि सर्वथा अविद्यमान किसी भी वस्तु की सत्ता का ज्ञान किसी को भी नहीं होता, जैसा कि मीमांसक श्लोकवार्तिककार श्री कुमारिलभट्ट को भी यह नियम अभिप्रेत है।[2] अतएव ईश्वरानुपलब्धि से विषाणानुपलब्धि की तुलना कदापि नहीं की जा सकती। अतः जो पूर्वपक्षियों के द्वारा यह कहा गया है कि जो उपलब्ध नहीं होता उसकी सत्ता नहीं होती-अनुचित है।[3]

नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत उक्त समाधान के पश्चात् पूर्वपक्षी अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा ईश्वरबाधकत्व का पुनः प्रदर्शन करना चाहते हैं। उदयनाचार्य पूर्वपक्षियों के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहते है कि चेतन के योग्योपाधियुक्त होने से चेतनत्व शरीरत्व का व्याप्य होगा क्योंकि यह व्याप्ति है कि यत्र-यत्र चेतन्यत्वं तत्र-तत्र शरीरोपाधित्वम्। क्योंकि किसी भी दृष्टान्त में शरीरोपाधिविरह चेतनत्व की उपलब्धि नहीं होती है। जिस प्रकार से आप -यद्-यद् शृङ्गम् तद्-तद् प्रत्यक्षयोग्यम्" इस प्रकार से शृङ्गत्व और प्रत्यक्षयोग्यत्व में व्याप्ति सम्बन्ध का कथन करते हैं, उसी प्रकार चेतनत्व और शरीरोपाधित्व में भी व्याप्ति सम्बन्ध है। परन्तु ईश्वर

1- शशविषाणादौ हि कृत्यानुपलम्भमात्रनिमित्तोऽसद्व्यवहारः प्रमाणेन सिद्धः।

न्या०वि०टी०3/8 पृ०196

2- न त्वत्यन्तासतोऽस्तित्वं कश्चिद् प्रत्युपपद्यते।

श्लो०वा०सम्ब०परि 33

3- यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, विपरीतमस्ति।

न्या०कुसु० पृ०334

में शरीरोपाधिरूप व्यापकाभाव से तद्व्याप्य चेतनत्व के आश्रयस्वरूप ईश्वर की सत्ता का भी अभाव सिद्ध हो जायेगा[1] क्योंकि "व्यापकाभावात् व्याप्याभावः" यह नियम नैयायिकों को अभिप्रेत ही है । इसी आशय से उदयनाचार्य के वक्तव्य की व्याख्या करते हुए बोधिनीकार ने कहा है कि चेतनादि के योग से ईश्वर का भी शरीरादिरूप उपाधि से सम्बन्ध अवश्य होगा क्योंकि चेतनादि के शरीरादि कारण हैं । अतः शरीरोपाधि के अनुपलब्ध होने से उस चेतन का भी बाध अवश्य होगा और तब उस चेतनस्वरूप ईश्वर का भी बाध हो जायेगा ।[2]

उपर्युक्त प्रकार से पूर्वपक्षियों के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए वह इस प्रत्यक्षबाधोद्धार हेतु अपनी तरफ से कहते हैं कि परमात्मा के प्रत्यक्षायोग्य होने से तद्गत शरीरोपाधि योग्यानुपलब्धि नहीं है, अतएव पूर्वपक्षियों द्वारा किया गया प्रतिबन्धिस्थापन ही असिद्ध है । नैयायिकों का अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षियों ने जो यह प्रतिबन्धी उपस्थित किया था कि सर्वथा अनुपलब्ध पदार्थ की सत्ता को भी यदि स्वीकार कर लिया जायेगा तो शशविषाणादि पदार्थों की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ जायेगा-यही लागू नहीं हो रहा है । क्योंकि यहाँ पर उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस शशविषाणत्व के प्रत्यक्ष की आप बात कर

1- चेतनस्यापि योग्योपाधिमत्तयैव व्याप्तत्वात् तद्बाधे सोऽपि बाधित एवेति तुल्यम् । व्यापकस्यार्थाद्यनुपलम्भेना प्यनुमीयते नास्ति ।

न्या०कुसु० पृ०3।1-12

2- चेतनादियोगिनो हीश्वरस्य शरीराद्युपाधिसम्बन्धोऽवश्यंभावी तत्कारणकत्वाच्चेतनादेर्योग्यं च शरीरादि, तथा च तस्यानुपलम्भेन बाधात् तद्वतोऽपि बाधः स्यादिति ।

रहे हैं, वह शशविषाणत्व क्या प्रत्यक्षयोग्य है ? अथवा प्रत्यक्षायोग्य ? यदि पूर्वपक्षी उस शशविषाण को प्रत्यक्षयोग्य स्वीकार करते हैं तो फिर उनके द्वारा किया गया प्रतिबन्द्युपस्थापन ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षियों का यही अभिप्राय था कि जिस प्रकार अयोग्य विषाण की अनुपलब्धि से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, तद्वत् प्रत्यक्षायोग्य परमात्मा की भी सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती। परन्तु जब वे उस विषाण को प्रत्यक्षयोग्य ही स्वीकार कर लेते हैं तब फिर प्रत्यक्षायोग्य के आधार पर उपस्थित किया गया प्रतिबन्दी कहाँ लागू होता है ?

किंवा यदि पूर्वपक्षी शशविषाण को प्रत्यक्षायोग्य मान लेते हैं तो फिर प्रतिबन्दी के ठीक बैठने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि अभाव का ग्रहण योग्यानुपलब्धि से ही होता है अयोग्यानुपलब्धि से कदापि नहीं। किन्तु पूर्वपक्षियों के द्वारा शशविषाण को प्रत्यक्षायोग्य मान लेने पर तदनुपलब्धि भी अयोग्यानुपलब्धि ही होगी न कि योग्यानुपलब्धि। अतएव शशविषाणत्व का अभाव ही स्वीकार करना चाहिए। इस सारे अभिप्राय को न्याय-कुसुमाञ्जलिकार ने अपने एक श्लोक से व्यक्त किया है[1]। इस बात को बोधिनीकार ने भी व्याख्यायित किया है[2]। प्रकाशकार ने कहा है कि योग्यानुपलब्धि अयोग्य परमात्मा की

1- योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्दिः कुतस्तराम्।

न्या०कु० 3/।

2- अयोग्यत्वात्परमात्मनस्तस्मिन् योग्यानुपलब्धिः कुतो भवेत्, न कुत्रचिदित्यर्थः। यद्वा, योग्येऽपि स्वात्मन्यनुपलब्धिर्नाभावं गमयितुमलं, कुतोऽयोग्ये परमात्मनि। तत्र चोन्मोचिता शशशृङ्गप्रतिबन्दिर्न हि शशशृङ्गमयोग्यमनुपलब्ध्या बाध्यते, किन्तु योग्यमेव। न च परमात्मा योग्य इति। न तावत्प्रत्यक्षबाधः न च व्यापकानुपलब्धि लिङ्गमन्यद्वाऽनुमानं बाधकमीश्वरस्यानभ्युपगमेनाश्रयासिद्धेरिति।

बोधिनी पृ03।2

बाधिका कैसे हो सकती है, इसी तरह अयोग्य शृङ्ग की भी योग्यानुपलब्धि बाधिका नहीं है । अयोग्य शशशृङ्ग योग्यानुपलब्धि के द्वारा निषिद्ध नहीं होता कि प्रतिबन्धी हो । इसलिए शृङ्ग योग्य ही है न कि अयोग्य । तथा इस स्थिति में भी प्रतिबन्धी नहीं है ।[1]

प्रत्यक्षायोग्य परमात्मा की सत्ता का समर्थन करनेके लिए नैयायिक दूसरा तर्क यह देते हैं कि यद्यपि अपनी आत्मा की जाग्रदवस्था में "अहं सुखी", "अहं दुःखी" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि होती है, फिर भी सुषुप्तावस्था में उसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता । अतएव सब अभाव से यह नहीं कहा जा सकता कि तदनुपलब्धि से उसका प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव निर्णीत होता है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में उसमें प्रत्यक्ष की योग्यता का अभाव रहता है । इस प्रकार जब कि प्रत्यक्षयोग्य स्वात्मा का भी सुषुप्तावस्था में प्रत्यक्षयोग्यतारहित तदनुपलब्धि से उसके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता तो सर्वथा प्रत्यक्षायोग्य परमात्मा का तदनुपलब्धिमात्र से उसका अभाव निश्चय कैसे किया जा सकता है ? अतएव प्रत्यक्षायोग्य परमात्मा का तदनुपलब्धि से अभाव सिद्ध नहीं होता है ।[2]

1- योग्यानुपलब्धि क्वायोग्ये परमात्मनि बाधिका, शृङ्गस्यापि तथात्वे तत्रापि योग्यानुपलब्धिर्न बाधिका । न हि शशशृङ्गमयोग्यं योग्यानुपलब्ध्या निषिध्यते येन प्रतिबन्धिः स्यात् । अथ शृङ्गं योग्यमेव नायोग्यं तदा अतितरां न प्रतिबन्धिः ।

प्रकाश पृ0 12-13

2- स्वात्मैव तावद् योग्यानुपलब्ध्या प्रतिषेद्धुं न शक्यते, कुतस्त्वयोग्यः परमात्मा । तथाहि सुषुप्त्यवस्थायामात्मानमनुपलभमानो नास्तीत्यवधारयेत् ।

न्या0कुसु0पृ0 12-13

यहाँ पर पूर्वपक्षी यह पूछ सकते हैं कि यदि आत्मा में प्रत्यक्षयोग्यता है तो फिर सुषुप्तावस्था में उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? तो इसके उत्तर में उदयनाचार्य ने कहा है कि सामग्री के वैगुण्य होने से उसका ग्रहण नहीं होता। उनका कहना है कि ज्ञानादि क्षणिकविशेष गुणों के आश्रय रूप में आत्मा का ग्रहण होता है यह आत्मा का स्वभाव है[1]। बोधिनीकार ने कहा है कि "ज्ञानाम्यहं" "इच्छाम्यहं" इत्यादि रूप से ही आत्मदर्शन होता है क्योंकि ज्ञानादिविशेष गुणों से उपगृहीत आत्मा ही उसके ग्रहण की सामग्री है।[2] प्रकाशकार ने कहा है कि जिस प्रकार प्रत्यक्षयोग्यता के रहने पर भी घटादि का भी आलोकाभाव में प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का भी तद्गत प्रत्यक्ष योग्यता के रहने पर भी सुषुप्तावस्था में क्षणिकज्ञानादिविशेष गुणों के सहकारी कारणों के अभाव में प्रत्यक्ष नहीं होता है।[3] न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में भी कहा गया है कि धर्माधर्म के आश्रय रूप में ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।[4] इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसुखादि विशेषगुणों

1- सामग्रीवैगुण्यात्। ज्ञानादिक्षणिकविशेषगुणोपधानो ह्यात्मा गृह्यते इत्यस्य स्वभावः

न्या0कु0पृ03।3

2- ज्ञानाम्यहमिच्छाम्यहमित्यादिरूपेणैवात्मनो ग्रहणदर्शनाद् ज्ञानादिविशेषगुणोपगृहीतत्वमात्मनो ग्रहणसामग्रीति। बोधिनी पृ0 3।3

3- यथा योग्योऽपि घटादिरालोकाभावान्नोपलभ्यते, तथाऽऽत्मा क्षणिकज्ञानादियोग्यविशेषगुणाद्युपधानसहकार्याभावाद् नोपलभ्यते इति। प्रकाश पृ03।3

4- धर्माधर्माश्रय इति। आत्मेत्यनुषज्यते।

न्या0सि0मु0पृ0।24

से सहकृत होकर ही आत्म-प्रत्यक्ष होता है, तद्भिरह केवल अहमाकारक आत्मप्रत्यक्ष नहीं होता है । अतः सुखादि ज्ञान भी आत्मप्रत्यक्ष के कारण हैं । अतः सुषुप्तावस्था में सहकारीकारणस्वरूप ज्ञानादि कारणों के अभाव के कारण आत्मप्रत्यक्ष नहीं हो पाता है । लेकिन जाग्रदवस्था में ज्ञानादि सहकारी कारणों का सम्मेलन सम्भव होने पर तदाश्रयरूप में स्वात्मप्रत्यक्ष होने लगता है ।

इस प्रकार यह सुस्थिर हो जाने पर कि परमात्मानुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है, अतएव योग्यानुपलब्ध्यभाव में तदनुपलब्धि तदभावसाधिका नहीं हो सकती । क्योंकि ईश्वर में जो केवल अनुपलब्धि पाई जाती है, वह अनुपलब्धिरूप से तदभावसाधिका नहीं है, अतएव अनुपलब्धि मात्र से ईश्वर की सत्ता निषिद्ध नहीं हो सकती । अभाव ग्रहण की यही रीति मीमांसकाचार्यों एवं सांख्याचार्यों तथा बौद्धाचार्यों को भी अभिमत होनी चाहिए, अन्यथा केवल अनुपलब्धि मात्र को अभावसाधिका मानने पर मीमांसकादिसम्मत अदृष्ट, देवता, धर्माधर्म एवं स्वर्गादि अप्रत्यक्ष पदार्थों की असत्ता का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा ।

यदि यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कहने का साहस करें कि यदि प्रत्यक्षायोग्य परमात्मानुपलब्धि उसकी सत्ता की बाधिका नहीं होगी और ईश्वरसत्ता को स्वीकार किया जायेगा तो फिर उसी ढंग से शशशृङ्गानुपलब्धि होने पर भी तदनुपलब्धि शशशृङ्ग की सत्ता की बाधिका नहीं हो सकती ।[1] अतएव जिस प्रकार

1- यदि शशशृङ्गंमप्ययोग्यं तदा तस्यानुपलब्धेर्न बाधिका स्यादिति।
बोधिनी पृ0326

एवं -
यद्ययोग्यस्य शशशृङ्गस्यानुपलब्धेर्न बाधिका स्यात् ततो बाधकाभावमात्रात् किं तच्छृङ्गं न सिध्यति ?

आप नैयायिक लोग बाधक के न रहने मात्र से प्रत्यक्षायोग्य ईश्वरसत्ता की सिद्धि करते हैं उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षायोग्य शशशृङ्ग की भी सत्ता है[1] परन्तु उसकी भी अनुपलब्धि अयोग्यानुपलब्धि है अतएव उसका प्रत्यक्ष सर्व-सामान्य को नहीं होता ।

इस आक्षेप के उत्तरस्वरूप उदयनाचार्य का कहना है कि यदि शशविषाण को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का सद्भाव है तो उसकी सत्ता भी सिद्ध हो जाय,[2] इसमें हम नैयायिकों को कोई आपत्ति नहीं होगी । क्योंकि नैयायिक प्रत्यक्षायोग्य अर्थात् अप्रत्यक्ष शशविषाण का निषेध बिल्कुल नहीं करते हैं बल्कि केवल प्रत्यक्षयोग्य शशविषाण का ही निषेध करते हैं । इसी तरह से बोधिनीकार ने भी कहा है कि यदि शशशृङ्ग के अस्तित्व में प्रमाण हो तो उसकी भी सत्ता सिद्ध हो सकती है परन्तु शशविषाणसाधक प्रमाणों का अभाव है, अतएव उसकी असत्ता स्वयं सिद्ध है ।[3] प्रकाशकार ने इस विषय में कहा है कि शश में शृङ्ग का अत्यन्ताभाव है ऐसा सभी को प्रत्यक्ष है । अतएव शशविषाण का प्रत्यक्षबाध अबाधित है ।[4] बोधिनीका

1- यदीश्वरः सिद्ध्येत् तदा शशशृङ्गमपि सिद्ध्येदितीश्वरसाधने प्रतिबन्धः ।

प्रकाश पृ० 326

2- एवमस्तु यदि प्रमाणमस्ति ।

न्या०कु० पृ० 326

3- स्यादेवं यदि शशशृङ्गस्यास्तित्वे प्रमाणं स्यात्, तत्तु नास्ति ।

बो० पृ० 326

4- शशे शृङ्गस्यात्यन्ताभाव इति सर्वेषामबाधितप्रत्यक्षबाधः ।

प्रकाश पृ०326

ने कहा है कि यदि इस आधार पर कि जिस प्रकार शशविषाणसाधक प्रमाणाभाव में शशविषाण की सत्ता विघटित हो जाती है उसी नय से ईश्वरसाधन में भी प्रमाणाभाव से ईश्वरविषयक अवधारणा निराकृत की जा सकती है, तो पूर्वपक्षियों का ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि हम लोग बाधकाभावमात्र से ईश्वर की सिद्धि नहीं करते अपितु तद् साधक प्रमाणों को भी उपस्थित करके उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं।[1] इन प्रमाणों को उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमान्जलि में उद्धृत किया है।[2]

इस प्रकार से पूर्वपक्षियों के द्वारा अनुपलब्धिप्रमाण द्वारा किया जाने वाला ईश्वरबाध का प्रयास विफल हो जाता है तथा बौद्ध मीमांसकादि भी केवल अनुपलब्धि को अभावसाधिका मानने से भयाक्रान्त हो जाते हैं क्योंकि योग्यानुपलब्धि की जगह केवल अनुपलब्धि को अभावसाधिका मानने पर बौद्धादि को अभिप्रेत धर्माधर्मादि रूप अतीन्द्रियार्थ पदार्थों का सर्वथा लोप प्राप्त हो जाता है,[3] जो कि पूर्वपक्षियों को अभिमत नहीं है। बौद्ध यद्यपि नित्यात्मा एवं ईश्वरसत्ता को स्वीकार नहीं करते, इसी तरह से मीमांसक भी ईश्वर की असत्ता को ही स्वीकार करते हैं, परन्तु आकाश एवं धर्माधर्मादि का लोप प्राप्त होने पर बौद्ध, एवं अदृष्ट

1- न हि वयं बाधकाभावमात्रेणेश्वरमभ्युपगच्छामः किन्तु साधकसद्भावादेवेति भावः। बौ०पृ०326

2- कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।। न्या०कु05/1

3- किन्त्वानुपलब्धिमात्रान्निषेधे नाचयेऽतीन्द्रियोच्छेदात् योग्यानुपलम्भात् स वाच्यः।
प्रकाश पृ033

तथा स्वर्ग, नरक, देवता आदि का लोप प्राप्त होने पर मीमांसक दोनों भयभीत हो जाते हैं । अतएव वे दोनों योग्यानुपलब्धि को ही अभावसाधिका स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं । इसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण को स्वीकार कर लेने पर अनुमान प्रमाण का भी निष्प्रयोजनत्व प्राप्त होता है अतएव उसका भी लोप प्राप्त होता है जो कि बौद्ध तथा मीमांसकों को अभिमत नहीं है क्योंकि इन दोनों को प्रत्यक्षातिरिक्त अनुमान प्रमाण की भी सत्ता अभीष्टहै ।

<u>चार्वाकों के मत से अनुपलब्धि ही अभाव साधिका है योग्यानुपलब्धि नहीं</u> -

परन्तु चार्वाकों के लिए आकाश, धर्माधर्मरूप अदृष्ट, स्वर्ग, नरक, देवता आदि का एवं अनुमान प्रमाण का लोप प्राप्त होने पर वे भयभीत नहीं होते क्योंकि उनके लिए ये सब अभीष्ट ही हैं । अतएव वे पुनः कहते हैं कि योग्यता विशेषण से क्या प्रयोजन है ? उनका कहना है कि प्रत्यक्षग्राह्य वस्त्वतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है अतएव योग्यानुपलब्धि नहीं अपितु केवल अनुपलब्धि मात्र ही अभाव-साधिका है ।[1] अतः जब ईश्वर का अभाव अनुपलब्धि प्रमाण से प्राप्त है क्योंकि उसकी प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि नहीं होती, तो यही निर्णय उपयुक्त है कि ईश्वर नहीं है । उनका कहना है कि अनुपलब्धि प्रमाण को अभाव साधक मानने पर यदि अनुमान-सिद्ध धर्माधर्मादि का अथवा स्वयं अनुमान का विलोप भी प्राप्त हो जाय तो वह

1- अत्र चार्वाकाः "योग्यताविशेषणेन किं यन्न प्रत्यक्षं तन्नास्ति" इत्यनुपलब्धि-मात्रमेव बाधकं स्यात् अनुमानविलोपश्चेष्ट एव ।

विवृति पृ० 109

हमें अभीष्ट ही है ।[1] यदि नैयायिक यह कहें कि धूमादि दर्शनोपरान्त जो वह्न्यर्थ प्रवृत्ति होती है वह बिना अनुमान के नहीं होती क्योंकि अग्नि का प्रत्यक्ष न होने से अग्नि की सत्ता नहीं निश्चित हो पायेगी, तो नैयायिकों का यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि धूमादिदर्शनोपरान्त जो वह्न्यर्थ प्रवृत्ति होती है वह वह्न्यनुमान से नहीं अपितु सम्भावना मात्र से होती है । इस बात को न्याय-कुसुमाञ्जलि के प्रणेता उदयन[2] एवं उनके टीकाकार वरदराज,[3] एवं हरिदास भट्टाचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है । बौद्धों का भी यही मानना है कि केवल संभावना मात्र से ही धूमदर्शनोपरान्त अग्निहेतुक प्रवृत्ति होती है-जैसे कि न्यायबिन्दु के टीकाकार श्री धर्मोत्तराचार्य ने कहा है कि सम्भावना से ही मनुष्य प्रवृत्त हो जाते हैं क्योंकि अर्थ की संभावना भी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति का साधन होती है तथा अनर्थ की संभावना भी निवृत्ति का साधन होती है ।[5]

1- एवमनुमानादिविलोप इति चेत्, नेदमनिष्टम् ।

न्या० कुसु० पृ० 334

2- तथा च लोकव्यवहारोच्छेद इति चेन्न । सम्भावनामात्रेण तत्सिद्धेः ।

न्या०कुसु०पृ०334

3- धूमादिदर्शनेऽग्निसम्भावनामात्रेण व्यवहरन्ति, न तु निश्चयात्, अतो न तदर्थमनुमानप्रामाण्यमङ्गीकर्तव्यमिति । बोधिनी पृ०334

4- धूमदर्शनानन्तरं वह्न्यर्थप्रवृत्तिश्च संभावनामात्रादिति ।

विवृत्ति पृ०109

5- संशयाच्च प्रवर्तन्ते । अर्थसंशयोऽपि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावताम् । अनर्थसंशयोऽपि निवृत्त्यङ्गम् । न्या०बि०टी०1/, पृ07

चार्वाकों के इस मत को स्वीकार करने से अग्नि के प्रति प्रवृत्ति नहीं होगी

प्रस्तुत आक्षेप के समाधानार्थ उदयनाचार्य ने कहा है कि अग्नि के दर्शन और अदर्शन दोनों पक्षों में सन्देह नहीं बनता है क्योंकि दर्शनपक्ष में भाव और अदर्शन पक्ष में अभाव सुनिश्चित हो जाता है[1]। अतएव धूमदर्शनोपरान्त अग्नि की सत्ता अथवा असत्ता के सुनिश्चित हो जाने पर संशय के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अतएव यदि अनुमान प्रमाण को नहीं स्वीकार किया जायेगा तो अग्नि लाने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु देखा यही जाता है कि धूमदर्शन के बाद वह्न्यन्वेषकों की अग्नि के प्रति प्रवृत्ति हो जाती है और वह आदमी उस ओर चल पड़ता है। अतएव अनुमान प्रमाण की सत्ता को ठुकराया नहीं जा सकता। उदयनाचार्य ने न्याय-कुसुमाञ्जलि की व्याख्या में भी लिखा है कि सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं है।[2] बोधिनीकार श्री वरदराज ने लिखा है कि संदेह से प्रवृत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि आपके पक्ष में संदेह ही असम्भव है। उन्होंने कहा कि दृष्ट और अदृष्ट दोनों पक्षों में संदेह का होना असम्भव है क्योंकि दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष दशा में वस्तु की सत्ता और अप्रत्यक्ष दशा में वस्तु की असत्ता का अवधारण हो जाता है। अतएव लौकिक व्यवहारार्थ अनुमानादि को अङ्गीकार करना चाहिए।

1- दृष्टयदृष्टयोर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्।

न्या०कु०3/6

2- स एव तु कुतः ? दर्शनदशायां भावनिश्चयात्, अदर्शनदशायामभावावधारणात्।

न्या०कु०प्र०335

अतएव अनुपलम्भ मात्र से अभावनिश्चय दुर्लभ है ।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने भी इसी आशय का मत प्रस्तुत किया है कि संभावना ही सन्देह है और प्रत्यक्षदशा में उसकी भावात्मक प्रतीति से एवं अप्रत्यक्ष दशा में अभावात्मक प्रतीति से सन्देह हो ही नहीं सकता ।[2] नारायण तीर्थ ने कहा है कि चार्वाक के मतानुसार यदि अनुपलब्धि के बल पर ही अभाव का निश्चय करेंगे तो अनुमान के अप्रमाण हो जाने पर चार्वाकों का वह्न्यंश में यह कथन कि "वह्नि के प्रति प्रवृत्ति" उत्कट कोटिक संभावना से वह्नि व्यवहार होगा" अनुपपन्न हो जायेगा क्योंकि उनके द्वारा प्रदर्शित युक्ति के अनुसार वह्निभाव और वह्न्यभाव से इतर वह्निसंदेह असंभव होगा ।[3]

1- संदेहात् प्रवृत्तिरिति तावन्न सम्भवति, भवत्पक्षे संदेहस्यैवासंभवात् । दृष्टौ सत्यामदृष्टौ वा सत्यां क्व कस्मिन्विषये दृष्टेऽदृष्टे वा, संदेहः स्यादुभयोरप्युभयत्रापि न संभवति । संशयस्य हेतुर्विषयश्च नास्तीत्यर्थः ।कुतः भावाभावनिश्चयात् दृष्ट्यादृष्ट्योरित्येव दर्शनदशायां भावावधारणादर्शनदशायां वाऽभावावधारणात् अतो व्यवहारार्थमनुमानादिकमेवाङ्गीकरणीयं, तच्चानुपलम्भमात्रेणाभावनिश्चये दुर्लभम् । बोधिनी पृ0334

2- सम्भावना हि सन्देहः । स च दृष्टौ नास्ति तस्य निश्चयात्, अदृष्टौ च नास्ति अनुपलब्धौ तदभावस्यैव निर्णयात् । विवृति पृ0110

3- चार्वाकमते यद्यनुपलब्धिबलादेवाभावविनिश्चयस्तदाऽनुमानाप्रामाण्यमभ्युपगन्तृणां चार्वाकाणां वह्न्यंशे "उत्कटकोटिकसम्भावनातो वह्निव्यवहार इति" मतमनुपपन्नं स्यात् उपदर्शितयुक्त्या वह्निवह्न्यभावयोरन्यतरनिश्चयेन वह्निसन्देहासम्भवादिति कु0का0व्या 3/6 पृ037

प्रत्यक्ष प्रमाण भी विपन्न हो जायेगा- चार्वाक मत पर आक्षेप -

नैयायिक चार्वाकों के प्रति योग्यानुपलब्धि को ही अभावसाधिका सिद्ध करने के लिए दूसरा तर्क देते हैं कि यदि अनुपलब्धि को ही अभावसाधिका स्वीकार किया जायेगा तो चार्वाकों को मान्य एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण भी विपन्न हो जायेगा[1] क्योंकि प्रत्यक्षग्राहक प्रधान कारण चक्षु के अतीन्द्रिय होने के कारण उसकी प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि नहीं होगी और तदभाव में प्रत्यक्ष का भी अभाव स्वीकार करना पड़ जायेगा । नैयायिकों के अनुसार चक्षुरादि इन्द्रियों का ग्रहण अनुमान प्रमाण से ही होता है क्योंकि वे अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष के विषय नहीं है । गोलक इत्यादि जो प्रत्यक्ष दीखते हैं उनको प्रत्यक्षात्मकोपलब्धि का कारण नहीं कहा जा सकता है । श्री उदयनाचार्य का कहना है कि अनुपलब्धि को अभाव-ग्राहिका मानने से प्रत्यक्ष भी नहीं होगा क्योंकि उसके हेतुओं चक्षुरादियों के अभाव से उसका बाध हो जायेगा । उनका कहना है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि गोलकादि की उपलब्धि होती है तो ऐसा स्वीकार करने से भी प्रत्यक्ष का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि गोलकादि की उपलब्धि के पूर्व उनकी अनुपलब्धि होती है । अतएव वह गोलकादि स्वयं का प्रत्यक्ष कैसे कर सकते हैं ? यदि गोलक और गोल-

---

1- अदृष्टबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ।

न्या0कु0 3/6

कोपलब्धि का यौगपद्य माना जाय तो यह भी असंभव है क्योंकि दोनों में कार्यकारण भाव है ।[1] जब कि कार्यकारणभाव समसमय वाले पदार्थों में नहीं हो सकता, क्योंकि तर्कभाषाकार ने भी कारणत्व एवं कार्यत्व को परिभाषित करते हुए कहा है कि अनन्यथासिद्ध नियतपूर्वभावित्व कारणत्व है एवं अनन्यथासिद्ध नियत पश्चाद्भावित्व कार्यत्व है ।[2] उदयनाचार्य के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए वरदराज ने कहा है कि गोलकादि उपलब्धि के कारण नहीं हो सकते क्योंकि वे अपनी प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि के पूर्व अनुपलब्ध होने से असत् होते हैं अतएव वे स्वस्वविषयों की उपलब्धि कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? उनका कहना है कि यदि यह स्वीकार किया जाय कि अपने उपलब्धिकाल में ही विद्यमान रहते हुए अपना और स्वभिन्नविषयान्तर की उपलब्धि करा देंगे तो यह भी असंभव है क्योंकि चक्षुरादियों एवं तद्विषयों की उपलब्धता में कार्यकारणभावसम्बन्ध रहने के कारण

1-(क) अतएव प्रत्यक्षमपि न स्यात्, तद्धेतूनां चक्षुरादीनामनुपलम्भ बाधितत्वात् । उपलभ्यन्त एव गोलकादय इति चेन्न । तदुपलब्धेः पूर्वं तेषामनुपलम्भात् । न च यौगपद्यनियमः । कार्यकारणभावादिति ।

न्या०कुसु०पृ०335-36

(ख) न केवलमनुमानादिकमेव प्रत्यक्षमपि तद्धेतौ चक्षुरादावनुपलब्धिमात्रेणबाधिते कारणाभावात् कार्याभाव इति न्यायेन दुर्लभमिति सर्वोपप्लव इति ।

बोधिनी पृ०334

2- अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम् । अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम् । तर्कभाषा पृ०20

इन दोनों की स्थिति युगपद् नहीं हो सकती ।[1] प्रकाशकार ने कहा है कि इन्द्रिय एवं इन्द्रियजन्य उपलब्धता के युगपद् होने पर पौर्वापर्य का अभाव रहेगा[2] और कि पौर्वापर्य कार्यकारणभाव के लिए आवश्यक है । अतः पूर्वपक्षियों का यह मत असंगत है । अनुपलब्धि को ही अभावग्राहिका मानने पर प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य खण्डित हो जाने के विषय में हरिदास भट्टाचार्य ने भी प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि केवल अनुपलब्धि को ही प्रत्यक्ष का हेतु मानने पर चक्षुरादि के बाधित हो जाने से प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं हो सकेगा ।[3] नारायणतीर्थ ने कहा है कि अनुपलब्धि को अभावसाधक मानने पर गोलकादि के अदर्शन से गोलकाभाव सिद्ध हो जायेगा और तदनुपलब्धि से प्रत्यक्षप्रमाण भी व्याहत हो जायेगा । अतएव अनुपलब्धि अभाव-साधिका नहीं है । अपितु योग्यानुपलब्धि ही अभाव साधिका है ।[4]

1- गोलकादयः स्वोपलब्धेः पूर्वमनुपलम्भेनासन्तः कथं स्वस्वविषयमुपलम्भमुत्पादयेयुरिति तर्हि स्वोपलम्भकाल एव सन्तः स्वविषयमुपलम्भान्तरमादधीरन्नित्यत आह "न च" इति । न हि चक्षुरादीनां स्वविषयोपलम्भस्य च कार्यकारणभावायौगपद्यं भवतीति।

बोधिनी पृ0336

2- उपलम्भेन्द्रिययोर्युगपदुत्पन्नयोः पौर्वापर्याभावादित्यर्थः ।

प्रकाश पृ0336

3- एवमदृष्ट्या अनुपलब्ध्या हेतौ प्रत्यक्षकारणे चक्षुरादौ बाधिते सति प्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यात् ।

विवृति पृ0 110

4- गोलकाद्यदर्शनेन गोलकाभावसिद्ध्या प्रत्यक्षप्रमाणमपि व्याहन्येतेति भावः ।------ तस्मादनुपलब्धिर्नाभावसाधिका किन्तु योग्यानुपलब्धिरेव ।

कु0का0व्या0पृ037

<u>अदर्शन दशा में पुत्रादि का अभाव सिद्ध होने लगेगा -</u>

अनुपलब्धि को अभावसाधन स्थापित करने हेतु चार्वाकों के प्रति नैयायिक तीसरा तर्क देते हैं कि यदि चार्वाक केवल अनुपलब्धि को ही अभाव का निर्णायक मानें तो फिर घर से निकले हुए चार्वाक को घर नहीं लौटना चाहिए, बल्कि उनको वहाँ पर पुत्रादि की अनुपलब्धि से अभाव का अवधारण करके शोकविकल होकर शिर पीटते हुए रोना चाहिए। यदि चार्वाक यह कहें कि पुत्रादि के स्मरणात्मक ज्ञान के उस समय भी मौजूद होने से उनका अभाव नहीं सिद्ध होगा तो चार्वाकों का यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी का स्मरण मात्र ही उसके अभाव का निश्चायक नहीं है क्योंकि वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी उन वस्तुओं का स्मरणात्मक ज्ञान होता रहता है। अतएव पुत्रादि के स्मरण से घर लौट आने पर भी उनकी प्राप्ति पूर्ण सम्भावित नहीं है। यदि चार्वाक यह कहें कि उस समय उनकी सत्ता रहने से उनकी प्राप्ति भी हो जायेगी तो फिर यह कहना चाहिए कि जिस समय जिस वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है उस समय भी उस वस्तु की सत्ता अवश्य रहती है। अतएव अनुपलब्धिमात्र के द्वारा अभाव का अवधारण नहीं हो सकता है।[1]

1- तथा च गृहाद् बहिर्गतश्चार्वाको वराको न निवर्तेत। प्रत्युत पुत्रदाराद्यभावावधारणात् सोरस्ताडं शोकविकलो विक्रोशेत्। स्मरणानुभवान्नैवमिति चेत्। न प्रतियोगिस्मरण एवाऽभावपरिच्छेदात्, परावृत्तोऽपि कथं पुनरासादयिष्यति। सत्त्वादिति चेत्, अनुपलम्भकालेऽपि तर्हि सन्तीति न तावन्मात्रेणाभावावधारणम्।

इस प्रकार से चार्वाकों के द्वारा अनुपलब्धि को अभावग्राहक मानने पर नैयायिक उनके मत में तीन प्रकार का दोषारोपण करते हैं । (I) धूमदर्शनोपरान्त अग्नि के प्रति प्रवृत्ति का अभाव (II) एकमात्र अभिमत प्रत्यक्ष प्रमाण का लोप एवं (III) उनके बहिर्गमन के समय पुत्रधनादि के अभाव की प्राप्ति ।

अतएव अनुपलब्धि को अभावसाधिका मानने पर इन तीनों दोषों का निवारण करना चार्वाकों के लिए असंभव हो जायेगा । अतएव नैयायिकों का कहना है कि मात्र अनुपलब्धि ही अभावसाधन का हेतु नहीं है अपितु योग्यानुपलब्धि ही अभावसाधन का माध्यम है । अतएव पूर्वपक्षियों द्वारा अनुपलब्धि प्रमाणाधारतया जो ईश्वराभावमूलक तर्क उपस्थित किया गया है, इसका निरास हो जाता है क्योंकि ईश्वर की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि न होकर अयोग्यानुपलब्धि है । अतएव अयोग्यानुपलब्धि होने के कारण यदि ईश्वर की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि नहीं होती है तो कोई अनौचित्य नहीं है, और आधार पर ईश्वर की असत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है ।

<u>अनुपलब्धि के प्रमाणत्व का खण्डन -</u>

न्याय-वैशेषिकों के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि अभाव अर्थात् अनुपलब्धिमात्र से ईश्वर का अभावसिद्ध नहीं किया जा सकता है । न्याय-वैशेषिक मतावलम्बी अभाव के प्रमाणत्व पर भी आक्षेप करते रहे हैं । उनका कहना है कि अभाव कोई अलग से प्रमाण ही नहीं है । प्रशस्त देवाचार्य ने अभाव का अन्तर्भाव अनुमान में स्वीकार किया है जब कि नैयायिक लोग उसको प्रत्यक्ष में ही

समाहित करते हैं । प्रशस्तपाद का कहना है कि अभाव प्रमाण अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत है, क्योंकि जिस प्रकार उत्पन्न कार्य अपने कारण के सत्ता का ज्ञापक है उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी अपने कारण के असत्ता का ज्ञापक हेतु है ।[1] इसी प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने भी अभावप्रमाण के प्रमाणत्व का निषेध करते हुए तत्त्वकौमुदी में कहा है कि अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है उससे भिन्न नहीं । उनका कहना है कि घट का अभाव भूतल के घटरहितत्वरूप परिणामविशेष से भिन्न कोई वस्तु नहीं है क्योंकि एक चितिशक्ति को छोड़कर शेष सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम होता है । यह घटरहितत्व रूप भूतल का परिणामविशेष इन्द्रियग्राह्य ही है । इसलिए प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला अभावनामक ऐसा कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं जिसके ज्ञान के लिए अभाव नामक पृथक् प्रमाण की सत्ता को स्वीकार किया जाय ।[2]

अब प्रश्न उठता है कि जब न्याय-वैशेषिकों के द्वारा अभाव प्रमाण को अस्वीकार कर दिया जाता है तो फिर सप्तम पदार्थरूप अभाव का ग्रहण किस तरह से सम्भव हो सकता है ? इस आशङ्का के उत्तर में न्यायभाष्यकार ने कहा है

1- अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावेलिङ्गम् । प्र०पा०भा०पृ०180

2- एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव । न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम । प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे एव भावाः ऋते चितिशक्तेः । स च परिणामभेदः ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्राभावाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति ।

सा०त०कौ०पृ०13।

कि सत् के मिल जाने पर भी असत् के न मिलने से वह जाना जा सकेगा, जिस प्रकार द्रष्टापुरुष दीपक हाथ में लेकर दीखने योग्य सत् वस्तु को ग्रहण कर लेने की क्षमता रखते हुए भी उसी दृश्य वस्तु की तरह उस असत् को नहीं ग्रहण कर पाता है तो समझ लेता है कि वह वस्तु नहीं है क्योंकि यदि वह असत् वस्तु होती तो अवश्य उसके द्वारा सत् की तरह जानी जाती। चूंकि जानी नहीं गई इसलिए योग्यानुपलब्धि से समझता है कि वह नहीं है। इस तरह से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सत् के जान लिये जाने पर उसकी तरह जो नहीं जाना जाता है तो समझ लिया जाता है कि वह नहीं है। अतः "सत्" का ज्ञान कराने वाला प्रमाण असत् का भी ज्ञान करा देता है।[1] तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने भी कहा है कि यदि घटाभावस्थल में घट होता तो भूतल के समान दिखलाई देता-इत्यादि तर्क के साथ अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्षप्रमाण से ही अभाव का ग्रहण हो जाता है।[2] श्रीमदुदयनाचार्य ने अभाव का ग्रहण प्रत्यक्षप्रमाण से ही स्वीकार किया है और इस मत के समर्थन में आठ हेतु दिये हैं।[3]

1- सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्। यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति, "यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्ति" इत्येवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति,------ तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति। न्या०भा०1/1/1पृ04-5

2- यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्। तर्कभाषा पृ0 142

3- प्रतिपत्तेरपारोक्ष्याद् इन्द्रियस्यानुपक्षयात्।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः।।
प्रतियोगिनि सामर्थ्याद् व्यापाराव्यवधानतः।
अज्ञाश्रयत्वाददोषाणां इन्द्रियाणि विकल्पनात्।।
न्या0कुसु03/20-21

परन्तु यदि अनुपलब्धिप्रमाणवादी यह कहें कि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होना असंभव है, क्योंकि अभाव पदार्थ में रूपाभाव होने से उसके साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न बनने के कारण इन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं हो सकता है । क्योंकि अभाव के साथ नेत्रेन्द्रिय का संयोग और समवाय[1] में से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता । इसके उत्तर में जयन्तभट्ट का कहना है कि पूर्वपक्षियों का ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि कोई भी ज्ञान रूपवान् वस्तुविषयक होने से ही चाक्षुष नहीं होता अपितु वह चक्षुर्जनित होने के कारण ही चाक्षुष होता है, क्योंकि यदि रूपवान् विषयों का ज्ञान ही चाक्षुष हो तो फिर परमाणुओं का ज्ञान भी चाक्षुष हो जायेगा ।[2] इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के मामले में उनका कहना है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवलभाव पदार्थों के लिए ही आवश्यक है जब कि अभाव का ग्रहण तो असम्बद्धरूप से अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षाभाव में ही होता है । अतः छः

1- (क) घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ।। कारिकावली ।।

(ख) अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । सि० मुक्ता०।।

2- चक्षुर्जनितज्ञानविषयत्वाच्चाक्षुषत्वम्, न रूपवत्त्वेन, रूपवतामपि परमाणूनामचाक्षुषत्वात् ।

न्या०म०भाग । पृ०82

प्रकार के सन्निकर्ष केवलभावपदार्थों के अभिप्राय से ही कहे गये हैं अर्थात् जो वस्तु सम्बद्धरूप से गृहीत होती है वह छः प्रकार के सन्निकर्षों में से ही किसी एक से गृहीत होती है । साथ ही इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व भी केवल सत् विषयों में ही लागू होता है ।[1] जब कि अभाव अवस्तुरूप होने पर उसका ग्रहण बिना इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के भी चक्षु से ही गृहीत होता है ।[2] जयन्तभट्ट का यह भी कहना है कि पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकते कि इस प्रकार असम्बद्धरूप से अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाव होने पर भी यदि अभाव का ग्रहण होगा तब तो देशान्तरस्थ समस्त अभावों का भी ग्रहण होना चाहिए क्योंकि देशान्तरादि के सभी अभावों के ग्रहण की प्रतीति स्वाश्रयग्रहणसापेक्ष होती है ।[3]

1- भावे खल्वयं नियमो यदसम्बद्धस्य चक्षुषा अग्रहणम् । अभावस्त्वसम्बद्धोऽपि चक्षुषा गृहीष्यते । षट्प्रकारसन्निकर्षवर्णनमपि भावाभिप्रायमेव । सम्बद्धं हि यद् गृह्यते तत् षण्णां सन्निकर्षाणामन्यतमेन सन्निकर्षेणेति । प्राप्यकारित्वमपि इन्द्रियाणां वस्त्वभिप्रायमेवोच्यते ।

न्या०म०भाग । पृ०82

2- तस्मादवस्तुत्वादभावस्य तेन सन्निकर्षमलभमानमपि नयनमुपजनयति तद्विषयमवगममिति न दोषः ।

न्या०म०भाग । पृ० 82

3- न चासम्बद्धत्वाविशेषाद् देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्, आश्रयग्रहणसापेक्षत्वादभाव प्रतीतेः । आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात्।

न्या०म०भाग । पृ०82

यहाँ पर यह भी प्रश्न उठता है कि अभाव का ग्रहण संयोग या समवाय सम्बन्ध के द्वारा असम्भव होने से फिर किस सम्बन्ध के द्वारा उसका ग्रहण होता है कि तो उसके उत्तर में जयन्तभट्ट का कहना है कि संयुक्तविशेषणभाव सन्निकर्ष की सहायता से चक्षु के द्वारा अभाव का ग्रहण होता है जैसे कि समवायवादियों के मत से समवाय का ग्रहण होता है ।[1] तर्कभाषाकार श्रीकेशव मिश्र ने कहा है कि अभाव को प्रकाशित करने वाली इन्द्रिय विशेषण-विशेष्यभाव के द्वारा ही प्रकाशित करती हैं । जब कि इन्द्रियाँ केवल भावपदार्थों को ही प्रकाशित करती हैं, क्योंकि इन्द्रिय, सम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहिका होती है यह व्याप्ति भावपदार्थ तक ही सीमित है ।[2] न्यायवार्तिककार ने भी कहा है कि समवाय और अभाव का ग्रहण विशेषण विशेष्यभाव से ही होता है ।[3] कणादगौतमीयम् में भी कहा गया है कि अभावों के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है जैसे कि घटाभाववद् भूतलम् में चक्षुः संयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष है क्योंकि चक्षुः संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है ।[4]

1- संयुक्तविशेषणभावाख्यसन्निकर्षोपकृतं चक्षुरभावं ग्रहीष्यति, यथा समवायप्रत्यक्षत्ववादिनां पक्षे समवायमिति । न्या०म०भाग । पृ०83

2- भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति नत्वभावमपि । अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः।
तर्कभाषा पृ० 153

3- समवाये चाभावे च विशेषणविशेष्यभावादिति।
न्या०वा०

4- अभावानां प्रत्यक्षे च विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः-घटाभाववद् भूतलमित्यत्र चक्षुः संयुक्ते भूतले घटाभावो विशेषणमिति चक्षुः संयुक्तविशेषणता सन्निकर्षः।
कणा०गौ०पृ०10।

इस प्रकार से नैयायिकों के मतानुसार घटाभाव के ग्रहण में इन्द्रिय और अभाव का इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता अथवा इन्द्रियसम्बद्ध विशेष्यतारूप सम्बन्ध है, जिसे विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध भी कहते हैं। जहाँ "घटाभाववद् भूतलम्" इत्याकारक ज्ञानोपलब्धि होती है वहाँ चक्षुरिन्द्रियसम्बद्ध भूतल में घटाभाव विशेषण है और जहाँ "भूतले घटाभावः" यह ज्ञान होता है वहाँ चक्षुसम्बद्धभूतल में घटाभाव विशेष्य है। इसलिए प्रथम उदाहरण "घटाभाववद् भूतलम्" में चक्षुष् का घटाभाव के साथ "इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासम्बन्ध" और दूसरे "भूतले घटाभावः" में चक्षुष् का घटाभाव के साथ "इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यतासम्बन्ध" है। अतः विशेष्यविशेषणभाव से इन्द्रिय द्वारा घटाभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है। अतः अनुपलब्धि प्रमाण की अनर्थकता सिद्ध होती है। अतएव इस प्रमाण के प्रामाण्य का खण्डन हो जाने पर भी पूर्वपक्षीगण इसके आधार पर ईश्वर का बाध नहीं निश्चित कर सकते।

ईश्वर की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि भी संभव है -

यद्यपि न्याय-वैशेषिकों ने अनुपलब्धि प्रमाण के आधार पर पूर्वपक्षियों के द्वारा किये जा रहे ईश्वरबाध का खण्डन कर दिया है क्योंकि किसी वस्तु का अभाव केवल तदनुपलब्धि से ही नहीं अपितु इसके योग्यानुपलब्धि से ही निश्चित होता है। ईश्वर की अनुपलब्धि को नैयायिकों ने प्रत्यक्षायोग्य अनुपलब्धि स्वीकार किया है। अतएव अनुपलब्धि के आधार पर ईश्वर का निरास नहीं किया जा सकता। तत्पश्चात् उन्होंने पूर्वपक्षियों को अभिमत अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमाणत्व का भी खण्डन

कर दिया और उसका अन्तर्भाव नैयायिक अनुमान से सहकृत प्रत्यक्ष में एवं वैशेषिक उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में स्वीकार करके यह सिद्ध कर देते हैं कि जब अनुपलब्धि कोई प्रमाण ही नहीं तो फिर उसके आधार पर ईश्वरबाध कैसे स्वीकार किया जा सकता है ।

अब नैयायिक पूर्वपक्षियों के मनस्तोष के लिए यह भी प्रतिपादित करना चाहते हैं कि यदि आप केवल प्रत्यक्ष के आधार पर ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना चाहें तो ईश्वर का प्रत्यक्ष भी संभव है । उनका कहना है कि जिस मनन को श्रुतियों में मोक्ष का साधक कहा गया है उस मनन के आधार पर कुछ विशिष्ट पुरुषों को ईश्वर की प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि भी होती है जो किसी को भी हो सकती है । जिस प्रकार कि घट में रहने वाले प्रमेयत्वादि धर्मों का प्रत्यक्ष कुछ विशेष प्रकार के पुरुषों को ही होता है,[1] उसी प्रकार योगादि के अनुष्ठानों से जिनका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है-उन महापुरुषों को अवश्य ही परमेश्वर का योगज प्रत्यक्ष होता है । अतः पूर्वपक्षियों के द्वारा यह कहना कि परमेश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता- साहस मात्र है ।

श्रुति ने श्रवण मनन और निदिध्यासन को आत्मदर्शन के उपाय के रूप में प्रतिपादित किया है परन्तु ईश्वर जैसे चर्मचक्षुओं से न दीखने वाले पदार्थ के साक्षात्कार में प्रायः तीन प्रकार की बाधाएं उपस्थित होती हैं । §1§ असंभावना §2§ विपरीत भावना एवं §।।।§ परोक्ष्य । इन्हीं तीनों बाधाओं को ही दूर

1- स एव भगवान् श्रुतोऽनुमितश्च, कैश्चिद् साक्षादपि दृश्यते, प्रमेयत्वादेर्घटवद् ।

न्या0कु0प0573

करने के लिए श्रुति ने तीन प्रकार के साधनों का प्रतिपादन किया है । इनमें श्रवण द्वारा असम्भावना, मनन द्वारा विपरीत भावना और निदिध्यासन द्वारा पारोक्ष्य का निवारण होता है । ईश्वरात्मा जैसे अप्रत्यक्ष के विषय में असम्भावनारूपी अभावात्मक बुद्धि का होना साधारण बात है । श्रुतियों में उस परमात्मतत्त्व का वर्णन देखकर श्रवण द्वारा उस असम्भावना की निवृत्ति हो जाती है । परन्तु श्रवण से प्राप्त यह ज्ञान आत्मसन्तोष के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि उस श्रुत परमात्मस्वरूप के विषय में नाना प्रकार की विपरीत भावना का होना कोई बड़ी बात नहीं है । अतः उस विपरीत भावना के निवारणार्थ "मनन" का निर्देश श्रुति में किया जाता है, जिसके द्वारा परमात्मा का वेदप्रतिपादित स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है, परन्तु उससे भी जिज्ञासा शान्त नहीं होती है । कारण कि वह स्वरूप अपने अनुभवरूप की अर्थात् साक्षात्कार रूप की नहीं अपितु परोक्ष जैसी प्रतीति होती है । इस पारोक्ष्य दोष की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन" का विधान किया गया है । अतएव योगशास्त्र में वर्णित अष्टाङ्ग योग के आधार पर परमात्मा का चिन्तन करने से आत्मा का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है ।

यद्यपि वैशेषिक लोग तो स्पष्टरूप से यह नहीं कहते कि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है । परन्तु उन्होंने युक्त और वियुक्त योगियों की चर्चा करते हुए कहा है कि सम्प्रज्ञात समाधि से युक्त योगियों को इस योग से उत्पन्न धर्म के अनुग्रह से युक्त मन के द्वारा अपनी आत्मा और अपनी आत्मा से भिन्न परात्माओं का तथा आकाश, काल, वायु, परमाणु और मन इन सबों का एवं सबमें रहने वाले गुणादि और समवाय

का अवितथ अर्थात् विपर्ययरहित यथार्थ ज्ञान होता है ।[1] उनका कहना है कि जिस समय दूसरे की आत्मा एवं कालादि वस्तुओं की जानने की इच्छा से उनके चिन्तन के प्रयास का अभ्यास योगी लोग करते हैं उस समय योगियों में वह उत्कृष्ट धर्म बढ़ने लगता है, जिसका प्रभाव हम साधारणजनों की चिन्ता के भी बाहर हैं । इस धर्म के बल से उनका अन्तःकरण उनके शरीर से बाहर होकर परात्मा प्रभृति वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होता है । अन्तःकरण के संयोग से परात्मा का एव संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से उस आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहने वाले गुणादि का एवं संयुक्तसमवेत समवायसम्बन्ध से उन गुणादि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणत्वादि धर्मों का एवं विशेषणता सम्बन्ध से उस आत्मा में रहने वाले समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष योगियों को होता है ।[2]

न्यायकन्दली में वियुक्त योगियों के प्रत्यक्ष के विषय में कहा गया है कि वियुक्त योगी समाधि-अवस्था में न होते हुए अत्यन्त योगाभ्यास के कारण

1- युक्तानां समाध्यवस्थितानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मनि, स्वात्मान्तरेषु स्वात्मन आत्मान्तरेषु परकीयेषु आकाशे दिशि काले वायौ परमाणुमनस्सु तत्समवेतेषु गुणादिषु समवाये चावितथविपर्यस्तं स्वरूपदर्शनं भवति ।
न्या०क०पृ०465-66

2- यदा तु परात्माकाशकालादिबुभुत्सया तदनुचिन्तन प्रवाहमभ्यस्यति, तदास्य परात्मादितत्त्वज्ञानानुगुणोऽचिन्त्यप्रभावो धर्म उपचीयते, तद्बलाच्चान्तःकरणं बहिः शरीरान्निर्गत्य परात्मादिभिः संयुज्यते । तेषु संयोगाद् संयुक्तसमवायाद् तद्गुणादिषु संयुक्त समवेतसमवायाद् तद्गुणत्वादिषु सम्बद्धविशेषणभावेन समवायाभावयोर्ज्ञानं जनयति ।
न्या०क०पृ०466-67

अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देख सकते हैं । उन्हें संनिकर्ष चतुष्टय अर्थात् आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय इन चार वस्तुओं के संनिकर्ष से, योगजधर्म के अनुग्रह से प्राप्त विशेष सामर्थ्य के द्वारा अपने सामने के सभी वस्तुओं और उनके सभी कारणों का एवं सूक्ष्मविषयों का अर्थात् मन एवं परमाणु प्रभृति विषयों का तथा व्यवहित विषयों का अर्थात् नागलोकादि का एवं विप्रकृष्ट विषयों का अर्थात् ब्रह्मलोक प्रभृति का प्रत्यक्षज्ञान होता है ।[1] इसी तरह का विवरण व्योमवती में भी मिलता है कि युक्त योगियों के समाधिस्थ होने पर योगजधर्म के अनुग्रह से सहकारी मन के द्वारा स्वात्मा एवं उससे भिन्न आकाश, दिक्, काल, वायु, परमाणु, एवं मन आदि का अपरोक्ष स्वरूप दर्शन होता है ।[2] युक्त योगियों से भिन्न वियुक्त योगी को तो संनिकर्ष-चतुष्टय से सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुओं का उसी प्रकार से प्रत्यक्ष होता है जैसे कि अस्मदादिकों को स्थूल विषयों का प्रत्यक्ष होता है ।[3] भगवान श्रीकृष्ण ने

1- अत्यन्तयोगाभ्यासोपचितधर्मातिशया असमाहितावस्थायामपि येऽतीन्द्रियं पश्यन्ति ते वियुक्ताः तेषामभिमुखीभूतनिखिलविषयग्रामाणामप्रतिहतकारणानां चतुष्टयसंनिकर्षादात्ममन इन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसहकारितात् तत्सामर्थ्याद् सूक्ष्मेषु मनः परमाणु प्रभृतिषु व्यवहितेषु नागभुवनादिषु विप्रकृष्टेषु ब्रह्मभुवनादिषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ज्ञानम् ।

न्या०कु०पृ०47।

2- तत्र युक्तानां समाहितावस्थानां योगजधर्मानुगृहीतेन तत्सहकारिणा मनसा अपरोक्ष-स्वरूपदर्शनं जन्यते। केष्वर्थेषु ? स्वात्मा चात्मान्तरं चाकाशं च दिक्च कालश्च वायुश्च परमाणवश्च मनश्चेति तथोक्तानि अतस्तेषु । व्यो०पृ०559

3- वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसंनिकर्षादस्मदादीनामिव प्रत्यक्षमुत्पद्यते ज्ञानम्। केष्वर्थेषु ? सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टेष्विति । सूक्ष्माः परमाणवो व्यवहिता: नागभुवनादयो विप्रकृष्टा मेर्वादयस्तेष्व परोक्षं ज्ञान । असमाहितावस्थानां योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्या-त्तदुत्पद्यते । योगीन्द्रियाणां हि धर्मविशेषानुग्रहेण सर्वत्राप्रतिबन्धात् ।

भी कहा है कि अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबको प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविकारी परमेश्वर को नहीं देखता है ।'

इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि यह मत वैशेषिकों को भी अभीष्ट है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष योगियों को होता है । योगी लोग जब स्वात्मा से भिन्न परात्मा का भी प्रत्यक्ष करते हैं तथा ईश्वर भी चूंकि परात्मा रूप है, क्योंकि वह स्वात्मभिन्न है, अतः उनको ईश्वर का भी प्रत्यक्षात्मक दर्शन होता है । साथ ही जब योगी लोग सर्वथा अतीन्द्रिय आकाश, दिक्, काल, वायु, परमाणु तथा नागभुवनादि व्यवहित एवं ब्रह्मलोकादि विप्रकृष्ट पदार्थों का भी प्रत्यक्ष करते हैं तो फिर ईश्वर का प्रत्यक्ष क्यों न करते होंगे ? अतएव यह सिद्ध होता है कि ईश्वर प्रत्यक्षगम्य भी है । अतः पूर्वपक्षी यह कदापि नहीं कह सकते कि ईश्वर का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध होता है ।

यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि सभी कारणों के एकत्र होने पर ही कार्योत्पत्ति संभव होती है, अतएव ईश्वरप्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी बिना कारणसामग्री के सन्निधान के सम्भव नहीं है । प्रत्यक्षोत्पादिका दो प्रकार की सामग्रियाँ हैं {1} चक्षुरादि बहिरिन्द्रियाँ एवं {2} मनः स्वरूप अन्तरिन्द्रिय । परन्तु इन दोनों ही सामग्रियों में से किसी एक का भी सम्बलन ईश्वरप्रत्यक्ष के लिए संभव

1- नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।
गी07/25

नहीं है, क्योंकि बहिरिन्द्रियों से रूपादि से रहित परमेश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । मन से भी जीव एवं उनके ज्ञान, इच्छादि धर्मों के ग्रहण करने की ही सामर्थ्य होने से तद्भिन्न बाह्य वस्तु को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है । अतः मन से भी परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इन दोनों से भिन्न प्रत्यक्ष की कोई तीसरी सामग्री नहीं है, जिससे ईश्वर का प्रत्यक्ष हो सके । अतएव कारणाभाव से कार्याभाव भी निश्चित है । अतः ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कार्य से ही उसकी सामग्री का अनुमान किया जाता है । अतः परमेश्वर का प्रत्यक्षस्वरूप कार्य जब प्रमाणों से सिद्ध है तो तदनुरूप किसी सामग्री की कल्पना अवश्य करनी होगी, भले ही वह सामग्री चक्षुरिन्द्रिय घटित अथवा मनस्वरूप इन्द्रिय से घटित न हो सके । किन्तु प्रकृत में तो मनःघटित सामग्री से ही परमेश्वरविषयक प्रत्यक्ष का उत्पादन सम्भावित है, क्योंकि स्वप्नकालिक प्रत्यक्ष में चाहे वह विषय आन्तर हो अथवा बाह्य-सभी विषयों का मनः स्वरूप अन्तरिन्द्रिय से ही ग्रहण होता है, तथा उन स्वप्नों में से कुछ यथार्थ भी होते हैं । अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि विशेष स्थलों में विशेष क्षमता सम्पन्न सहायक के सहयोग से केवल मन से भी बाह्य विषयक प्रत्यक्ष हो सकता है ।

यहाँ यह भी प्रश्न संभव है कि वह कौन सा विशेष है जिसके संबलन से मन के द्वारा परमेश्वर विषयक प्रत्यक्षात्मक प्रमा की उत्पत्ति होती है ? तो नैयायिकों का कहना है कि "धर्म" ही वह विशेष कारण है जिसके सम्बलन से मन स्वरूप अन्तरिन्द्रिय से परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है । ज्योतिष्टोमादिकर्मजन्य

धर्म से स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है एवं योगजधर्म से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। चूंकि योगियों के अनुभव धर्म से उत्पन्न होते हैं, अतः वे अवश्य ही प्रमा हैं और योगियों के अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण के फल हैं।[1]

इस प्रकार से यह विधिवत् सिद्ध हो जाता है कि पूर्वपक्षी न तो अनुपलब्धि को ईश्वर के अभाव के लिए ही प्रस्तुत कर सकते हैं एवं न तो उनका यह प्रमाण प्रमाणत्व की कसौटी पर ही खरा उतरता है। यदि इन दोनों बातों को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी ईश्वर का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होने से अनुपलब्धि के द्वारा ईश्वर की सत्ता का खण्डन नहीं किया जा सकता। ईश्वर की दुरधिगमता गीता के इस श्लोक से भी स्थापित होती है, जिसमें श्रीकृष्ण ने कहा है कि हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है, और उन यत्न करने वाले हजारों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्व से अर्थात् यथार्थरूप से जानता है।[2] श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव

1- हेतुश्चात्र धर्म एव। स च कर्मजवद् योगजोऽपि योगविधेरवसेयः। कर्मयोग-विधयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वात्। तस्मात् योगिनामनुभवो धर्मजत्वात् प्रमा साक्षात्कारित्वात् प्रत्यक्षफलम्।

न्या०कुसु०पृ० 574

2- मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

गी07/3

के अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता, और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता ।[1] अध्यात्म रामायण में भी कहा गया है कि मोहहीन सन्यासीगण निश्चित बुद्धि के द्वारा प्राण और अपान को हृदय में रोककर तथा अपने सम्पूर्ण संशयबन्धन और विषय वासनाओं का छेदनकर उस ईश्वर का दर्शन करते हैं । इससे यह स्थापित होता है कि ईश्वर का दर्शन इस पान्चभौतिक पदार्थों से निर्मित शरीर के द्वारा न होकर तदितर केवल मन के द्वारा ही सम्भव है, जबकि ध्यानावस्थित होकर उनके दर्शन हेतु अभ्यास किया जाय ।[2]

1- यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

गी० 6/30

2- प्राणापानौ निश्चयबुद्ध्या हृदि रुद्ध्वा,
छित्वा सर्वं संशयबन्धं विषयौघान् ।
पश्यन्तीशं यं गतमोहा यतयस्तं
------------------------------ ।।

अध्या०रामा०युद्धकाण्ड सर्ग 13

अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वराभावसाधक पूर्वपक्ष एवं उसका खण्डन -

अनुपलब्धिप्रमाण को प्रस्तुत करने के बाद अब पूर्वपक्षी ईश्वर की सत्ता को असिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण को नैयायिकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि अनुमान प्रमाण ईश्वरसत्ता का बाधक है, क्योंकि ईश्वर-सत्ता के विरोध में इस तरह से तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि परमात्मा के प्रत्यक्षायोग्य होने से उसके क्षितिकर्तृत्वादि धर्मों की भी प्रत्यक्षात्मक अनुभूति नहीं होगी। अतएव नैयायिकों ने ईश्वरसाधन में जो क्षितिकर्तृकत्वादि धर्मों के आधार पर अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, वे अनुपपन्न हो जायेंगे क्योंकि क्षितिकर्तृकत्वादि धर्मों के आधार पर जो भी अनुमान वाक्य प्रस्तुत किये जायेंगे, वे अनुमान स्वसाध्य-साधन में सफल नहीं हो सकते। कारण कि शरीरसम्बन्ध और प्रयोजन ये दो धर्म कर्तृकत्वादि के व्यापक हैं अतएव "यत्र-यत्र कर्तृत्वं तत्र-तत्र शरीरसम्बन्धः प्रयोजनाच" यह व्याप्ति अवश्य बनेगी। परन्तु नैयायिक उस ईश्वर को शरीरसम्बन्ध एवं प्रयोजन से रहित ही स्वीकार करते हैं। ईश्वर में शरीराभाव तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है परन्तु उसमें प्रयोजन का भी अभाव है-ऐसा नैयायिक लोग स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यदि उसमें प्रयोजन को स्वीकार किया जायेगा तो फिर उसे आप्तकाम नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रयोजनाभावयुक्त ईश्वर किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता क्योंकि यह नियम है कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।[1] उसका जगत् निर्माण में न

1- प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत् ।। श्लो0वा0सम्बन्धाक्षेप परिहार55

तो कोई स्वार्थ हो सकता है और न तो कोई कारुण्यरूप प्रयोजन ही हो सकता है। यदि उसमें किसी स्वार्थ या प्रयोजन की कल्पना की जायेगी तो उसका पूर्णकामयुक्तत्व खण्डित हो जाने से उसमें अनीश्वरता की प्राप्ति होने लगेगी।[1] दूसरी बात यह भी है कि रागादिरूप इष्टानिष्ट प्रयोजन केवल शरीरियों में ही होता है जैसे कि न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने कहा है।[2] यदि उसमें कारुण्यरूप प्रयोजन को स्वीकार भी कर लें, तो वह कारुण्यरूप प्रयोजन संसारकाल में ही सम्भव हो सकता है, सृष्टि के पूर्व कदापि नहीं। अतएव कर्तृत्व के साथ शरीरसम्बन्ध तथा प्रयोजन की व्याप्ति बनने के कारण "यत्र-यत्र कर्तृत्वं, तत्र-तत्र शरीरसम्बन्धः प्रयोजनञ्च" इस आधार पर ईश्वरसत्ता के विरोध में यह अनुमानवाक्य सहजभाव से प्रस्तुत किया जा सकता है, कि "ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च"।

1- नहि कश्चिद्दोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थे प्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्।

शारी० भा० 2/2/37

2- पुंसामसर्ववित्त्वं हि रागादि मल बन्धनम्।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित्।।
इष्टानिष्टार्थसम्भोगप्रभवाः खलु देहिनाम्।
रागादयः कथन्ते स्युर्नित्यानन्दात्मके शिवे।।

न्या० म० भाग। पृ० 282

अतः इस अनुमानवाक्य के द्वारा ईश्वर का अभाव सिद्ध होता है । पूर्वपक्षी इस अनुमान वाक्य के समर्थन में एक श्रुति भी प्रस्तुत करते हैं-जिसमें कहा गया है कि वह तर्क के द्वारा बोधगम्य नहीं है ।[1]

उपर्युक्त अनुमान वाक्यों में आश्रयासिद्ध दोष -

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के समाधान में हरिदासभट्टाचार्य का कहना है कि ईश्वररूप आश्रय के सिद्ध न होने से अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता, और ईश्वर की सिद्धि मानने पर धर्मिग्राहक उस ईश्वरसाधक प्रमाण से ही विपरीत अनुमान का बाध भी हो जायेगा ।[2] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वराभावसाधक प्रकृत अनुमान वाक्य के हेतु के आश्रयासिद्ध हेत्वाभास से दूषित होने के कारण वह हेतु स्वसाध्यसाधन में सक्षम नहीं है । यदि पूर्वपक्षी इस आश्रयासिद्ध से बचकर भागने के लिए ईश्वर सत्ता को स्वीकार कर लें, तो जिस प्रमाण से वह ईश्वरसत्ता को स्वीकार करेंगे, उसी धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व भी सिद्ध हो जायेगा । अतः इस स्थिति में पूर्वपक्षियों द्वारा प्रदत्त ईश्वराभावसाधक अनुमान का हेतु बाधितविषय से ग्रस्त हो जायेगा और ईश्वराभाव को नहीं सिद्ध कर सकेगा ।

1- नैषा तर्केण मतिरापनेया ।

कठो0 1/2/9

2- ईश्वरस्याश्रयस्य पक्षस्यासिद्धेः सिद्धौ च धर्मिग्राहकमानेन अनुमानबाध एव ।

विवृति पृ0 103

असत्ख्याति से सिद्ध ईश्वर में असर्वज्ञत्वादि अनुपपन्न है -

नैयायिकों का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि हम असत्ख्याति से सिद्ध ईश्वर को पक्ष बनाकर उसमें "ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च" अथवा "ईश्वरो नास्ति शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च" एतद् प्रकारक ईश्वर विषयक दो विरोधी अनुमानवाक्य प्रस्तुत करेंगे अतः नैयायिकों के द्वारा दिखाया गया उक्त आश्रयासिद्ध दोष इन अनुमानवाक्यों में नहीं सिद्ध होगा, तथा असत्ख्याति से उपनीत ईश्वर को पक्ष बनाकर हम ईश्वराभाव को सिद्ध करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। तो इस विषय में नैयायिकों का विचार है कि पूर्वपक्षियों की यह सोच भी व्यर्थ सिद्ध होती है, क्योंकि उन्होंने असत्ख्याति से प्राप्त ईश्वर को पक्ष बनाकर जो अनुमान वाक्य प्रस्तुत किये हैं, उन अनुमानवाक्यों के साध्यस्वरूप ईश्वर का क्षितिकर्तृत्व एवं ईश्वर का अभाव यह दोनों बातें किसी भावभूत सिद्ध पदार्थ में ही सिद्ध हो सकती हैं। कारण कि पहले अनुमानवाक्य "ईश्वरः न क्षित्यादि कर्ता शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च" इस अनुमानवाक्य को "क्षित्यादिकर्तृत्वाभाववानीश्वरः शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च" इस प्रकार से भी कहा जा सकता है। इस अनुमानवाक्य में "ईश्वर" विशेष्य है एवं "क्षित्यादि कर्तृत्वाभाव" इसका विशेषण है। इसी प्रकार दूसरे अनुमान "ईश्वरो नास्ति शरीरसम्बन्धाभावात् प्रयोजनाभावाच्च" में ईश्वर का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। अतएव "यस्याभावः स तस्य प्रतियोगी" इस नियमानुसार ईश्वर अभाव का प्रतियोगी है। परन्तु ये दोनों अनुमानवाक्य अपने-अपने साध्य अर्थात् "क्षित्यादि कर्तृत्वाभाव" एवं "ईश्वराभाव" की सिद्धि तभी कर सकते हैं, जब कि

उनका पक्ष ईश्वर असत्ख्याति से उपनीत ईश्वर न हो, बल्कि कोई भावभूत पदार्थ हो, क्योंकि "विशेष्यता" एवं प्रतियोगिता ये दोनों धर्म किसी भावभूत पदार्थ में ही रह सकते हैं।[1] ऐसे ही विचार बोधिनीकार श्री वरदराज[2] एवं प्रकाशकार श्री वर्धमानोपाध्याय[3] ने भी प्रस्तुत किये हैं।

1- व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता।।

न्या०कुसु० 3/2

2- यावत्पारमार्थिकी चाभाववत्ता पारमार्थिकस्यैव भावस्य न चाभास-प्रतिपन्नस्येति भावः। निषेध्यस्य प्रतियोगिनः परमार्थतोऽभावविरुद्धात्मत्वं हि प्रतियोगिता निषेध्यत्वमिति यावत्, न चैतदप्याभासप्रतिपन्नस्यास्तीति।

बोधिनी पृ० 329

3- यदीश्वरे कर्तृत्वनिषेधः साध्यते तदाऽऽश्रयत्वमीश्वरस्य, यदा तस्यैवाभावः तदेश्वरस्य प्रतियोगित्वम्, उभयमपि नास्तीति।

प्रकाश पृ० 329

<u>पूर्वपक्षी आत्मा को पक्ष बनाकर भी स्वाभिमत साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते -</u>

नैयायिकों का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी आत्मा को ही पक्ष स्वीकार करके उसमें "आत्मा न सर्वज्ञः आत्मत्वात् अस्मदादिवत्" अथवा "आत्मा न क्षित्यादि कर्ता आत्मत्वाद अस्मदादिवात्" इत्याकारक पूर्वपक्ष करके आत्मा में ही असर्वज्ञत्व अथवा क्षित्यादि का अकर्तृत्व सिद्ध करना चाहें, तो भी वे अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि यदि पूर्वपक्षी जीवात्मा को पक्ष बनाकर उसमें असर्वज्ञत्व का अथवा क्षित्यादि के कर्तृत्वाभाव का साधन करना चाहते हों तब तो फिर उनके अनुमानवाक्य में सिद्धसाधनदोष होगा । हम भी सामान्यरूप से प्रसिद्ध जीवात्मा में सर्वज्ञत्व और क्षित्यादि का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते । अतः उनका यह साध्य हमें इष्टसिद्ध ही है । यदि पूर्वपक्षी को अगोचर अर्थात् मीमांसकादि के मत में सर्वथा अप्रसिद्ध परमात्मा में असर्वज्ञत्व अथवा क्षित्यादि का अकर्तृकत्व सिद्ध करना अभिप्रेत हो तो उनके हेतु में हेत्वसिद्धि अर्थात् स्वरूपासिद्ध दोष प्रसक्त होने लगेगा,[1] क्योंकि पक्षवृत्तित्वेन हेतु का ज्ञान ही अनुमान का प्रयोजक होता है । लेकिन पूर्वपक्षियों के मत में परमात्मारूप पक्ष के ही अप्रसिद्ध होने से पक्षवृत्तित्वविशिष्ट हेतुज्ञान का भी अभाव होने से स्वरूपासिद्ध दोष आ पड़ेगा ।

1-(क) इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेऽंशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।

न्या०कु०3/4

(ख) प्रसिद्धे संसार्यात्मनि पक्षे इष्टसिद्धिः, सिद्धसाधनम् । अगोचरे अज्ञाते ईश्वरे हेत्वसिद्धिः, हेतोरज्ञानम् ।

विवृति पृ० 107

अतएव पूर्वपक्षी आत्मा को पक्ष बनाकर भी स्वाभिमत साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते । उदयनाचार्य ने कहा है कि प्रमाण से अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत चेतन जीवात्मा को पक्षीकृत करने पर सिद्धसाधन और तदितर अप्रसिद्ध आत्मा को पक्ष बनाने पर आश्रयासिद्धदोष होगा ।[1] ऐसा ही बोधिनीकार को भी अभिमत है ।[2]

<u>आत्मा एवं परमात्मा से भिन्न किसी भी आत्मा की सत्ता असिद्ध है -</u>

नैयायिकों का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी इन दोनों प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध आत्माओं से भिन्न किसी सामान्यसिद्ध आत्मा को पक्ष बनायेंगे तो उनका ऐसा भी करना अनुपपन्न है, क्योंकि इन दोनों आत्माओं के अतिरिक्त अन्य कोई सामान्यसिद्ध आत्मा नहीं है ।[3] अतएव इस पक्ष में भी अपने अनुमान में सिद्धसाधन और हेत्वसिद्धि दोष प्रसक्त होगा ।[4] यदि पूर्वपक्षी आत्मत्व जाति को

1- प्रमाणेन प्रतीतानां चेतनानां पक्षीकरणे सिद्धसाधनम् । ततोऽन्येषामसिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम् । न्या0कु0पृ0322

2- उभयवादिसिद्धेषु पक्षीकृतेषु सिद्धसाधनम् तेषामसर्वज्ञत्वासर्वकर्तृकत्वयोः अस्माकमपि सिद्धत्वात् भवतामगोचरेऽपीश्वरे पक्षीकृते हेतोराश्रयतोऽसिद्धिः । बोधिनी पृ0 332

3- उभयसिद्धः यनुभयसिद्धाभ्यामन्यतः सिद्धर्नाम न काचिदस्ति। बोधिनी पृ0332

4- आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्धः पक्षश्चेत् तत्राप्यस्मदादिस्तदितर आत्मा वा पक्ष इति विकल्पे सिद्धसाधनम् हेत्वसिद्धिर्वा । विवृत्ति पृ0 107

पक्ष के रूप में स्वीकार करें तो उनके इस नय में भी इष्टसिद्धि होगी, क्योंकि नैयायिक भी आत्मत्वजाति को सर्वज्ञ अथवा क्षित्यादिकर्त्री नहीं स्वीकार करते हैं।[1]

आगमसिद्ध ईश्वर में भी असर्वज्ञत्वादि धर्म असम्भव है -

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि उपर्युक्त विधि से भले ही हमारे अनुमान वाक्यों में हेत्वाभास होने के कारण हमें अभीष्ट ईश्वराभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु अब हम आगमसिद्ध ईश्वर को ही अपने ईश्वराभाव साध्य का पक्ष बनायेंगे। उनका कहना है कि आगमसिद्ध ईश्वर नैयायिकों को भी अभिप्रेत है। "द्यावाभूमीजनयन् देव एकः" इत्यादि श्रुतिप्रमाणगम्य परमेश्वर में ही असर्वज्ञत्वादि साधक अनुमान वाक्य प्रस्तुत करके उस ईश्वर में क्षित्यादिकर्तृत्वाभाव एवं असर्वज्ञत्व सिद्ध करेंगे। तो इस विषय में नैयायिकों की उक्ति है कि ऐसा स्वीकार करना भी आप वैदिकों के लिए असम्भव है, क्योंकि यदि आप "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" इत्यादि वेद वाक्यों को प्रमाण मानकर उससे अधिगत ईश्वर को पक्ष बनायेंगे तो आपको तुल्यन्याय से "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्यादि वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव इसी वैदिकवाक्य से ही ईश्वर में उपन्यस्त असर्वज्ञत्व का अनुमान भी बाधित हो जायेगा। यदि आप सर्वज्ञता के ज्ञापक उक्त वेदवाक्यों का अप्रामाण्य स्वीकार करेंगे तो फिर आपको "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः"

1- जातावपि तथैव सा।

न्या०कुसु० 3/4

इत्यादि वेदवाक्यों का अप्रामाण्य भी स्वीकार करना होगा, जिसके कारण पूर्वकथित उत्कट दुर्निवार आश्रयासिद्धि ज्यों की त्यों रह जायेगी ।[1]

ईश्वरासिद्धि विषयक पुनः पूर्वपक्ष-

अब उदयनाचार्य पूर्वपक्षियों की ओर से ईश्वराभावसाधन के लिए एक तर्क और देते हैं । उनका कहना है कि जिस प्रकार परात्माविषयक सत्ता केवल उसके भोगायतनस्वरूप शरीर के कार्यवाग्व्यापारादि द्वारा ही अनुमित होती है । अतएव ईश्वर के भी परात्मा होने से उसकी भी सत्ता उसके भोगायतनस्वरूप शरीर के कथित वचनादि के व्यवहार से ही अनुमित हो सकती है । साथ ही जिस प्रमाण के द्वारा जिस कार्य की सिद्धि होती है, उस कार्य के रहने पर भी उसका ग्रहण न होने पर उस प्रमाण के अभाव की सिद्धि होती है । जिस प्रकार चक्षुस्वरूप प्रमाण से रूपज्ञान स्वरूप कार्य उत्पन्न होता है, अतः रूप के रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष न होने से चक्षुरभाव निश्चित होता है । अतः ईश्वर के शरीरी न होने से तन्मूलक वाग्व्यवहार भी नहीं है, किन्तु इस वाग्व्यवहाररूप कार्याभाव की सिद्धि

1-(क) आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ।। न्या0कुसु03/5

(ख) आगमादेः प्रमाणत्वे तत् एव ईश्वरस्य कर्तृत्वादिसिद्धौ कर्तृत्वाद्यभाव साधने बाधः । आगमादेः अप्रमाणत्वे सैवाश्रयासिद्धिः उद्धता उत्कटा ।

विवृत्ति पृ0 108

ईश्वराभाव के बिना नहीं हो सकती । अतः ईश्वरसत्ता का अभाव स्वीकार करना ही होगा । ऐसा मान लेने पर क्षित्यादि का ईश्वरकर्तृकत्व बाधित हो जायेगा ।[1]

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का खण्डन -

उदयनाचार्य पुनः प्रस्तुत आक्षेप का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि जो पदार्थ केवल एकप्रमाणगम्य है, तदभाव ही स्वव्यापक प्रमाणाभाव का साधक हो सकता है, किन्तु परात्मा की सिद्धि अनुमानातिरिक्त अन्यान्य प्रमाणान्तरों से भी होती है । अतः अनेकप्रमाणगम्य ईश्वररूप परात्मा के तद्गत कार्यादिव्यापारों की अनुपलब्धि होने पर भी अनुमान प्रमाण ईश्वराभाव नहीं सिद्ध कर सकता ।[2]

उदयनाचार्य उक्त पूर्वपक्ष का दूसरा समाधान करते हुए कहते हैं कि चूंकि यद्यत्प्रकारक कार्योपलब्धि होती है तदनुकूल चेतनकर्ता की कल्पना की जाती है ।[3]

1- यत्प्रमाणगम्यं हि यद्, तदभाव एव तस्याभावमावेदयति । यथा रूपादि प्रतिपत्तेरभावश्चक्षुरादेरभावम् । कायवाग्व्यापारैकप्रमाणकश्च पराऽऽत्मा, तदभाव एव तस्याभावे प्रमाणमङ्कुरादिषु । न्या०कु०पृ०327

2- तन्न । तदेकप्रमाणकत्वासिद्धेः । न्या०कु०पृ०327

3- तस्माद् यद्यद् कार्यमुपलभ्यते तत्तदनुगुणश्चेतनस्तत्र तत्र सिद्ध्यति । न्या०कु०पृ०327

तदनुसार ही घटकार्यार्थ दण्डचक्रादि ज्ञानयुक्त एवं तदनुकूल व्यापारयुक्त कुलाल की कल्पना और पटकार्यार्थ तुरीवेमाद्युपकरणों के ज्ञान से युक्त एवं तद्व्यापारानुकूल समर्थ जुलाहे की कल्पना की जाती है । लेकिन शरीरादि के व्यापार कथित घट-पटादिनिर्माणकार्य में समर्थ कुलाल प्रभृति परात्माओं के ही ज्ञापक हैं न कि क्षित्यादि कार्यानुकूल ईश्वररूप परात्मा के । अतएव घटपटादि कार्याभाव से कदाचित् घटपटादिकर्तारूप कुलालादि परात्माओं का बाध संभव भी हो, किन्तु क्षित्यङ्कुरादि कार्यानुकूल जिस ईश्वररूप परात्मा की कल्पना की जाती है, उनमें क्षित्यादिकार्य-सम्पादनार्थ शरीरादि के व्यापार का कोई भी उपयोग नहीं है । अतः परात्मा के ज्ञापक शरीर व्यापाररूप विशेष प्रमाणों के न रहने पर भी उनके साधक सामान्य प्रमाण तो हैं ही । अतएव उपरोक्त प्रतिपत्ति से अनुमान प्रमाण में ईश्वरबाधकत्व नहीं है ।

इस प्रकार से नैयायिकों ने पूर्वपक्षियों के द्वारा उपन्यस्त अनुमान प्रमाणों के आधार पर किये जा रहे ईश्वरबाधकत्व का खण्डन कर दिया । अतः यह सिद्ध हो जाता है कि अनुमान प्रमाण के द्वारा भी नैयायिकाभिमत ईश्वर की सत्ता का निरास नहीं किया जा सकता । नैयायिकों का कहना है कि अनुमान प्रमाण ईश्वर का बाधक नहीं अपितु उसका साधक है । अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वरसिद्धि का विवेचन प्रस्तुत अध्याय में न करके पृथक् अध्यायों में किया जायेगा ।

उपमानप्रमाण द्वारा ईश्वरबाध का प्रदर्शन पूर्वपक्ष -

पूर्वपक्षियों द्वारा अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष एवं अनुमानप्रमाण के द्वारा किया गया ईश्वराभावसाधन का प्रयास जब नैयायिकों के द्वारा ध्वस्त कर दिया जाता है तब पूर्वपक्षी मीमांसक ईश्वराभावसाधन के लिए उपमान प्रमाण का आश्रय लेते हैं। उनका कहना है कि उपमान प्रमाण से ईश्वर की सत्ता को बाधित किया जा सकता है। मीमांसकों का इस विषय में कहना है कि जिस प्रकार दिखाई न देने से शशशृङ्गादि का अभाव है, तद्वत् प्रत्यक्ष न होने से ईश्वराभाव का भी अवधारण किया जा सकता है ; क्योंकि यहाँ पर जो शशशृङ्गाभाव के सादृश्य से साध्य ईश्वराभाव का साधन है यही "प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" इस लक्षण से उपमान से ईश्वराभावसाधन अथवा उपमान प्रमाण में ईश्वरबाधकत्व सुनिश्चित होता है।

वैशेषिकों द्वारा पूर्वमत का खण्डन -

उपर्युक्त मत के विरोध में वैशेषिकों का कहना है कि जिस उपमान प्रमाण की मीमांसक बात करते हैं वह वास्तव में कोई स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं है। असल में बात ऐसी है कि वैशेषिक सम्प्रदाय में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की ही सत्ता को स्वीकार करके तदतिरिक्त जितने भी प्रमाणों की सत्ता अन्यान्य सम्प्रदाय के लोगों को अभिमत है उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं दोनों प्रमाणों में कर लिया गया है। अतः वैशेषिकों का कहना है कि चूंकि पूर्वपक्षियों ने प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त जितने पदार्थों का ग्रहण अन्य प्रमाणों के द्वारा स्वीकार किया है, उन सभी पदार्थों का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से ही कर लिया

जाता है । विश्वनाथ ने कहा है कि वैशेषिक मत में शब्द और उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाने से उनका पृथक् प्रामाण्य नहीं है । अतएव प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के अवधारण की कल्पना ही व्यर्थ है । अतः जब मीमांसकाभिप्रेत अथवा वेदान्तियों को अभिप्रेत उपमान के प्रमाणत्व का खण्डन हो जाता है, तब उसके द्वारा ईश्वर बाधकत्व का भी स्वयमेव खण्डन हो जाता है । चूँकि उपमान का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही होता है अतएव अनुमान में किये गये ईश्वरबाधकत्व से उपमान प्रमाण में भी ईश्वरबाधकत्व का अभाव समझना चाहिए । उपमान अलग से चूँकि कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे उसमें ईश्वर-बाधकत्व का अलग से खण्डन किया जाय, अतएव उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वरासिद्धि की सम्भावना नहीं है ।

<u>नैयायिकों द्वारा उपमान प्रमाण की स्थापना -</u>

यद्यपि वैशेषिकों ने उपमान प्रमाण का खण्डन करके यह सिद्ध कर दिया है कि उपमान अलग से कोई प्रमाण न होने के कारण ईश्वर का बाधक नहीं हो सकता । परन्तु नैयायिक प्रकारान्तर से उपमान प्रमाण को स्वीकार

1- शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते ।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।।
भाषा परिच्छेद 140-41

करते हैं।[1] वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में उपमान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जिससे प्रसिद्ध अर्थात् पूर्वप्रमित गवादि के साधर्म्य से अर्थात् सादृश्यज्ञान से साध्य अर्थात् गवयादि पदवाच्य की सिद्धि हो वह उपमान प्रमाण है।[2] उदयनाचार्य ने भी उपमान की आवश्यकता संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति के लिए स्वीकार किया है। उनका कहना है कि गवयादि संज्ञा का गवयत्वादिविशिष्ट संज्ञी के साथ शक्ति का परिच्छेद या निश्चय उपमानरूप प्रमाणान्तर का फल है क्योंकि उसका प्रत्यक्षादि से ग्रहण असम्भव है।[3] अतएव न्यायसिद्धान्त में बिल्कुल भिन्न प्रकार से उपमान प्रमाण की स्थापना की गई है।

पूर्वपक्षियों द्वारा उपमान प्रमाण में पुनः ईश्वरसाधकत्व का प्रदर्शन एवं नैयायिकों द्वारा खण्डन

नैयायिकों के द्वारा उपमान प्रमाण की प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से भिन्न चौथे प्रमाण के रूप में पुनर्स्थापना कर देने के बाद पूर्वपक्षी पुनः उपमान प्रमाण में ईश्वरसाधकत्व का प्रदर्शन करना चाहते हैं। परन्तु नैयायिक उपमान प्रमाण

1- प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। न्या०सू०1/1/6

2- प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति।
न्या०भा०1/1/6पृ०23

3- सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥
न्या०कु०3/10

में ईश्वरबाधकत्व का खण्डन करते हैं । उनका कहना है कि उपमान प्रमाण का कार्य केवल संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति कराना ही है, अन्य किसी वस्तु का साधन या बाधन उसका कार्य नहीं है । अतएव वह ईश्वर का बाधक नहीं हो सकता ।[1]

इस प्रकार से पूर्वपक्षी मीमांसकादि के द्वारा जो ईश्वराभाव साधन के लिए उपमान प्रमाण का उपयोग किया जा रहा था उसका खण्डन हो जाता है । अब पूर्वपक्षी शब्दप्रमाण के द्वारा ईश्वराभाव को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं ।

शब्दप्रमाण द्वारा ईश्वरबाध की आपत्ति एवं उसके निरास द्वारा ईश्वरसिद्धि -

अब पूर्वपक्षी मीमांसक तथा सांख्य शब्द प्रमाण को ईश्वर की असत्ता के साधन हेतु प्रस्तुत करते हैं । उनका कहना है कि पूर्वकथित प्रमाणों के द्वारा ईश्वर का अभाव भले ही न सिद्ध हो सके परन्तु शब्दप्रमाण के द्वारा तो ईश्वरबाध होना स्वाभाविक है । कारण कि बहुत सी ऐसी श्रुतियाँ हैं जो कि ईश्वराभाव को प्रमाणित करती हैं । पूर्वपक्षियों का कहना है कि चूंकि नैयायिक भी श्रुतिवाक्यों को आप्तवाक्य स्वीकार करते हुये प्रामाणिक मानते हैं, अतः श्रुतियों में विहित ईश्वराभाव को भी उन्हें प्रामाणिक मानना चाहिए । उनका कहना है कि नैयायिकों के द्वारा जगत्कर्ता

1- उपमानन्तु शक्तिमात्रपरिच्छेदकतया नेश्वरे बाधकमिति भावः ।

विवृत्ति पृ० 124

के रूप में जिस चेतन कारक की कल्पना की गई है वह चैतन्य मात्र आभिमानिक चैतन्य है । इस अभिमान का मूल मिथ्याज्ञान है । अतः जिस पुरुष में चैतन्य का मिथ्या अभिमान होगा, वह अभिमान मिथ्याज्ञानमूलक होगा । अतः उस जगत्कर्ता ईश्वर का भी अभिमान मिथ्यामूलक हो जायेगा । इस तरह से उसकी सर्वज्ञता का भी लोप हो जायेगा । इसलिए जगत्कर्ता न तो कोई चेतन पदार्थ है और न तो सर्वज्ञ ही है, बल्कि जगत्सृष्टि सांख्याचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रकृति पदार्थ से ही संभव है, जिसका समर्थन श्रीमद्भगवद् गीता के एक श्लोक से किया गया है ।[1] अतः नैयायिकों का यह कथन कि सर्वज्ञ परमेश्वर ही जगत् का कर्ता है-यह ठीक नहीं है ।

इस आक्षेप के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादि वाक्य की प्रमाणता तभी निश्चित हो सकती है । जब कि उन वाक्यों की नित्यता निश्चित हो जाय अथवा उनका आप्तोक्तत्व निर्धारित हो जाय । परन्तु आगम की अनित्यता तो उसके शब्दरूप होने से ही निश्चित हो जाती है । अतः वह आगम नित्यता के आधार पर प्रमाण नहीं हो सकता । अतएव उसके प्रामाण्य का निर्धारण उसके केवल आप्तोक्तत्व के आधार पर ही किया जा सकता है । यदि उपर्युक्त आगम अनाप्तोच्चरित होगा तो फिर उसका प्रमाणत्व ही बाधित हो जायेगा । यदि उस आगम को आप्तोच्चरित स्वीकार ~~किया जायेगा~~ करके उसकी प्रमाणता को स्वीकार किया जायेगा तो फिर उसके उच्चारणकर्ता को सर्वज्ञ भी

1- प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

भ०गी० 3/27

स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उक्त आगम विषयक ज्ञान घटादि ज्ञान सदृश स्थूल-विषयक न होकर अतीन्द्रियविषयक है एवं अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान सर्वज्ञ पुरुष को ही सम्भव हो सकता है । अतः उस आप्त की सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है । यदि वह सर्वज्ञपुरुष आगम का कर्ता होगा तो फिर उस सर्वज्ञ पुरुष का कर्तृत्व भी सिद्ध हो जायेगा । यदि उस आगम को अनाप्तोच्चरित मानकरके उसकी अप्रमाणता को सिद्ध किया जायेगा तो फिर अप्रमाण होने के कारण वह आगम वाक्य किसी का साधन अथवा बाधन की क्षमता से रहित हो जाने के कारण ईश्वर का भी बाधक नहीं सिद्ध हो सकता ।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि यदि यह सर्वकर्तृत्व के अभाव का आवेदक शब्द अनाप्तोक्त है तो वह प्रमाण ही नहीं है। यदि यह शब्दरूप वाक्य आप्तोक्त है तो फिर यह वाक्यबोधक ज्ञान इन्द्रियादि से अग्राह्य विषय वाला होने के कारण अतीन्द्रिय विषयक है । अतः इस विषय के ज्ञान वाला वक्ता ईश्वर नित्य और सर्वविषयक ज्ञान वाला ही होगा ।[2] श्री नारायण तीर्थ का

1- यदि हि सर्वज्ञकर्त्रभावावेदकः शब्दो नाप्तोक्तः, न तर्हि प्रमाणम् । अथाप्तोऽस्य वक्ता, कथं न तदर्थदर्शी । अतीन्द्रियार्थदर्शीति चेत् कथमसर्वज्ञः? कथं वा न कर्ता ? आगमस्यैव प्रणयनात् । न्या०कुसु० पृ०416

अपि च-
न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्ट क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ।। न्या०कुसु० 3/16

3- अयं हि सर्वकर्तृत्वाभावावेदकः शब्दः अनाप्तोक्तश्चेत् न प्रमाणम् । आप्तोक्तश्चेत् एतदर्थगोचरज्ञानवतो नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्त्वं इन्द्रियाद्यभावात् । आगमस्य च नित्यत्वं दूषितमेव प्रागिति वेदकारी नित्यः सर्वज्ञः सिध्यति ।

विवृति पृ० 135

इस विषय में कहना है कि अनाप्तोक्त के अप्रमाण होने से यदि यह उपदर्शित वाक्य अनाप्तोक्त है, तो वह प्रमाण नहीं है तथा प्रमाण न होने से वह किसी का बाधक नहीं हो सकता । यदि वह वाक्य आप्तोक्त है तो फिर अदृष्ट अर्थ में आप्तता न बनने से उस आप्त का तदर्थ विषयक यथार्थ ज्ञानवान् होना निश्चित है । उस अतीन्द्रियार्थ विषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान असर्वज्ञ में सम्भव न होने से एवं इस आगम के प्रामाण्य के अनुरोध से सर्वज्ञ परमेश्वर की सत्ता सिद्ध है ।[1]

साथ ही नैयायिकों का यह भी कहना है कि शब्दप्रमाण को नियमतः ईश्वरासिद्धि के बाधक रूप में ही नहीं उपस्थित किया जा सकता अपितु बहुत से ऐसे श्रुतिवाक्य हैं जिनसे खुले आम ईश्वरसत्ता का समर्थन प्राप्त होता है ।[2] ऋग्वेद[3]

1- उपदर्शितं वाक्यं यद्यनाप्तोक्तं तर्हि तन्न प्रमाणम्, अनाप्तोक्तेरप्रमाणत्वात् । तथा चाप्रमाणत्वाद् एव न तद्बाधकम् । यद्याप्तोक्तम्, तर्हि "अदृष्टे" अर्थे अज्ञाते क्वचिद् आप्तता नेति" तदर्थगोचरयथार्थज्ञानवत्त्वं तद् वक्तुराप्तस्याश्रयम् एष्टव्यम् । तच्च ज्ञानं तदर्थातीन्द्रियगोचरं नासर्वज्ञे सम्भवतीत्येतदागमप्रामाण्यानुरोधेनापि सर्वज्ञो भगवान् आयाति । न च तस्याकर्तृकत्वम् एतादृशवाक्यस्यैव कर्तृत्वात् ।

कुसु०का० व्या०पृ०50-51

2- न ह्यसत्त्वपक्षः एवाऽऽगमो नियतः। ईश्वरसद्भावस्यैव भूयःसु प्रदेशेषु प्रतिपादनात् । न्या०कुसु०पृ०417

3- द्यावाभूमी जनयन् देव एकः विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।

ऋ०10/81

एवं तैत्तरीय आरण्यक[1] आदि को ऐसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । भगवद्गीता में भी कहा गया है कि मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है ।[2] अतएव ईश्वराभाव समर्थक श्रुतियों के अनेकान्त होने के कारण उनके द्वारा ईश्वर की बाधकता का निर्णय नहीं लिया जा सकता । यद्यपि जिस प्रकार से ईश्वरसाधकश्रुतियों के भी होने से ईश्वरबाधक श्रुतियाँ अनेकान्त होकर ईश्वर का बाध करने में सक्षम नहीं हैं उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वरबाध को स्थापित करने वाली श्रुतियों की सत्ता होने पर ईश्वरसाधकश्रुतियों के भी अनेकान्त होने से वे श्रुतियाँ ईश्वर की सत्ता को भी सिद्ध करने में सक्षम नहीं होंगी । परन्तु ऐसी स्थिति में एक श्रुति को मुख्यार्थक और दूसरी को लाक्षणिक स्वीकार किया जायेगा । यद्यपि ऐसी स्थिति में ऐसी शङ्का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि दोनों विरोधी श्रुतियों में से किस श्रुति को मुख्यार्थक स्वीकार किया जायेगा और किस श्रुति को लाक्षणिक माना जायेगा। ऐसी अनिश्चय की दशा मे ईश्वराभावावेदक निर्गुणश्रुतियों का तात्पर्य ईश्वर के ध्येयत्व में स्वीकार करके उनको लाक्षणिक माना जायेगा जब कि ईश्वरभावावेदक श्रुतियों को कार्यकारणमूलक अनुमान की सहायता प्राप्त होने से उनको मुख्यार्थक

1- विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।। तै0आ0।0/280/।

2- अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । भ0गी0 ।0/8

स्वीकार किया जायेगा ।[1] अतएव शब्द प्रमाण के द्वारा ईश्वरसत्ता का बाध नहीं किया जा सकता । अतएव पूर्वपक्षियों का यह प्रयास भी बेबुनियाद सिद्ध होता है कि शब्दप्रमाण के द्वारा ईश्वराभाव सिद्ध हो सकता है । अतः नैयायिकों के अनुसार शब्द प्रमाण द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

इस प्रकार से पूर्वपक्षियों के द्वारा उत्थापित अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असत्ता विषयक पूर्वपक्ष का नैयायिकों के द्वारा विधिवत् खण्डन किया जा चुका है । अतएव पूर्वपक्षी ईश्वराभावसाधन हेतु उपर्युक्त किसी भी प्रमाण को प्रस्तुत नहीं कर सकते और न तो उनमें से किसी के आधार पर ईश्वरसत्ता का अभाव ही सिद्ध कर सकते हैं । जब कि नैयायिकों ने उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर दिया है । अतएव नैयायिकाभिमत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया ही जाना चाहिए ।

1- असावागमो नासत्वमात्र पक्ष एव सत्वस्यापि बहुशः "मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इत्यादिभिः प्रतिपादनात् । द्वयोश्च न मुख्यार्थत्वं विरोधात् । विनिगमक-चिन्तायां निर्गुणशून्यात्मस्वरूपस्य ज्ञेयतत्वात्पर्यकत्वं बाधकश्रुतीनां साधक-श्रुतीनां च कार्यकारणभावादितर्कमूलकानुमानसाचिव्येन मुख्यार्थकत्वात् ।

विवृति पृ० 136

तृतीय अध्याय

कार्यत्व हेतुक अनुमान द्वारा ईश्वर-सिद्धि

(तृतीय अध्याय)

कार्यत्वहेतुक अनुमान द्वारा ईश्वर सिद्धि

ईश्वराभावविषयक पूर्वपक्ष -

द्वितीय अध्यायगत पूर्वपक्षियों के द्वारा उपन्यस्त अन्यान्य प्रमाणों के ईश्वरबाधकत्व का निरास कर देने के बाद पूर्वपक्षियों के मन में यह आशङ्का उठना स्वाभाविक है कि नैयायिक किस आधार पर ईश्वर की सिद्धि कर सकते हैं, यद्यपि नैयायिकों ने ईश्वरसत्ता विरोधी प्रमाणों के द्वारा किये जा रहे ईश्वर बाधकत्व का खण्डन तो कर दिया, परन्तु केवल उन प्रमाणों के खण्डन मात्र से तो ईश्वर की सिद्धि हो नहीं सकती । अतएव यदि वास्तव में ईश्वर की सत्ता है तो फिर तत्साधक प्रमाण भी उद्धृत किये जाने चाहिए/ईश्वरसत्ता समर्थक तर्क जब तक उपस्थित नहीं किये जायेंगे, तब तक ईश्वर के अस्तित्व के विषय में विश्वास नहीं हो सकता, क्योंकि तत्साधक युक्त्यभाव में ईश्वरभाव स्वयं निराकृत है-ऐसी ही कल्पना बलवती होती है । अतएव ईश्वराभावसमर्थक युक्तियों के खण्डन कर देने पर भी नैयायिकों का ईश्वरास्तित्वविषयक विचार निर्दोष नहीं है ।

ईश्वरसत्ता समर्थक युक्तियों का प्रदर्शन-

न्याय वैशेषिक मतानुयायी अन्यान्य प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, और कार्यत्व हेतु के आधार पर ईश्वरानुमान के

पक्ष में वे सभी एकमत हैं । उदयनाचार्य तो ईश्वरज्ञापक नौ हेतुओं को न्याय-कुसुमान्जलि में उद्धृत करते हैं ।[1] उनका कहना है कि ईश्वरसमर्थक युक्तियों का सद्भाव नहीं है- यह पूर्वपक्षियों का कथन सर्वथा अनुचित है । उन्होंने पूर्वपक्षियों को अंधे की संज्ञा देते हुए कहा है कि जो स्थाणु को अन्धा व्यक्ति नहीं देख पाता उसमें स्थाणु का कोई अपराध नहीं है । यह तो द्रष्टा की दर्शनेन्द्रिय का विकार ही है, जो दोषवान् है ।[2] इसी प्रकार से ईश्वरज्ञापक प्रमाणों की भी कमी नहीं है फिर भी अज्ञानी पूर्वपक्षी उन प्रमाणों को न समझते हुए ईश्वराभाव को ही मान लेते हैं । न्यायमञ्जरीकार श्री जयन्तभट्ट का भी कहना है कि निरपवाद रूप से दृढ़ प्रमाणों के द्वारा सिद्ध स्वरूप वाले ईश्वर पर जिन मूढ़ लोगों का विश्वास नहीं है उनकी अधिक चर्चा भी पापकारक है ।[3]

1- कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।

न्या०कुसु० 5/1

2- न ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।

न्या०कुसु० पृ० 479

3- ये त्वीश्वरं निरपवाददृढप्रमाण-
सिद्धस्वरूपमपि नाभ्युपयन्ति मूढाः ।
पापाय तैः सह कथापि वितन्यमाना
जायेत नूनमिति युक्तमतो विरन्तुम् ।।

न्या०म०भाग 1 पृ०286

उदयनाचार्य ने ईश्वरसाधन में जिन नौ हेतुओं को प्रस्तुत किया है उनमें से प्रथम अर्थात् "कार्यत्व" हेतु के आधार पर ही प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत ईश्वरसिद्धि विषयक मीमांसा की जायेगी । तदतिरिक्त अन्य हेतुओं को ईश्वर-सिद्धि के निमित्त अन्य अध्यायों में उपस्थित किया जायेगा ।

न्यायभाष्यकार ने कहा है कि ईश्वर प्रत्येक आत्मा में रहने वाले धर्म अधर्म को तथा पृथिव्यादि भूतों को प्रवर्तित करता है । इस प्रकार पुरुष के स्वकृत सिद्धान्त का लोप करता हुआ यह ईश्वर जगन्निर्माण करता है ।[1] न्याय-वार्तिककार का कहना है कि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, क्योंकि वह उसका कर्ता है । निमित्त कारण होने से उसे समवायिकारण और असमवायिकारण का अनुग्राहक माना गया है ।[2] उनका कहना है कि अचेतन परमाणु ईश्वर जैसे प्रेरक के बिना सृष्टि को प्रारम्भ करने में समर्थ नहीं हो सकते । जिस प्रकार कुल्हाड़ी अपने आप ही लकड़ी को नहीं काट सकती अपितु उसे स्वकार्य संपादन में चेतन-पुरुष की अपेक्षा होती है । अतः जिस प्रकार उक्त लौकिक कार्य किसी चेतन कर्ता के द्वारा सम्पन्न होता है उसी प्रकार जगत् की सृष्टि भी पुरुष विशेष ईश्वरसापेक्ष

1- प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति । एवं च स्वकृताभ्यागमस्य लोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्।
न्या०भा० 4/1/21

2- तत्कारित्वादेव ब्रुवता निमित्तकारणमीश्वर इत्युपगतं भवति। यच्च निमि-त्तं तदितरयोः समवायिकारणासमवायिकारणयोरनुग्राहकम्।
न्या०वा०4/1/21पृ०460

होती है ।[1] न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में कहा गया है कि विवादित तनु, तरु एवं महीधर आदि उपादानाभिज्ञकर्तृक है, उत्पत्तिशील होने से अथवा अचेतन उपादान वाला होने से । जो उत्पत्तिशीलहोते हैं अथवा अचेतन उपादान वाले होते हैं वे सभी उपादानाभिज्ञपूर्वक होते हैं, जैसे कि प्रासादादि । विवादित तनु, तरु, महीधर आदि भी उत्पत्तिशील अथवा अचेतन उपादान वाले हैं, अतः वे भी उपादानाभिज्ञ पूर्वक हैं ।[2] अतः जगत् की उत्पत्ति के प्रति उसके उपादान परमाणु आदि का ज्ञाता होने से ईश्वर पुरुषकर्म की अपेक्षा रखते हुए भी निमित्त कारण है ।[3]

1- कः पुनरीश्वरस्य कारणत्वे न्यायः अयं न्यायोऽभिधीयते प्रधानपरमाणु कर्माणि प्राक्प्रवृत्तेर्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादि-वदिति । यथा वास्यादि बुद्धिमता तक्ष्णा अधिष्ठितमचेतनत्वात् प्रवर्तते तथा प्रधान परमाणु कर्माणि अचेतनानि प्रवर्तन्ते तस्मात् तान्यपि बुद्धिमत्कारणा-धिष्ठितानीति ।

वही 4/1/2। पृ0 46।

2- तथा च विवादाध्यासिताः तनुतरुमहीधरादय उपादानाभिज्ञकर्तृका उत्पत्ति-मत्त्वात् अचेतनोपादानत्वाद्वा यदुत्पत्तिमदचेतनोपादानकं वा तत्सर्वमुपादाना-भिज्ञपूर्वकं यथा प्रासादादि, तथा च विवादाध्यासितास्तनुतरुमहीधरादयस्त-स्मात्तथेति ।

न्या0वा0ता0टी04/1/2। पृ0 598-99

3- परमाणूपादानस्य जगतः पुरुषकर्मापेक्ष ईश्वरो निमित्तकारणं यच्च तेनापेक्षणीयं पुरुषकर्म तदपीश्वरनिमित्तकमेव ।

वही 4/1/2। पृ0 594

ईश्वरसत्ता के प्रबल दावेदार उदयनाचार्य ने कार्यत्व हेतु के आधार पर ईश्वर सिद्धि में इस ढंग से अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है -क्षित्यादि कर्तृपूर्वक हैं कार्य होने से ।[1] इन्होंने आत्मतत्त्वविवेक में संसार के कर्ता ईश्वर की सत्ता के ज्ञापन में कहा है कि संसार का कर्ता ईश्वर अनुमान से सिद्ध है, क्योंकि विवादाध्यासित कर्ता वाला संसार कर्ता से उत्पन्न है, क्योंकि वह कार्य है ।[2] उनका मन्तव्य यह है कि जो-जो कार्य होता है वह-वह सकर्तृक होता है । जिस प्रकार से उत्पत्तिमात्र घटादि का कर्ता कुम्भकार होता है । श्री हरिदासभट्टाचार्य का कहना है कि "क्षित्यादि सकर्तृक है कार्य होने से, घट के समान[3] इस कार्यत्व हेतुक अनुमान से क्षित्यादि के कर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि होती है । उन्होंने सकर्तृकत्व को भी परिभाषित करते हुए कहा है कि सकर्तृकत्व का अर्थ कारणविषयक अपरोक्षज्ञान करने की इच्छा और कार्यानुकूल व्यापार से युक्त होना है ।[4] इस प्रकार से उनकी दृष्टि में उपादान गोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्व ही कर्तृत्व है । आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्टरूप से कृष्ण को संसाररूपी वृक्ष के बीजरूप में स्वीकार करके उनको प्रणाम किया है ।[5] यद्यपि इस मङ्गलाचरण की कारिका में ईश्वर को संसाररूपी वृक्ष का बीज कहा गया है । किन्तु बीज अङ्कुर का समवायिकारण होता है जब कि न्याय-सिद्धान्त में ईश्वर संसार का निमित्तकारण है न कि समवायिकारण । इस लिए

1- क्षित्यादि कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् । न्या०कु०पृ०479

2- विश्वस्य कर्तुरनुमानसिद्धत्वात् । विवादाध्यासित कर्तृकं सकर्तृकं कार्यत्वात् आ०त०वि०पृ०385

3- क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् । विवृति पृ० 170

4- सकर्तृकत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम् विवृत्ति पृ० 170

5- तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय। भाषापरिच्छेद ।

यहाँ पर बीज का अर्थ निमित्त कारण है । इस बात को स्पष्ट करते हुए इन्होंने न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में कहा है कि संसार ही महीरुह अर्थात् वृक्ष है और उस वृक्ष के बीज अर्थात् निमित्तकारणभूत ईश्वर को नमस्कार है ।[1] इन्होंने ईश्वर को संसार का निमित्त कारण सिद्ध करने के लिए अनुमान वाक्य भी प्रस्तुत किया है जैसे कि-"घटादिकार्य कर्तृजन्य होते हैं उसी प्रकार क्षित्यङ्कुरादि भी कर्तृजन्य होंगे, और उनका कर्तृत्व हमजैसे शरीरधारियों से सम्भव नहीं है । इसलिए उनके कर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि होती है ।[2] माधवाचार्य ने कहा है कि विवादास्पद पर्वत, सागर आदि सारे पदार्थों का कोई कर्ता होगा क्योंकि ये कार्य हैं, जैसे घट।[3] जयन्तभट्ट ने कहा है कि ईश्वरसत्ता के साधन में सामान्यतोदृष्ट ही लिङ्ग है क्योंकि पृथिव्यादि कार्यधर्मक हैं अतएव तदुत्पत्ति उसके प्रकार प्रयोजन आदि से अभिज्ञ कर्तृपूर्वक ही होगी क्योंकि वह कार्य है घटादि के समान ।[4] वैशेषिक सूत्रकार ने

1- संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय निमित्तकारणायेत्यर्थः ।

न्या०सि०मु० पृ० 9

2- एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति, तथाहि-यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि । न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वर-सिद्धिः ।

न्या० सि०मु०पृ०9

3- विवादास्पदं नगसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवत् ।

स०द०सं०अक्षपाददर्शनम् पृ० 430

4- सामान्यतोदृष्टन्तु लिङ्गमीश्वरसत्तामिदं ब्रूमहे, पृथिव्यादि कार्यं धर्मि, तदु-त्पत्तिप्रकार प्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, कार्यत्वाद्, घटादिवत् ।

न्या०म०भाग । पृ०272

भी कहा है कि नाम तथा कार्य तो हम जीवों से विशिष्ट ईश्वररूप आत्माओं का साधक है ।[1] क्योंकि संज्ञा तथा कर्म में प्रवृत्ति प्रत्यक्षपूर्वक होती है ।[2] इसी प्रकार शङ्करमिश्र ने भी कहा है कि जागतिक पदार्थों की संज्ञा और उनके निर्माणकार्यरूप व्यवहार ईश्वर और महर्षियों की सिद्धि में सहायक हैं ।[3] उन्होंने ईश्वर की सिद्धि में कार्यत्व हेतुक अनुमान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कार्य भी ईश्वरसाधन में लिङ्ग है जैसे कि क्षित्यादि सकर्तृक है कार्य होने से घट के समान ।[4] उनका मन्तव्य है कि जिस पुरुष को जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है वही उसका नाम रख सकता है, तथा वही उस कार्य को कर सकता है । अतः चतुर्दश भुवन के अन्तर्गत हमारे ऐसे जीवों के अप्रत्यक्ष के विषय स्वर्गादि पदार्थों के नाम रखने वाले पृथिवी जल आदि सम्पूर्ण जगत्कार्य की रचना करने वाले उन कार्यों के समवायिकारणों का ज्ञान करने की इच्छा तथा कृति वाले ईश्वर तथा योगियों की सिद्धि होती है ।[5] क्षित्यादि

1- संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । वै0सू02/1/18

2- प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ।

वै0सू0 2/1/19

3- संज्ञा-नाम, कर्म-कार्यं क्षित्यादि, तदुभयमस्मद्विशिष्टानाम् ईश्वर-महर्षीणां सत्वेऽपि लिङ्गम् । उप0 2/1/18

4- एवं कर्मापि कार्यमपीश्वरे लिङ्गम् तथाहि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवादिति। उप0 2/1/19

5- द्रष्टव्य उप0 2/1/19

सम्पूर्ण भुवनों के प्रति ईश्वर के कर्तृत्व का समर्थन प्रशस्तपादभाष्य से भी होता है, जहाँ कहा गया है कि महेश्वर कमल के सदृश चार मुँह वाले सभी लोकों के पितामह ब्रह्मा को सकलभुवनसहित उत्पन्न कर प्रजा की सृष्टि के लिए जो नियुक्त करते हैं ।[1]

न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि पृथिवी प्रभृति चारों महाभूत किसी ज्ञानी कर्ता के द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं । कार्य अवश्य ही किसी ज्ञानी कर्ता के द्वारा उत्पन्न होते हैं, जैसे कि घटादि । पृथिव्यादि चारों भूत भी कार्य हैं अतः वे सभी अवश्य ही ज्ञानी कर्ता के द्वारा उत्पन्न हैं ।[2] प्रशस्तपाद भाष्य की टीका "सेतु" में भी क्षित्यादि कर्तृतया ईश्वर की सिद्धि की गई है ।[3] व्योमवतीकार ने कहा है कि क्षित्यादि का सृष्टि एवं संहार कर्तृपूर्वक है ।[4]

1- तस्माच्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहितमुत्पाद्यप्रजासर्गे विनियुङ्क्ते ।

प्र०पा०भा०पृ०130

2- महाभूतचतुष्टयमुपलब्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वाद् यत्कार्यं तदुपलब्धिमत्पूर्वकं यथा घटः कार्यञ्च महाभूतचतुष्टयं तस्मादेतदप्युपलब्धिमत्पूर्वकम् ।

न्या०क०पृ०133

3- क्षित्यादिकर्तृतया भावन सिद्धः ।

सेतु पृ० 292

4- क्षित्यादिषु सृष्टिसंहारो कर्तृपूर्वकाविति ।

व्यो०पृ०30।

शैवदर्शनानुयायी भी क्षित्यादि का कर्ता ईश्वर को मानते हैं। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में शैव दार्शनिकों के मत को व्यक्त करते हुए कहा है कि शरीर, इन्द्रिय और संसार आदि पदार्थ कार्य के रूप में जाने जाते हैं क्योंकि इन पदार्थों में अवयव रचना की विशिष्टताएं हैं। चूंकि ये कार्य हैं, इसलिए किसी बुद्धियुक्त कर्ता ने इनका निर्माण किया होगा ऐसा अनुमान होता है। इसी अनुमान के बल से परमेश्वर के प्रसिद्धि की बात सिद्ध हो जाती है।[1] उनका कहना है कि चूंकि कर्ता वह है जो इच्छा और प्रयत्न का आधार हो-चिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वं कर्तृत्वम्। अतः कार्य के पूर्व कर्ता की सत्ता अवश्य होगी। चूंकि कर्ता इच्छा से युक्त होता है अतः उसमें बुद्धि का होना अनिवार्य है। संसार रूपी विराट कार्य के लिए तदनुरूप कर्ता होना चाहिए जो कि ईश्वर ही है, क्योंकि तदतिरिक्त कोई अन्य कर्ता नहीं हो सकता। वे शैवाचार्यों की ओर से पृथिव्यादि के सकर्तृकत्व साधन के लिए अनुमान-वाक्य प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि विवादग्रस्त भुवनादि पदार्थ सकर्तृक हैं क्योंकि ये कार्य हैं, घट के समान। जो पदार्थ उक्त साधन वाले हैं अर्थात् कार्य हैं वे उक्त साध्य अर्थात् सकर्तृक वाले हैं जैसे घटादि। जो इस प्रकार का नहीं है अर्थात् जो सकर्तृक नहीं है वह वैसा अर्थात् कार्य नहीं है जैसे कि आत्मा आदि।[2] इस प्रकार

1- तत्रच तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेशविशिष्टत्वेन कार्यत्वमवगम्यते। तेन च कार्यत्वेनेषां बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानबलात्परमेश्वर प्रसिद्धिरुपपद्यते।

स0द0सं0शैवदर्शनम् पृ0 277

2- विमतं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथाघटादि। न यदेवं न तदेवं यथात्मादि।

स0 द0सं0शैवदर्शनम् पृ0278

से माधवाचार्य ने अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शैवाभिमत क्षित्यादि का सकर्तृकत्व सिद्ध किया है । उन्होंने पूज्यपाद बृहस्पति के कथन को भी उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि इस संसार में भोग्य, भोग के साधन, उनके उपादान आदि को जो विशेषरूप से जानता है, उस ईश्वर के अतिरिक्त पुरुषों के कर्मसमूह के परिणाम का ज्ञाता यहाँ कोई नहीं है ।[1] इन्होंने किसी अन्य आचार्य के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि सम्पूर्ण संसार जो विवाद का विषय है वह किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा निर्मित है क्योंकि यह कार्य है । जिस प्रकार घटादि को कार्य मानकर उसे किसी बुद्धियुक्त कर्ता के द्वारा निर्मित माना जाता है ।[2] वीतराग-स्तुति में भी कहा गया है कि इस जगत् का कोई कर्ता है, वह एक है, वह सर्व-व्यापी है, वह स्वतन्त्र है एवं नित्य है ।[3]

इस प्रकार से न्याय-वैशेषिक एवं अन्य विचारक कार्यत्व हेतुक अनुमान के द्वारा क्षित्यादि के कर्ता रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकृति प्रदान करते हैं । अतएव जो पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि ईश्वरसाधन में प्रमाणाभाव होने से न्याय-वैशेषिकों का ईश्वरविषयक विचार विपन्न हो जाता है- ऐसी उनकी अवधारणा निराकृत हो

1- इह भोग्यभोगसाधनतदुपादानादि यो विजानाति ।
तमृते भवेन्न हीदं पुंस्कर्माशयविपाकज्ञम् ।। स०द०सं० पृ०279 में उद्धृत

2- विवादाध्यासितं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम् ।
कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा ।। स०द०सं०पृ० 280 में उद्धृत

3- कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,
स सर्वगः सः स्ववशः स नित्यः । वीतराग स्तुति 6

जाती है । यद्यपि ईश्वरावलम्बियों के द्वारा प्रस्तुत कार्यत्व हेतु से केवल सकर्तृकत्व की ही सिद्धि होती है, न कि ईश्वर की । परन्तु क्षित्यादि जैसे कार्य का कर्तृत्व किसी अस्मदादि जैसे अल्पज्ञ एवं पञ्चभौतिक पदार्थों से निर्मित शरीरधारियों में सम्भव नहीं है क्योंकि किसी कार्य का कर्ता वही हो सकता है जिसमें उस कार्य के उपादान कारणों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान, चिकीर्षा और तत्कार्यानुकूल व्यापार हो । क्षित्यादि ऐसे कार्य हैं, जिनके उपादान कारणों का न तो अस्मदादिकों को प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही सम्भव है और न तो उसकी रचना करने की इच्छा ही हममें सम्भव हो सकती है, क्योंकि उस समय हमारी स्थिति ही नहीं है । साथ ही पृथिव्यादि कार्यानुकूल हममे प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं है । अतएव क्षित्यादि कार्य के प्रति अस्मदादिकों का कर्तृत्व सम्भव नहीं है । अतः उसका कर्तृत्व सामान्यतो दृष्ट अनुमान से अस्मदादि से विलक्षण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, क्लेश,[1] कर्म,[2] विपाकादि[3] परामर्श[4] से रहित पुरुष में ही सम्भव हो सकता है, एवं उसी विलक्षण पुरुष को ही ईश्वर के रूप में कल्पित किया जाता है । ईश्वर कृष्ण ने कहा है कि अतीन्द्रिय या परोक्ष पदार्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सिद्ध होते हैं ।[5] अतः सामान्यतोदृष्ट अनुमान

1- अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । यो०सू० 2/3

2- कुशलाकुशलानि कर्माणि । व्या०भा०1/24

3- सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । यो०सू०2/13

4- क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । यो०सू०2/12

5- सामान्यतस्तु दृष्टाद् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।। सा०का० 6

से कार्यत्व हेतु के आधार पर पृथिव्यादि के कर्तारूप में ईश्वर की अवधारणा समीचीन ही है ।

पूर्वपक्षियों द्वारा कार्यत्वहेतुक अनुमान में प्रत्यनुमानों की उत्थापना -

ईश्वरानुमान में नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये कार्यत्व हेतुक "क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस अनुमान वाक्य में पूर्वपक्षियों के द्वारा विविध प्रकार के दोषों की परिकल्पना करके इस अनुमान वाक्य को दोषयुक्त सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है, जैसा कि न्याय-वैशेषिक शास्त्र के अन्यान्य ग्रन्थों में आचार्यों ने स्वयं ही पूर्वपक्ष की ओर से इस अनुमान वाक्य में दोषों की कल्पना की है । इस अनुमान वाक्य में मुख्यरूप से निम्नलिखित दोषों को उठाकर ईश्वरविषयक विचार का निरास किया जा सकता है -

1- ईश्वर में शरीरापत्ति-

पूर्वपक्षियों का कहना है कि चूंकि सभी कार्यों के कर्ता शरीरी होते हैं अतएव ईश्वर को भी शरीरी होना चाहिए। इसके समर्थन में वे इस प्रकार से कार्यत्व हेतुक अनुमान के प्रत्यनुमान के रूप में अनुमान वाक्य प्रस्तुत कर सकते हैं कि -"ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात् कुलालादिवत्" अर्थात् जिस प्रकार से घटादि कार्यों के कुलालादि कर्ता शरीरयुक्त है, तद्वत् ईश्वर भी क्षित्यङ्कुरादि का कर्ता होने से अवश्य ही शरीरयुक्त होंगे । परन्तु ईश्वर को सिद्ध करने वाला कार्यत्व हेतु पक्षधर्मता बल से सिद्ध होने वाले अशरीरी कर्तारूप विशेष के विरुद्ध है, क्योंकि उक्त अनुमान द्वारा जो ईश्वर सिद्ध होता है वह पक्षधर्मता बल से नित्य, सर्वज्ञ एवं

अशरीरी सिद्ध होता है जब कि कार्यत्व हेतु के द्वारा शरीरी कर्ता की सिद्धि होती है क्योंकि संसार में जो भी कार्य देखे जाते हैं, वे सभी शरीरी कर्ता के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव कार्यत्व हेतु अशरीरी कर्ता के विरुद्ध है। अतः "कर्ता शरीरयुक्त ही होता है" इस प्रकार की व्याप्ति से उक्त कार्यत्व हेतु दूषित होता है जो वस्तुतः विरुद्ध नाम से प्रसिद्ध हेत्वाभास का ही प्रभेद है। शङ्कराचार्य ने न्याय-वैशेषिकों के ईश्वर कारणवाद का खण्डन करते हुए ब्रह्मसूत्र 2/2/40 "करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः"[1] इस सूत्र के भाष्य में कहा है कि अदृष्ट ईश्वर की कल्पना की इच्छा वाले को ईश्वर में भी इन्द्रियों के आश्रयरूप कोई शरीर का वर्णन करना होगा। किन्तु उस शरीर का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सृष्टि के उत्तरकाल में शरीर के होने से, सृष्टि से पूर्वकाल में शरीर की अनुपपत्ति है। शरीर से रहित ईश्वर में प्रवर्तकत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा गया है। इसी से यदि ईश्वर को भी करणवत् अर्थात् करण का आश्रय शरीरी माना जाय तो भोगादि की प्रसक्ति से अनीश्वरता की प्राप्ति होती है[2]। अतः ईश्वर संसार का कर्ता नहीं हो सकता।

1- ब्रह्मसूत्र 2/2/40

2- अदृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्, न च तद्वर्णयितुं शक्यते। सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः एवं लोके दृष्टत्वात्। "करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत, एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद् भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत।

शारी०भा०2/2/40पृ० 465

2- ईश्वर में शरीराभाव के कारण कर्तृत्व असम्भव है -

पूर्वपक्षियों ने न्याय-वैशेषिकों के कार्यत्व हेतुक अनुमान में दूसरा दोष इस तरह से प्रस्तुत किया है कि ईश्वर रूप धर्मी में शरीर के बाध होने से उसमें कर्तृत्व भी निराकृत हो जायेगा । उनका कहना है कि "ईश्वरो न कर्ता शरीर शून्यत्वात् आकाशादिवत्" अर्थात् जिस प्रकार आकाशादि का शरीरशून्यत्व के कारण उसमें किसी भी कार्य के प्रति कर्तृत्व नहीं है उसी प्रकार ईश्वर में भी शरीराभाव के कारण क्षित्यादि कार्य के प्रति कर्तृत्वाभाव सिद्ध है । उनका कहना है कि "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस ईश्वरसाधक अनुमान में कार्यत्व हेतु का साध्य सकर्तृकत्व है । परन्तु सकर्तृकत्व के विशेषणांश कर्तृकत्व का ईश्वर में बाध प्राप्त है, क्योंकि ईश्वर के शरीरी न होने से और शरीर विशिष्ट का ही किसी कार्य के प्रति कर्तृत्व होने से ईश्वर में कर्तृत्वाभाव है । अतएव कर्तृत्वरूप विशेषणांश के बाधित होने से विशेषणाभावप्रयुक्त सकर्तृकत्व का भी अभाव क्षित्यादि में प्रत्यक्षादि से निश्चित होने के कारण कार्यत्व हेतु बाधितविषय हेत्वाभास से दूषित है । यह सिद्ध करना तो बिल्कुल ही असम्भव है कि ये महाभूत उस कर्ता से उत्पन्न होते हैं जिसके शरीर नहीं है । क्योंकि कर्ताओं का यह स्वभाव है कि वह पहले उपादानों के स्वरूप को जानते हैं । फिर यह इच्छा होती है कि उन उपादानों से अमुक कार्य को उत्पन्न करें । तत्पश्चात् वे तदनुकूल प्रयत्न करते हैं फिर अपने शरीर को उस कार्य के अनुसार संचालित करते हैं और कार्य के उपकरणों को यथावत् परिचालित कर कार्य को उत्पन्न करते हैं । अतः बिना उपादान निश्चय के उस कार्य की इच्छा न रखते हुए उस कार्य

1- साधनं चास्य धर्मादि तदा किञ्चिन्न विद्यते ।
न च निस्साधनः कर्ता कश्चित् सृजति किञ्चन ।।
श्लो0वा0सम्ब0परि050

विषयक प्रयत्न के बिना ही शरीर को हिलाये डुलाये बिना कोई भी कर्ता किसी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता । इस अन्वय और व्यतिरेक से बुद्धि की तरह शरीर में भी कारणता सिद्ध है । जिस हेतु में जिस साध्य की व्याप्ति गृहीत होती है उस हेतु से साध्य के ज्ञान को कोई रोक नहीं सकता । इस प्रकार से शरीर में सिद्ध कारणत्व का अगर परित्याग करें तो बुद्धि को भी कार्य के प्रति कारण नहीं माना जा सकता । यदि ईश्वर अतिशय प्रभाव के कारण बिना शरीर के ही महाभूतों को उत्पन्न कर सकते हैं तो फिर बिना बुद्धि के भी उन कार्यों का सम्पादन कर सकते हैं । फिर यदि जगत् का कर्ता अशरीरी होगा तो शरीर के बिना उसमें बुद्धि भी नहीं हो सकेगी ।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से उसके लिए शरीर की कोई उपयोगिता नहीं मानी जायेगी तो फिर उसी तरह से ईश्वरीय प्रयत्न के भी नित्य होने से उसके लिए ज्ञान और इच्छा की भी उपयोगिता समाप्त हो जायेगी और ईश्वर ज्ञानरहित भी सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि जिस प्रकार शरीर के बिना भी ईश्वरीय ज्ञान की सत्ता रह सकती है उसी प्रकार ज्ञान और इच्छा के बिना भी ईश्वरीय प्रयत्न मानना पड़ेगा जो कि "जानाति, इच्छति ततो यतते" इस नियम के विरुद्ध है । श्लोकवार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट का कहना है कि शरीर के बिना सर्गादि के लिए इच्छा कैसे सम्भव हो सकती है तथा उस समय प्रवृत्ति का भी अभाव रहेगा[1] ।

1- प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते ।
शरीरादेर्विना चास्य कथमिच्छापि सर्जने ।। श्लो०वा०सम्ब०परि०47

यदि अनित्य वस्तुओं की तरह सृष्टिकर्ता प्रजापति के शरीर का भी निर्माण स्वीकार किया जायेगा तो फिर उस शरीर की उत्पत्ति उस ईश्वर से नहीं हो सकती क्योंकि स्वशरीर के निर्माण से पहले वे अशरीरी थे एवं अशरीरी से शरीर का निर्माण संभव नहीं है ।[1] कारण यह है कि घटादि के निर्माता कुलालादि में प्रयत्न के बल से ही अधिष्ठातृत्व देखा जाता है । आत्मा में प्रयत्न की उत्पत्ति शरीर सम्बन्ध के रहने पर ही अर्थात् शरीरावच्छेदेनैव ही देखी जाती है । यदि ईश्वर कोही ईश्वरशरीर का अधिष्ठाता माना जायेगा तो शरीररहित अशरीरी में भी अधिष्ठातृत्व स्वीकार करना होगा । किन्तु यह युक्त नहीं है । उदाहरणार्थ मुक्तात्माओं में शरीरसम्बन्ध न रहने के कारण उनमें किसी कार्य का अधिष्ठातृत्व स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि अधिष्ठातृत्व प्रयत्न के बिना नहीं होता है एवं प्रयत्न शरीर के बिना नही होता । इस प्रकार अधिष्ठातृत्व शरीर के बिना अनुपपन्न है।[2] अतएव नैयायिकों का यह ईश्वरकारणवाद खण्डित हो जाता है । अतः कार्यत्व हेतु के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करना न्यायसङ्गत नही है ।

1- शरीरादथ तस्य स्यात् तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता ।
तद्वदन्यप्रसङ्गोऽपि नित्यं यदि तदिष्यते ।।

श्लो०वा०सम्ब०परि०48

2- अथ तस्याप्यधिष्ठानं तेनैवेत्यविपक्षता ।
अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवद् भवेत् ।।

श्लो०वा०सम्ब परि०78

3- किसी शरीरी कर्ता की ही सिद्धि -

अनीश्वरवादी पूर्वपक्षी यह भी कह सकते हैं कि चूँकि सभी कार्य शरीरी कर्ता के द्वारा संपादित किये जाते हैं, अतएव क्षित्यादि कार्य भी किसी न किसी शरीरी के द्वारा ही किया जाना चाहिए। अपने तर्क के समर्थन में वे यह अनुमान वाक्य प्रस्तुत कर सकते हैं कि "क्षित्यादिकं शरीरकर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत्"। इस प्रकार से क्षित्यादि का शरीरी कर्ता निश्चित होने पर इस निर्णय में पहुँचा जा सकता है कि क्षित्यङ्कुरादि ईश्वरकर्तृक नहीं है क्योंकि ईश्वर शरीरी नहीं है। "ईश्वरः न क्षित्यादिकर्ता अशरीरित्वात्।" यदि क्षित्यादि का कोई कर्ता होगा भी तो अस्मदादि जैसे शरीरी ही होगा न कि अशरीरी परमेश्वर। इस प्रकार से कर्ता शरीरी एवं इस व्याप्ति के बल से क्षित्यङ्कुरादि में शरीरविशिष्ट कर्तृजन्यत्व के ही सिद्ध होने से केवल कर्तृजन्यत्व के आधार पर ईश्वरसिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वर में शरीररूप विशेषण के अभाव होने के कारण उसमें क्षित्यङ्कुरादि का कर्तृत्व बाधित हो जाता है।

श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि क्षित्यादि पक्षों में जिस चेतनाधिष्ठितत्वरूप सकर्तृकत्व के साधन के लिए न्याय-वैशेषिक उद्यत हैं वह सकर्तृकत्व क्या गृहघटादि दृष्टान्तों में जिस प्रकार कुम्भार आदि का अधिष्ठातृत्व है उसी प्रकार का है ? अथवा ईश्वराधिष्ठितत्व के अभिप्राय से चेतनाधिष्ठितत्व की सिद्धि करना चाहते हैं ? इनमें यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो उक्त अनुमान से क्षित्यादि पक्षों में ईश्वराधिष्ठितत्व की सिद्धि नहीं होगी, किन्तु कुम्भकारादि के समान किसी जीव के ही अधिष्ठि-

तत्त्व की सिद्धि होगी । यदि दूसरे पक्ष को स्वीकार किया जायेगा तो घटादि दृष्टान्तों में ही साध्य की सत्ता नहीं रहेगी क्योंकि घटादि ईश्वराधिष्ठित नहीं है ।[1] उनका कहना है कि यदि ईश्वर अथवा अनीश्वर रूप में किसी साधारण चेतनाधिष्ठान को साध्य करेंगे तो घटादि की दृष्टान्तता यद्यपि अनुपपन्न नहीं होगी, क्योंकि घटादि ईश्वराधिष्ठित न होने पर भी कुम्भकारादि चेतनाधिष्ठित तो है ही । फिर भी इस साध्यानुसार हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जायेगा, क्योंकि जिस प्रकार घटादि चेतनकर्तृक होने पर भी ईश्वरकर्तृक नहीं है उसी प्रकार क्षित्यङ्कुरादि भी चेतनकर्तृक होने पर भी ईश्वरकर्तृक नहीं है ।[2]

यदि घटादि को कुलालादि चेतनों से अधिष्ठित होने के साथ ईश्वराधिष्ठित भी मानें तो क्षित्यङ्कुरादि पक्षों में चेतनाधिष्ठितत्व की सिद्धि का पर्यवसान ईश्वर की सिद्धि में न होने से एक ईश्वर की सिद्धि भी बाधित हो जायेगी । अतः "कर्ता शरीरी एव" इस बाध से अशरीरी कर्ता का बाध हो जायेगा, जिससे क्षित्यङ्कुरादि में भी शरीरी कर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि होगी । अतः प्रकृत कार्यत्व हेतुक अनुमान से भी अस्मदादि से विलक्षण अशरीरी एवं नित्यज्ञान से युक्त कर्तारूप परमेश्वर की सिद्धि न होकर शरीरी एवं अनित्य ज्ञान से युक्त अस्मदादि के सदृश कर्ता की ही सिद्धि होगी । अतः न्याय-वैशेषिकों का क्षित्यादिविषयक ईश्वरकर्तृकत्व अनुपपन्न है । अतः जगत् के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।

1- कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि चेष्यते ।
नेश्वराधिष्ठितत्वं स्यादस्ति चेत् साध्यहीनता ।। श्लो०वा०सम्ब०परि०79

2- यथासिद्धो च दृष्टान्ते भवेद्धेतोर्विरुद्धता ।
अनीश्वरविनाश्यादि कर्तृमत्त्वं प्रसज्यते ।।
वही०सम्ब०परि०80

4- क्षित्यादि में अकार्यत्व की प्रसक्ति -

पूर्वपक्षी यह भी कह सकते हैं कि क्षित्यादि में अकार्यत्व की सिद्धि होती है । उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाशादि की उत्पत्ति में शरीर का कोई उपयोग न होने से वह अकार्य है उसी प्रकार क्षित्यादि भी शरीर से अनुत्पन्न होने के कारण अकार्य है । अनुमान वाक्य है-"क्षित्यङ्कुरादिकं अकार्यं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत् ।" इस प्रकार से कार्यत्वहेतुक ईश्वरानुमान के क्षित्यङ्कुरादि पक्ष में कार्यत्व हेतु के अभाव के निर्णय से स्वरूपासिद्ध दोष की आपत्ति हो सकती है ।अतः उससे ईश्वरानुमान नहीं किया जा सकता ।

5- क्षित्यादि में कर्त्रजन्यत्व की सिद्धि-

पूर्वपक्षियों द्वारा नैयायिकाभिमत कार्यत्वहेतुक ईश्वरानुमान में पांचवां दोष इस प्रकार से दिया जा सकता है कि जितने भी कार्य शरीरजन्य होते हैं वे ही सभी कर्तृजन्य भी होते हैं । अतः क्षित्यङ्कुरादि कार्य शरीराजन्य होने से कर्तृजन्य भी नहीं हो सकते । अतएव "क्षित्यङ्कुरादिक सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्"का विरोधी अनुमान वाक्य "क्षित्यङ्कुरादिकं अकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्"इस अनुमान वाक्य से क्षित्यङ्कुरादि पक्ष में सकर्तृकत्व साध्य के अभावस्वरूप अकर्तृकत्व का स्थापन किया जा सकता है । अतएव कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित है ।

6- अनीश्वरवादियों का यह भी मत हो सकता है कि "यद्यत् कार्यं तत्-तत् कर्तृजन्यम्" इस नैयायिकाभिमत व्याप्ति की विरोधिनी व्याप्ति"यत्-यत् कार्यं तत्-तत् शरीरजन्यमपि भवति" उपस्थित की जा सकती है । इस व्याप्ति का पर्यवसान

"यत्र शरीरजन्यं न भवति तत्र कार्यमपि न भवति" इस व्याप्ति में होती है । यदि किसी अनुमान के साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा समान बलशाली हेतु विद्यमान रहे तो उस अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्षित होता है । अनुमान वाक्य में पक्ष है क्षित्यंकुरादि, साध्य है कर्तृजन्यत्व एवं हेतु है कार्यत्व । इस अनुमान वाक्य के पक्ष क्षित्यंकुरादि में शरीराजन्यत्व हेतु से कर्तृजन्यत्वरूप प्रकृत साध्य के अभाव की सिद्धि हो जाने से प्रकृत साध्य का साधक कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित हो जायेगा । अतः उससे ईश्वरसिद्धि विषयक अवधारणा को नैयायिकों को त्याग देना चाहिए ।

इस प्रकार से अनीश्वरवादियों ने नैयायिकों के कार्यत्व हेतुक सकर्तृकत्व साधक अनुमान में अनेकानेक प्रकार से हेत्वाभासों एवं तर्कों के द्वारा दोष दिखाकर ईश्वर की सत्ता पर आक्षेप किया है।

न्याय-वैशेषिकों द्वारा उपर्युक्त दोषों का निराकरण -

प्रथम दोष का निराकरण -

उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत प्रथम दोष के निराकरण के लिए आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि पूर्वपक्षियों के द्वारा जो कार्यत्व हेतु से सिद्ध शरीरी कर्ता को पक्षधर्मता बल से सिद्ध होने वाले अशरीरी कर्ता के विरुद्ध बताया गया है वह उचित नहीं है क्योंकि पक्षधर्मता बल से उपलब्ध अशरीरी कर्तारूप विरोधी ईश्वर की प्रतीति यदि पूर्वपक्षियों को नहीं है तो फिर विरोधी ईश्वर की प्रतीति के अभाव में विरोध की प्रतीति भी नहीं हो सकेगी । यदि उनको अशरीरी कर्ता की प्रतीति

होगी तो फिर अशरीरकर्तृकत्व और कार्यत्व की साथ-साथ उपलब्धि होने के कारण उनका विरोध बाधित है ।[1] क्योंकि जिसकी साथ-साथ उपलब्धि होती है उसमें विरोध बताना अग्नि को शीत बताने के बराबर है । न्यायकुसुमाञ्जलि में भी उन्होंने कहा है कि कार्यत्व हेतु से एवं धर्मता की दृष्टि से उपपन्न कर्ता में शरीरित्व एवं अशरीरित्व इन दोनों के विरोध की बात सम्भव नहीं है क्योंकि यदि एक ही कर्ता ईश्वर में एक ही समय "शरीरित्व" एवं अशरीरित्व" इन दोनों धर्मों की सिद्धि हो सकती है तो फिर ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध ही नहीं हैं । यदि एक कर्ता में एक समय शरीरित्व एवं अशरीरित्व ये दोनों धर्म उपलब्ध ही नहीं हैं तो भी दोनों में परस्पर विरोध नहीं माना जा सकता ।[2]

द्वितीय आक्षेप का निराकरण -

द्वितीय आक्षेप के निराकरण में न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि पूर्वपक्षियों से शरीरित्व विषयक आक्षेप के विषय में यह पूछना है कि शरीर का सम्बन्ध ही कर्तृत्व है ? अथवा जिन कारणों में कार्यसम्पादन की योग्यता है वह कर्तृत्व है? अगर पूर्वपक्षी पहले मत के अर्थात् शरीरसम्बन्ध को ही कर्तृत्व स्वीकार करेंगे तो फिर उन्हें सोये हुए व्यक्ति में अथवा कार्यों के प्रति उदासीन व्यक्तियों में भी कर्तृत्व

1- न, विरोधिनोरप्रतीतौ विरोधस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्,
तत्प्रतीतौ वा सहोपलम्भनियमेन विरोधस्य बाधितत्वात् । आ०त०वि०पृ०385

2- विरोधाविरोधस्तु विरोधिसिद्धौ सहोपलम्भेन, तदसिद्धौ मिथो धर्मिपरिहारानुपलम्भेन निरस्तो नाशङ्कामप्यधिरोहतीति ।

न्या०कु०पृ० 486

स्वीकार करना पड़ेगा । परन्तु ऐसा असम्भव होने से उपादान कारणों को परिचालित करना ही कर्तृत्व है-ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उन उपादान कारणों को समुचित रूप से परिचालित करने पर ही कार्यों की उत्पत्ति होती है । परन्तु ऐसा कर्तृत्व तो शरीरसम्बन्ध के बिना भी सम्भव है जैसे कि अपने शरीर के लिए परिचालन में जीव का परिचालनत्व सिद्ध है ।[1] उनका कहना है कि शरीर केवल इच्छा और प्रयत्न का ही कारण है ।[2] परन्तु उसमें भी जहाँ इच्छा और प्रयत्न आगन्तुक गुण है केवल वहाँ ही शरीर की आवश्यकता हो सकती है परन्तु जहाँ ये दोनों गुण स्वाभाविक गुण हैं वहाँ शरीर की अपेक्षा व्यर्थ है ।[3] चूँकि इच्छा एवं प्रयत्न से प्रेरणा की

1- किं शरीरित्वमेव कर्तृत्वमुत परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वम् ? न तावच्छरीरित्वमेव कर्तृत्वम्, सुषुप्तस्योदासीनस्य च कर्तृत्वप्रसङ्गात्, किन्तु परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वम् तस्मिन् सति कार्योत्पत्तेः। तच्चाशरीरस्यापि निर्वहति यथा स्वशरीरप्रेरणायामात्मनः ।

न्या०क०पृ०138-139

2- तस्येच्छाप्रयत्नयोरुपजननं प्रत्येककारकत्वात् ।

न्या०क०पृ०139

3- अपेक्षतां यत्र तयोरागन्तुकत्वम्, यत्र पुनरिमौ स्वाभाविकावासाते तत्रास्यापेक्षणं व्यर्थम् ।

न्या०क०पृ० 139-40

उत्पत्ति होती है, अतः प्रेरणा में शरीर कारण नहीं है क्योंकि शरीर प्रेरणारूप क्रिया का कर्म है । इस प्रकार यह नियम ही असिद्ध हो जाता है कि कर्तृत्व शरीर युक्त द्रव्यों में ही रहता है क्योंकि शरीर व्यापार की अपेक्षा न रखते हुए भी केवल इच्छा और प्रयत्न की सहायता से ही चेतन में जड़ वस्तुओं को प्रेरित करने की सामर्थ्य कहीं-कहीं देखी जाती है । अतएव कार्यत्व हेतु के आधार पर ईश्वरानुमान करना ठीक ही है ।[1]

<u>पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित प्रथम एवं द्वितीय आक्षेप में ईश्वरबाध के विरुद्ध उदयनाचार्य द्वारा विविध दोषों की स्थापना -</u>

कार्यत्व हेतुक अनुमान में पूर्वपक्षियों द्वारा उपन्यस्त दोषों में से प्रथम और द्वितीय दोष का उदयनाचार्य ने एक साथ ही परिहार करने का प्रयास किया है । उनका कहना है कि पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत ईश्वरविरोधी प्रथम और द्वितीय अनुमान वाक्य बाध, आश्रयासिद्ध, अपसिद्धान्त और प्रतिज्ञाविरोध इन चार दोषों से दूषित होने के कारण वे दोनों ही ईश्वराभाव की सिद्धि में अक्षम हैं ।[2]

1- लब्धात्मकयोरिच्छाप्रयत्नयोः प्रेरणाकरणकाले तु तदनुपायभूतमेव शरीरं कर्मत्वादिति व्यभिचारः, अनपेक्षितशरीरव्यापारस्येच्छाप्रयत्नमात्रसचिवस्यैव चेतनस्य कदाचिदचेतनव्यापारं प्रति सामर्थ्यदर्शनात् बुद्धिमदव्यभिचारि तु कार्यत्वमितीश्वरसिद्धिः । न्या०क०पृ० 139

2- तत्र प्रथमद्वितीययोराश्रयासिद्धिबाधापसिद्धान्तप्रतिज्ञाविरोधाः ।

न्या०कुसु० पृ० 485

उपर्युक्त दोनों ईश्वरविरोधी अनुमानवाक्यों में बाधादि दोषों की निम्न प्रकार से स्थापन करके इन अनुमान वाक्यों को दूषित ठहराया जा सकता है ।

(अ) बाधदोष -

नैयायिकों का कहना है कि अनीश्वरवादियों ने जो "ईश्वर: शरीरी कर्तृत्वात् कुलालादिवत्" एवं "ईश्वरो न कर्ता शरीर शून्यत्वात् आकाशादिवत्" इन दोनों अनुमान वाक्यों के द्वारा जो "क्षित्यंकुरादिकम् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस अनुमान वाक्य में बाध दोष का उद्भावन किये हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि वस्तुत: बाधदोष मीमांसकों के ही पक्ष में दिखाया जा सकता है । पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष का ज्ञान अनुमिति के लिए आवश्यक होने से बाध दोष के उद्भावक उक्त ईश्वर-पक्षक अनुमान के लिए ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर का ज्ञान होना पहिले ही आवश्यक होगा, तभी उस ईश्वर को पक्ष बनाकर उसमें शरीरी" अथवा कर्तृत्वाभाव का स्थापन किया जा सकता है । क्योंकि ईश्वर के शरीरित्व अथवा उसके अकर्तृत्व के ज्ञान का अधिकरण अर्थात् पक्ष ईश्वर ही है । परन्तु इस ईश्वरत्व विशिष्ट ईश्वर का ज्ञान पूर्वपक्षियों को नहीं है क्योंकि इसका ज्ञान "क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस अनुमान प्रमाण के द्वारा ही ज्ञात होता है । अत: ईश्वर के "शरीरी" अथवा उसके अकर्तृत्व के आधारभूत ईश्वर के ज्ञान के बिना उसमें शरीरित्व या अकर्तृत्व की कल्पना करना दोषपूर्ण है । अत: पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत शरीरी साधक एवं अकर्तासाधक अनुमान वाक्यों से कार्यत्व हेतुक अनुमान वाक्य दूषित नहीं हो सकता । हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि ईश्वररूप धर्मी में शरीर के बाध होने से पूर्वपक्षियों के द्वारा जो कर्तृत्व का बाध दिखाया गया है वह नहीं हो सकता , क्योंकि अधिकरणज्ञान के

बिना अभावज्ञान असम्भव है ।[1]

(ब) आश्रयासिद्ध दोष -

ईश्वरबाधक उक्तानुमान से पहिले यदि ईश्वरत्वविशिष्ट ईश्वर की सिद्धि नहीं है तो इस अनुमान वाक्य में आश्रयासिद्ध दोष की भी प्रसक्ति होगी, क्योंकि पक्ष में पक्षतावच्छेदक विशेषणस्वरूप ईश्वरत्व का असिद्ध रहना ही आश्रयासिद्ध दोष है । हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि चूंकि ईश्वराभावसाधक हेतु में उसके अधिकरण ईश्वररूपधर्मी का ज्ञान आवश्यक है । परन्तु उस ईश्वररूपधर्मी का ज्ञान कार्यत्वहेतुक अनुमान से ही होता है । अतएव ईश्वराभाव के साधन के लिए अपेक्षित ज्ञान का जनक होने से यह कार्यत्व हेतु ईश्वराभावसाधन के लिए भी अवश्य अपेक्षणीय है । अतः ईश्वराभावसाधक अनुमान से ईश्वरसाधक कार्यत्वहेतुक अनुमान बलवान् है । अतः ईश्वराभावसाधक दुर्बल अनुमान वाक्य के द्वारा ईश्वरसाधक सबल अनुमान बाधित नहीं हो सकता । इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा जो यह कहा गया था कि ईश्वर के अशरीरी होने के कारण उसमें कर्तृत्व का अभाव होने से सकर्तृत्व के विशेषणांश कर्तृकत्व के बाधित होने से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्ट सकर्तृकत्व का अभाव क्षित्यादि में प्रत्यक्षादि से निश्चित है, अतः कार्यत्व हेतु बाधितविषय है- यह खण्डित हो जाता है ।[2]

1- ईश्वरे धर्मिणि शरीरबाधात् कर्तृत्वबाधो न । अधिकरणज्ञानं विना अभाव-ज्ञानासम्भवात् । विवृति पृ० 177

2- अस्य कार्यत्वस्य धर्मिसाधकस्य अधिकरणज्ञानजनकतया अवश्यापेक्षणीयत्वेन बलवत्वात् । एवं च न विशेषणबाधात्मको विशिष्टबाधः प्रत्यक्षात्मक इति । विवृति पृ० 177

स- अपसिद्धान्त दोष -

अनीश्वरवादियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये उक्त दोनों अनुमान वाक्यों को स्वीकार करने पर उन पूर्वपक्षियों को अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान का भी सामना करना पड़ेगा । क्योंकि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाले अनीश्वरवादी पूर्वपक्षी, नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत ईश्वरसाधक कर्तृत्व हेतुक अनुमान में दोषोद्भावन के लिए यदि "ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात्" अथवा "ईश्वरो न कर्ता शरीरशून्यत्वात्" इन अनुमानवाक्यों को स्वीकार करेंगे तो वे निगृहीत होंगे । कारण कि उक्त अनुमान वाक्यों के द्वारा ईश्वर में शरीरत्व को स्वीकार करने के लिए स्वाभिमत ईश्वराभाव सिद्धान्त से हटकर उन्हें तद्विरुद्ध नैयायिकाभिमत परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करना होगा, जो कि उनके सिद्धान्त के विरुद्ध अपसिद्धान्त है ।

(द) प्रतिज्ञाविरोध दोष -

अनीश्वरवादियों को उनके प्रतिज्ञा वाक्यों "ईश्वरः शरीरी" एवं "ईश्वरः अकर्ता" में विरोध स्फुट होने से उन्हें प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान का सामना भी करना पड़ेगा । कारण कि क्षित्यादि में अस्मदादि शरीरी का कर्तृत्व सम्भव न होने से ही अशरीरी परमेश्वर की कल्पना सम्भव होती है । अतः "ईश्वरोऽस्ति किन्तु शरीरी अस्ति" अथवा "ईश्वरोऽस्ति किन्तु अकर्ताऽस्ति" इन दोनों प्रतिज्ञा वाक्यों के परस्पर विरोधी होने से उक्त दोनों अनुमानों के बल पर ईश्वरानुमान में प्रतिज्ञा विरोध दोष उपस्थित हो जायेगा ।

तृतीय आक्षेप का निराकरण -

पूर्वपक्षियों के द्वारा जो ईश्वरसाधक कार्यत्व हेतु में तृतीय आक्षेप किया गया है उस आक्षेप के निराकरणार्थ उदयनाचार्य का कहना है कि कार्यत्व में यद्यपि शारीरिककर्तृजन्यत्व की व्याप्ति है तथापि यहाँ पर कोई अनिष्ट नहीं है ।[1] उनका मन्तव्य है कि शारीरिककर्तृजन्यत्व की व्याप्ति से युक्त कार्यत्व हेतु के द्वारा क्षित्यंकुरादि में शारीरिककर्तृजन्यत्व की सिद्धि के बाद योग्यानुपलब्धि के द्वारा क्षित्यं-कुरादि के शारीरिककर्तृजन्यत्व के बाध की प्रतीति होगी । अतः शारीरिककर्तृजन्यत्व साध्य से शारीरत्वरूप अंश को हटाकर केवल कर्तृजन्यत्वरूप साध्य की अनुमिति होगी । क्योंकि यह नियम नहीं है कि जिस रूप से साध्य की व्याप्ति हेतु में गृहीत रहे उसी रूप से साध्य की अनुमिति हो । कारण कि पर्वत में महानसीय वह्नि के अभाव के निश्चय के बाद वह्नित्व रूप से केवल धूम में व्याप्ति के ग्रहण से केवल वह्नि की "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमिति न होकर अपितु "महानसीय वह्नीतरवह्निमान पर्वतः" इत्याकारक अनुमिति होती है । यदि कार्यत्व हेतु में शारीरिककर्तृजन्यत्व की व्याप्ति नहीं स्वीकार की जायेगी तो फिर क्षित्यंकुरादि में शारीरिककर्तृजन्यत्व की ही सिद्धि नहीं होगी ।[2]

1- तृतीये तु व्याप्तौ सत्यां नेदमनिष्टम् ।

न्या०कुसु० पृ० 485

2- असत्यां तु न प्रसङ्गः ।

न्या०कुसु० पृ० 485

चतुर्थ आक्षेप का खण्डन -

अनीश्वरवादियों के द्वारा शरीर के प्रसङ्ग को उठाकर जो क्षित्यङ्कुरादि में शरीराजन्यत्व हेतु के आधार पर अकार्यत्व का साधन किया गया है, और उसके द्वारा ईश्वरानुमान साधक कार्यत्व हेतु को क्षित्यङ्कुरादि पक्ष में असिद्ध बताकर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास प्रस्तुत किया गया है उसके खण्डन में वाचस्पति मिश्र का कहना है कि सावयव होने से अथवा महत्परिमाण वाला होते हुए क्रियापूर्वक होने से उसमें वस्त्रादि के समान उत्पत्तिमत्व सिद्ध है।[1] उदयनाचार्य का कहना है कि इस अकार्यत्व साधक अनुमान में बाध एवं अनैकान्तिक दोष प्रसक्त होने से "क्षित्यादि-कमकार्यं शरीराजन्यत्वात्" हेतु कार्यत्व हेतुक अनुमान को दूषित नहीं कर सकता।[2] कारण कि पक्ष बोधक क्षित्यादि पद से क्षिति एवं अंकुर दोनों विवक्षित होने से एतदुभयगतद्वित्व के ही पक्षतावच्छेदक होने से एवं अकार्यत्व की व्याप्ति क्षिति एवं अंकुर पर अलग-अलग अर्थात् क्षितित्वावच्छेदेन एवं अङ्कुरत्वावच्छेदेन ही संभव हो सकती है अतः पक्षतावच्छेदकीभूत उक्त उभयत्वावच्छेदेन अकार्यत्व रूप साध्य का अभाव निर्णीत रहने के कारण उक्त प्रत्यनुमान में बाध दोष रहेगा।

यदि शरीराजन्य हेतुक अकार्यत्वसाधक उक्त अनुमान वाक्य में पक्षीभूत केवल क्षिति ही मान्य हो तो अङ्कुर में शरीराजन्यत्वरूप हेतु रहने पर भी अकार्यत्वरूप

1- न चेषामुत्पत्तिमत्वमसिद्धम्। सावयवत्वेन वा महत्त्वे सति क्रियावत्वेन वा वस्त्रादिवत्तत्सिद्धेः। न्या०वा०ता०टी०4/1/21 पृ०599

2- चतुर्थे बाधानैकान्तिकौ। न्या०कु०पृ० 485

साध्य के निर्णीत न होने से शरीराजन्यहेतुक उक्त अनुमान अनैकान्तिक दोष से दूषित होने के कारण वह नैयायिकाभिमत कार्यत्व हेतुक ईश्वरानुमान के स्वरूपासिद्ध दोष का उद्भावन नहीं कर सकता ।

न्यायकन्दलीकार ने क्षित्यादि के कार्य होने के समर्थन में कहा है कि कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है क्योंकि पक्ष रूप चारों महाभूतों के सावयव होने के कारण उक्त सावयवत्व हेतु से उनमें कार्यत्व हेतु सिद्ध है, क्योंकि जितने भी सावयव पदार्थ हैं वे सभी कार्य हैं जैसे घटादि । पृथिव्यादि चारों महाभूत भी सावयव हैं अतः वे भी अवश्य ही सावयव हैं ।[1] व्योमवती में कहा गया है कि क्षित्यादि का कार्यत्व उसके रचना होने से सिद्ध है । वहाँ अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया गया है कि क्षित्यादि कार्य है, रचना होने से । क्योंकि जो-जो रचना होती है वह-वह कार्य होता है जैसे कि घटादि । उसी प्रकार क्षित्यादि भी रचना है अतः वह भी कार्य है । बिना रचनात्व के कार्य की उपलब्धि नहीं होती ।[2]

जयन्तभट्ट का कहना है कि चार्वाक क्षित्यादि के कार्यत्व को असिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि जो वेद रचना को अन्य रचनाओं से विलक्षण होने पर भी उसमें कार्यत्व को स्वीकार करते हैं, अतः वे पृथिव्यादि में भी कार्यत्व का कैसे खण्डन कर सकते हैं ?[3] उनका कहना है कि इसी तरह मीमांसक भी कार्यत्व का

1- तदयुक्तम्, सावयवत्वात्, यत् सावयवं तत् कार्यं यथा घटः, सावयवञ्च पृथिव्यादि तस्मादेतदपि कार्यमेव । न्या०क०पृ० 134

2- रचनावत्त्वेन तत्सिद्धेः । तथाहि-क्षित्यादीनि कार्याणि रचनावत्वात् । यद्-यद् रचनावत् तद्-तद् कार्यं यथा घटादीति । तथा रचनावत् क्षित्यादि तस्मात् कार्यमिति । न च रचनावत्त्वमन्तरेणापि कार्यत्वमुपलभ्यत इत्यप्रयोजकत्वं वा। व्यो० पृ० 30 ।

3- चार्वाकस्तावद् वेदरचनाया रचनान्तर विलक्षणाया अपि कार्यत्वमभ्युपगच्छति यः स कथं पृथ्व्यादिरचनायाः कार्यत्वमपह्नुवीत ? न्या०म०भाग । पृ० 272

खण्डन नहीं कर सकते क्योंकि वह ऐसा स्वीकार करते हैं कि अवयवस्वरूप तन्तुओं के संयोग से पट की उत्पत्ति एवं उन अवयवों के संयोगनाश से अथवा तन्तुओं के नाश से पट का नाश होता है । इसी तरह से अवयव संयोग के नाश से पृथिव्यादि का भी नाश सम्भव है, क्योंकि यह देखा जाता है कि जलधारा से पर्वत का एक भाग पतित होता है, उसी तरह से यह पूरा जगत् विनाशशील है । अतएव उत्पत्ति और विनाश के सम्भव होने से क्षित्यादि में कार्यत्व का निषेध नहीं किया जा सकता ।[1] इसी प्रकार शाक्य भी क्षित्यादि में कार्यत्व का निषेध कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि वे लोग हँसी मजाक में भी किसी नित्य पदार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार करते । अतएव सभी वादियों के द्वारा पृथिव्यादि का कार्यत्व स्वीकार करना सिद्ध है ।[2] माधवाचार्य का कहना है कि क्षित्यादि में कार्यत्व असिद्ध नहीं है क्योंकि सावयव हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि अच्छी तरह से की जा सकती है ।[3] उनका यह भी कहना है

1- मीमांसकोऽपि न कार्यत्वमपह्नोतुमर्हति, यत एवमाह येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां रूपमुपलभ्यते तन्तुव्यतिषक्तजनितोऽयं पटस्तद्व्यतिषङ्गविमोचनात् तन्तुविनाशाद्वा नङ्क्ष्यतीति कल्प्यते इति । एवमवयवसंयोगनिर्वर्त्यमानवपुषः क्षितिधरादेरपि नाशसम्प्रत्ययः सम्भवत्येव । दृश्यते च क्वचिद्विनाश प्रतीतिः प्रावृषेण्यजलधरधारासारनिर्लुठित एव पर्वतैक देशे पर्वतस्य खण्डः पतित इति---तस्मात् विनाशित्वेनापि कार्यत्वानुमानात् तन्मतेऽपि न कार्यत्वमसिद्धम् ।

न्या०म०भाग-।पृ०272-73

2- शाक्योऽपि कार्यत्वस्य कथमसिद्धतामभिदधीत येन नित्यो नाम पदार्थः प्रलयकेलिष्वपि न विषह्यते ? तस्मात् सर्ववादिभिरप्रणोद्यं पृथिव्यादेः कार्यत्वम् । अथवा सन्निवेशविशिष्टत्वमेव हेतुमभिदध्महे यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने सर्वापलापलम्पटा अपि न केचन विप्रतिपत्तुमुत्सहन्ते ।तस्मान्नासिद्धो हेतुः ।

न्या०म०भाग । पृ०273

3- न चायमसिद्धो हेतुः ।सावयवत्वेन तस्य सुसाधनत्वात् ।

स०द०सं०अक्षपाद दर्शन पृ०430

कि निम्न कोटि के महत्त्व के द्वारा भी क्षित्यादि के कार्यत्व को अनुमान के द्वारा सिद्ध करना सरल है[1] जिसका अभिप्राय यह है कि पर्वत सागर आदि कार्य हैं क्योंकि इनमें अवान्तर महत्त्व है जैसे कि घटादि । उत्पत्तिधर्मक कार्यों का विनाश्यत्व एवं उनका कार्यत्व मीमांसाभाष्यकार को भी अभिमत है ।[2] इस प्रकार से नैयायिकों ने प्रतिपक्षियों के द्वारा कल्पित क्षित्यादि के अकार्यत्व का खण्डन कर दिया । अतः पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत "क्षित्यङ्कुरादिकम् अकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्" यह अनुमानवाक्य "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" इस अनुमान वाक्य को दूषित नहीं कर सकता ।

पञ्चम युक्ति का खण्डन -

नैयायिकाभिमत कार्यत्वहेतुक अनुमान वाक्य में पूर्वपक्षियों ने शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा क्षित्यादि पक्ष में अकर्तृकत्व का साधन करके ईश्वरविषयक मान्यता को जो चुनौती दी है वह भी ठीक नहीं है । पूर्वपक्षियों के मत के निषेधार्थ उदयनाचार्य का कहना है कि क्षित्यङ्कुरादि पक्ष में शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा पूर्वपक्षी "क्षित्यङ्कुरादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत्" इस अनुमान वाक्य से नैयायिकों के

1- अवान्तर महत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात् ।
स०द०सं०अक्षपाद दर्शनम् पृ०430

2- येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिद नित्यता गम्यते, येषां विनाशकारणमुपलक्ष्यते, यथाभिनवं पटं दृष्ट्वा न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान् अथवा नित्यत्वमस्याऽध्यवस्यति रूपमेव हि दृष्ट्वा। तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयं तद्व्यतिषङ्गविमोचनात् तन्तुविनाशाद्वा विनङ्क्ष्यतीत्यवगच्छन्ति । शा०भा०1/1/6/2। पृ0/08

ईश्वरानुमान विघटक कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकते क्योंकि शरीराजन्यत्व हेतु में शरीरांश के व्यर्थ होने से अतएव व्यर्थविशेषणघटित शरीराजन्यत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास के होने से वह कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता ।[1] उन्होंने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि उक्त प्रतिपक्षी अनुमान के शरीराजन्यत्व हेतु में शरीर विशेषण असमर्थ है । अतः शरीराजन्यत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है ।[2] कारण कि हेतु में किसी भी विशेषण देने का प्रयोजन है व्यभिचार का वारण । किन्तु यहाँ का शरीर रूप विशेषण व्यभिचार निवारक न होने से व्याप्यत्वासिद्ध के अन्तर्गत आ जाता है । हरिदासभट्टाचार्य ने भी कहा है कि "शरीराजन्य होने से क्षित्यादि सकर्तृक नहीं है" इस प्रकार का अनुमान प्रस्तुत कर प्रतिपक्षी ने जो सत्प्रतिपक्ष दोष दिया है, वह प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष प्रयोजक "शरीराजन्यत्व" इस हेतु में शरीरांश के व्यर्थ होने से व्याप्यत्वासिद्ध प्रसक्त होने लगता है और यह प्रतिपक्षी का अनुमान कार्यत्व हेतु से दुर्बल हो जाता है ।[3] न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि जिस कार्य का कर्ता शरीरी पुरुष होता है उस कर्ता के शरीर में प्रत्यक्ष की योग्यता रहने के कारण उसके कार्यों में भी कर्तृजन्यत्व की प्रतीति होती है । किन्तु प्रस्तुत भूतादि के सृष्टि कर्ता महेश्वर में शरीराभाव होने से ईश्वररूप कर्तृजन्य अङ्कुरादि कार्यों में कर्तृजन्यत्व की प्रतीति नहीं होती है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अङ्कुरादि

1- असत्यां तु न प्रसङ्गः । न्या०कु०पृ०485

2- पञ्चमे त्वसमर्थविशेषणत्वम् । वही पृ० 485

3- न असमर्थविशेषणत्वेनासिद्धमिदं स्यात्तुल्यबलत्वात्। आ०त०वि०पृ०387

4- क्षित्यादिकं न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् इति प्रतिबन्धकः सत्प्रतिपक्षहेतोः शरीरांश-वैयर्थ्यात् व्याप्यत्वासिद्धया दुर्बलत्वात् । विवृति पृ० 177

कार्यों में कर्तृजन्यत्व है ही नहीं ।[1] माधवाचार्य ने कहा है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि क्षित्यादि का कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि यह शरीर से उत्पन्न नहीं होते-जैसे आकाश-यह प्रतिद्वन्द्वी हेतु परीक्षा के योग्य नहीं दिखाई पड़ता । जैसे हिरण का बच्चा प्रौढ सिंह का प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता । उनका कहना है कि क्षित्यादि के अकर्तृकत्व साधन के लिए अजन्यत्व हेतु ही पर्याप्त है उसमें शरीरांश विशेषण व्यर्थ ही लगाया गया है ।[2] न्यायमन्जरीकार ने कहा है कि कर्म के बिना संसार का वैचित्र्य सम्भव नहीं है । अतः अदृश्य मान कर्म भी कारण रूप में कल्पित होते हैं । अतएव यहाँ यदि इस प्रकार चेतनानाधिष्ठित अचेतनकारकों से कार्योत्पादन की अनुपपत्ति होने से उसके चेतन कर्ता की कल्पना की जाती है । अतः स्थावरों में तादृश अकर्तृकत्व के अभाव होने से नैयायिकों के कार्यत्व हेतु में विपक्षता न होने से व्यभिचार नहीं है ।[3] अतः ईश्वर में शरीर के बाध से जो क्षित्यंकुरादि में शरीरकर्तृकत्व के न रहने से ईश्वरजन्यत्व का बाध दिखाया गया है वह प्रकृत में सम्भव नहीं है ।

1- अशरीरत्वेनाभ्युपेतस्य कर्तुः स्वरूपविप्रकर्षेणाप्यङ्कुरादिष्वनुपलम्भसम्भवान्न तेन निरूपाधिप्रवृत्तस्य भूयोदर्शनस्य सामर्थ्यमुपहन्यत इति समानम् ।

न्या०क० पृ० 135

2- नैतत्परीक्षामर्हति । नहि कठोरकण्ठीरवस्य कुरङ्गशावः प्रतिभटो भवति । अजन्यत्वस्यैव समर्थत्वाच्छरीरविशेषणवैयर्थ्याच्च ।

स०द०सं० अक्षपाददर्शनम् पृ० 432

3- अथ जगद्वैचित्र्यं कर्मव्यतिरेकेण न घटते इति कर्मणामदृश्यमानामपि कारणत्वं कल्प्यते । तत्र यद्येवमचेतनेभ्यः कारकेभ्यश्चेतनानाधिष्ठितेभ्यः कार्योत्पादानुपपत्तेः कर्तापि चेतनस्तेषामधिष्ठाता कल्प्यताम् । तस्मात् स्थावराणामकर्तृकत्वाभावान्न विपक्षता इति तैर्व्यभिचारः ।

न्या०म० भाग । पृ० 276

<u>ॐ आक्षेप का खण्डन -</u>

उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत ॐ दोष का भी निवारण करते हुये कहा है कि नैयायिकों का यह मत कि "यद्यत् कार्यं तत्-तत् सकर्तृकम्" यह व्याप्ति पूर्वपक्षियों के "यद्यत् शरीराजन्यं तत्-तदकर्तृकम्" व्याप्ति से बाधित नहीं हो सकती है क्योंकि दोनों ही व्याप्तियाँ बराबर बल की हैं। जिस प्रकार से कार्यत्व की व्याप्ति सकर्तृकत्व से है उसी प्रकार से अकर्तृकत्व की व्याप्ति शरीराजन्यत्व से है। अतएव जब तक कि शरीराजन्यत्वहेतुक अकर्तृकत्व के साधन में कार्यत्व हेतुक सकर्तृकत्व के साधन से किसी विशेष का ग्रहण नहीं होगा तब तक अकर्तृकत्व साधक शरीराजन्यत्व हेतु सकर्तृकत्व साधक कार्यत्व हेतु को बाधित नहीं कर सकता है। सकर्तृकत्व और अकर्तृकत्व दोनों साध्यों की व्याप्तियाँ उनके अपने-अपने दोनों हेतुओं में समानरूप से हैं तो फिर एक साध्य की अनुमिति से दूसरी अनुमिति बाधित कैसे हो सकती है ?

उदयनाचार्य का यह भी कहना है कि ईश्वरानुमान में नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये कार्यत्वहेतुक अनुमान वाक्य में पूर्वपक्षी शरीराजन्य हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष का भी उद्भावन नहीं कर सकते क्योंकि उनके "यत्-यत् शरीराजन्यं तत्-तत् अकर्तृकं" में "यत्-यत् कार्यं तत्-तत् सकर्तृकम्" इस व्याप्ति से कोई विशेष गृहीत नहीं है। जब कि कार्यत्वहेतु ही शरीराजन्य हेतु से बलवत्तर है क्योंकि उक्त दोनों

1- अन्यथाऽपि नागृह्यमाणविशेषया व्याप्त्या बाधः।

न्या०कु०प्र० 485

व्याप्तियों में समानता रहते हुए भी शरीराजन्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्ष में रहना अनिश्चित होने से इस अनुमान वाक्य में पक्षधर्मतारूप बल संदिग्ध है, एवं कार्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्ष में रहना निश्चित होने से इस हेतु में पक्षधर्मता रूप बल भी निश्चित है ।[1] इस प्रकार से शरीराजन्यत्व हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दो बलों में से केवल व्याप्ति रूपबल ही है जब कि कार्यत्व हेतु में व्याप्ति एवं पक्षधर्मता दोनों बल निश्चित हैं । अतएव शरीराजन्यत्व हेतु और कार्यत्व हेतु इन दोनों के असमान बल के होने के कारण सत्प्रतिपक्षत्व संभव नहीं है, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष वहीं पर होता है जहाँ पर दोनों हेतु समान बल के होते हैं । यहाँ पर शरीराजन्यत्व हेतु कार्यत्व हेतु से न्यूनबल वाला होने से वह कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता है । अतएव क्षित्यादि का कर्ता अशरीरी परमेश्वर के होने पर भी पूर्वपक्षी शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित करके ईश्वरानुमान का खण्डन नहीं कर सकते ।

यदि यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कहें कि कर्त्रजन्यत्व के साधक हेतु शरीराजन्यत्व को सकर्तृकत्वसाधक कार्यत्व हेतु से हीन बल का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार सकर्तृकत्व साधक कार्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्ष में रहना निश्चित है, उसी प्रकार कर्त्रजन्यत्वसाधक शरीराजन्यत्व हेतु का भी क्षित्यादि में रहना निश्चित है । शरीराजन्यत्व हेतु का क्षित्यादि पक्ष में निश्चय संभव है क्योंकि

1- न चागृह्यमाण विशेषव्याप्त्या गृह्यमाणविशेषायाः सत्प्रतिपक्षत्वम् ।
अस्ति च कार्यत्वव्याप्तेः पक्षधर्मतापरिग्रहो विशेषः ।

न्या० कु० ५० १०485

जो कार्य शरीरजन्य होता है वह बुद्धिमज्जन्य भी होता है । अतएव इस व्याप्ति के आधार पर यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस कार्य के उत्पादन में शरीरापेक्षा नहीं है तदुत्पत्यर्थ बुद्धिमज्जन्यत्व की भी अपेक्षा नहीं होगी । अतएव जिस प्रकार से क्षित्यादि पक्ष के अवयवत्व हेतु से कार्यत्वरूप पक्षधर्मता का निश्चय "क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्" इस अनुमान से संभव होता है उसी प्रकार क्षित्यादि पक्ष में शरीराजन्यत्व रूप पक्षधर्मता का भी निश्चय "क्षित्यादिकं शरीराजन्यं बुद्धिमदजन्यत्वात्" इस अनुमान वाक्य से अनुमित होता है । अतः क्षित्यादि पक्ष के कार्यत्व स्वरूप पक्षधर्मता के समान "शरीराजन्यत्व" रूप पक्षधर्मता का भी निश्चय हो जाने से दोनों अनुमान वाक्य बराबर बल के हैं । अतएव शरीराजन्यत्व हेतुक अनुमान के द्वारा कार्यत्व हेतुक अनुमान को सत्प्रतिपक्षित किया जा सकता है। परन्तु पूर्वपक्षियों का ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि क्षित्यादि पक्ष में शरीराजन्य रूप हेतु के रहने से पक्षधर्मता का तो निश्चय हो जाता है परन्तु फिर भी शरीराजन्य हेतु के द्वारा कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्तृजन्यत्व के साधक शरीराजन्यत्व की कर्तृजन्यत्व के साथ अन्वयव्याप्ति अथवा व्यतिरेक व्याप्ति में से किसी भी व्याप्ति का बनना असम्भव है । चूंकि शरीराजन्यत्व हेतु गगनरूप सपक्ष में भी उपलब्ध है । अतएव यह शरीराजन्यत्व हेतु केवलव्यतिरेकी नहीं हो सकता । केवल व्यतिरेकी हेतु वहीं होता है जहाँ पर साध्य का कोई सपक्ष न हो । परन्तु यहाँ पर कर्तृजन्यत्व का सपक्ष गगन निश्चित है जहाँ पर शरीराजन्यत्व की उपलब्धि होती है । अतः "क्षित्यादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वात्" इस अनुमानवाक्य में व्यतिरेक व्याप्ति का अभाव सिद्ध है ।

इसी तरह से शरीराजन्यत्व हेतु में कर्त्रजन्यत्व रूप साध्य की अन्वय व्याप्ति का भी अभाव है क्योंकि अकर्तृकत्व की व्याप्ति केवल अजन्यत्व में ही है शरीराजन्यत्व में नहीं है । अतएव शरीराजन्यत्व हेतु में शरीरांश के व्यर्थ होने से उसकी कर्त्रजन्यत्व के साथ व्याप्ति नहीं है । अतएव शरीराजन्यत्व में कर्त्रजन्यत्व की अन्वय व्याप्ति अथवा व्यतिरेक व्याप्ति इन दोनों में से किसी के न होने से केवल पक्षधर्मतारूप साम्य के आधार पर उससे कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्याप्ति से युक्त जो पक्षधर्मता होती है वही अनुमिति के लिए उपयोगिनी होती है, न कि व्याप्ति से रहित पक्षधर्मता।[1] अतः क्षित्यंकुरादि पक्ष के वर्तमान होने पर भी शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वरानुमान का कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता ।

1- न, गगनादेः सपक्षभागस्यापि सम्भवात्, केवलव्यतिरेकित्वानुपपत्तेः । अन्वये तु विशेषणासामर्थ्यात् । हेतुव्यावृत्तिमात्रमेव हि तत्र कर्तृव्यावृत्तिव्याप्तम्, न तु शरीररूपहेतुव्यावृत्तिरित्युक्तम् । व्याप्तस्य च पक्षधर्म उपयुज्यते, न त्वन्योऽतिप्रसङ्गात् ।

न्या०कुसु० पृ० 486

प्रकारान्तर से कार्यत्व हेतु में सत्प्रतिपक्ष की स्थापना - पूर्वपक्ष

पूर्वपक्षियों का कहना है कि शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा नैयायिकों का ईश्वरानुमान साधक कार्यत्व हेतु भले ही सत्प्रतिपक्षित न हो परन्तु "तद्व्यापक रहितत्व" हेतु के आधार पर वह कार्यत्व हेतु भले ही सीधे-सीधे न सही परन्तु प्रकारान्तर से सत्प्रतिपक्षित हो जाता है, क्योंकि कर्तृजन्यत्व और शरीरजन्यत्व में व्याप्य-व्यापक भाव है । "यद्-यद् कर्तृजन्यम् तद-तद शरीरजन्यमपि" इस व्याप्ति में शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्व का व्यापक है । लोक में यह सिद्ध है कि व्यापकाभाव में व्याप्याभाव भी रहता है । अतएव यह सुस्पष्ट है कि क्षित्यंकुरादि में शरीर-जन्यत्वाभाव रूप व्यापकाभाव के होने से उसमें कर्तृजन्यत्वाभावरूप व्याप्याभाव भी अवश्य रहेगा । अतः इस आधार पर अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि "क्षित्यंकुरादिकम् अकर्तृकं शरीरजन्यत्वाभावरूप व्यापकाभावात् आकाशादिवत्"। अतएव इस प्रकार से सामान्यमुखी व्याप्ति के माध्यम से शरीराजन्यत्वरूप प्रतिहेतु के द्वारा कार्यत्व हेतुक ईश्वरानुमान को सत्प्रतिपक्षित किया जा सकता है ।

नैयायिकों द्वारा उपर्युक्त तर्क का खण्डन -

उपर्युक्त तर्क के खण्डन में उदयनाचार्य ने कहा है कि पूर्वपक्षियों के द्वारा उपन्यस्त उपरोक्त तर्क भी सुसंगत नहीं है क्योंकि शरीरजन्यत्व में कर्तृजन्यत्व की व्यापकता आकाश में व्यभिचरित है । आकाशादि में जो अकर्तृकत्व उपलब्ध होता है वह उसके अजन्यत्व के ही कारण है, न कि शरीराजन्यत्व के कारण । अतः आकाशादि में शरीराजन्यत्व एवं अकर्तृकत्व इन दोनों की नियमतः एकत्र स्थिति

के प्रयोजक के रूप में उसके अजन्यत्व को ही स्वीकार किया जा सकता है । आकाश चूंकि सर्वथा अजन्य है, इसी लिए वह अकर्तृक है । वह शरीराजन्य है, इसलिए अकर्तृक नहीं है । इसलिए शरीरजन्यत्व और कर्तृजन्यत्व में व्याप्य-व्यापकभाव ही नहीं है क्योंकि व्याप्य-व्यापकभाव वहीं होता है जहाँ पर कोई व्यभिचार न हो। परन्तु आकाश में कर्तृजन्यत्व का अभाव तो है परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि वहाँ पर कर्तृजन्यत्व का अभाव शरीराजन्यत्व के ही कारण है । अतः इस तर्क के आधार पर भी कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता ।

कार्यत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास की परिकल्पना-पूर्वपक्ष

पूर्वपक्षियों का कहना है कि चूंकि शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही कृति की उत्पत्ति होती है । अतएव जो कृतिजन्य होगा वह शरीरजन्य भी होगा । परन्तु लोक में कार्य द्विकोटिक देखे जाते हैं । एक तो क्षित्यंकुरादि जो कि शरीर-जन्य नहीं है, और दूसरे घटादि जो कि शरीरजन्य है । अतएव यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कर्तृजन्यत्व की व्याप्ति दोनों प्रकार के कार्यों में न होकर केवल शरीरजन्य कार्यों के ही साथ है । अतः प्रकृत कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्व उपाधि है,

---

1- एतेन तदव्यापकरहितत्वादिति सामान्योपसंहारस्यासिद्धत्वं वेदितव्यम् । न हि यद्व्यावृत्तिर्यदभावेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपसंहर्तुमशक्या, तत् तस्य व्यापकं नामेति ।

न्या० कुसु० पृ० 486

क्योंकि शरीरजन्यत्व की व्यापकता साध्यस्वरूप कर्तृजन्यत्व में तो है, परन्तु उसकी कार्यत्व हेतु में अव्यापकता है क्योंकि क्षित्यादि कार्य में कार्यत्व के होने पर भी शरीरजन्यत्व नहीं है । अतएव नैयायिकों का कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्व उपाधि होने से वह व्याप्यत्वासिद्ध दोष से दूषित है, अतः उसके आधार पर ईश्वरानुमान उपयुक्त नहीं है ।

<u>व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास का नैयायिकों द्वारा निरास</u> -

व्याप्यत्वासिद्ध के खण्डन में उदयनाचार्य का कहना है कि घटादि कार्यों के साथ शरीरजन्यत्व की व्याप्ति होने के साथ-साथ उसकी व्याप्ति कार्यत्व-रूप सामान्य धर्म के साथ भी है । क्योंकि जिन दो विशेष धर्मों में व्याप्य-व्यापक भाव होता है उन दोनों के सामान्य धर्मों में भी व्याप्य-व्यापक भाव होता है । यदि आप लोग इस नियम को स्वीकार नहीं करेंगे तो जो धूम सामान्य से अग्नि-सामान्य की अनुमिति होती है उसकी सत्ता ही संसार से उठ जायेगी, क्योंकि वह्नि-जन्य जितने भी धूम देखे जाते हैं उन सबकी विशेष-विशेष सुगन्ध, कटुत्व एवं नीलिमादि रूपों के होने के कारण उनकी उत्पत्ति भी तद्-तद् प्रकारक वह्निविशेष से ही स्वीकार करनी पड़ेगी । इस स्थिति में धूमसामान्य और वह्निसामान्य की जो व्याप्ति बनती थी वह व्याप्ति नहीं बन पायेगी क्योंकि तद्-तद् प्रकारक धूमों की व्याप्ति तद्-तद् प्रकारक वह्नियों में ही सम्भव हो सकती है । अतः धूमसामान्य के आधार पर वह्नि सामान्य का अनुमान करना अनुपपन्न हो जायेगा । अतः यही स्वीकार करना होगा कि वह्निसामान्य ही धूमसामान्य का कारण है । लेकिन जहाँ पर

वह्नि सामान्य में गुग्गुलादि विशेष कारणों का सान्निध्य हो जाता है वहाँ पर विशेष कारणों से युक्त सामान्य कारण से ही सुगन्धत्व, कटुत्व एवं नीलिमादि रूपों से युक्त विशेष धूमों की उत्पत्ति होने लगती है ।[1] अतः जिस प्रकार से अग्नि सामान्य धूम सामान्य का कारण होने से धूमसामान्य में अग्निसामान्य की व्याप्ति स्वीकृत की जाती है, उसी प्रकार कर्तृजन्यत्व की व्याप्ति भी सामान्य कार्यत्व में है न कि केवल घटादि विशेष कार्यों में ही । अतएव विशेष प्रकार के कार्य-कारण में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध के होने पर भी इससे कार्यसामान्य एवं कारणसामान्य में जो व्याप्ति है उसका विघटन नहीं किया जा सकता । लोक में ऐसे और भी अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं जिनमें सामान्य कारण से सामान्य कार्य उत्पन्न होते हैं, एवं उसी सामान्य कारण में ही विशेष कारणों के संकलन से विशेषप्रकारक कार्यों की उत्पत्ति होती है । जैसे कि बीज सामान्य से अङ्कुर-सामान्य की उत्पत्ति होती है, एवं धान्यविशेष के बीज से धान्यांकुर विशेषकी एवं शालिविशेष के बीज से शाल्यांकुरविशेष कार्य की उत्पत्ति होती है या शालिविशेष के कलम से कलमांकुर विशेष की उत्पत्ति होती है । अतः विशेष कार्य-कारणभाव के रहते सामान्य कार्यकारणभाव में कोई बाधा नहीं है ।[2] अतः

1- न हि विशेषोऽस्तीति सामान्यमप्रयोजकम् । तथा सति सौरभकटुत्वनीलिमाऽऽदि विशेषे सति न धूमसामान्यमग्निं गमयेत् । किं नाम साधकसामान्ये साध्यसामान्यमाश्रित्य प्रवर्तमाने तद्विशेषः साध्यविशेषव्याप्तिमाश्रयेत् ।
न्या०कु०पृ०490

2- न, कार्यविशेषः कारणविशेषे व्यवतिष्ठते, न तु कार्यकारणसामान्ययोः प्रतिबन्धमन्यथा कुर्यादिति। किं न दृष्टं कार्ये कारणमात्रे अङ्कुरो बीजे तद्विशेषो धान्ये तद्विशेषः शालौ तद्विशेषः कलमे इत्यादि बहुलं लोके ।
न्या०कु०पृ०492

घटादि विशेष कार्यों में शरीरजन्यत्व के देखे जाने पर भी कार्यत्वसमान्य में भी कर्तृकत्व सामान्य का निरास नहीं किया जा सकता । अतः "यद्-यद् कार्यं तद्-तद् सकर्तृकम्" इस सामान्य व्याप्ति के अक्षय होने से कार्यत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास का प्रदर्शन अनुपयुक्त है ।

कार्यत्व हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति के अभाव की आशङ्का

अब पूर्वपक्षी नैयायिकों के ईश्वरसाधक अनुमान "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" में व्यतिरेकाभाव दिखाकर उसे दोषयुक्त सिद्ध करना चाहते हैं । उनका कहना है कि चूँकि यह कार्यत्व हेतु अन्वय व्यतिरेकी है, अतएव हेतुप्रयुक्त साध्य सकर्तृकत्व की सत्ता सपक्ष में एवं हेतुप्रयुक्त साध्याभाव की सत्ता विपक्ष में निश्चित होना आवश्यक है । परन्तु सकर्तृकत्व की सत्ता सपक्ष स्वरूप घटादि में निर्णीत होने के कारण कार्यत्व और सकर्तृकत्व की अन्वय व्याप्ति तो बन जाती है, परन्तु इन दोनों की व्यतिरेक व्याप्ति बनना असम्भव है । गगनादि में कर्तृकत्वाभाव निश्चित नहीं है । गगनादि में भी कार्यत्वाभाव तो निश्चित है, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि उस कार्यत्वाभाव का प्रयोजक कर्तृकत्वाभाव है अथवा उसमें कारणमात्र की ही व्यावृत्ति है । इस प्रकार से सन्देह के रहते हुए गगनरूप विपक्ष में कार्यत्वरूप हेतु की व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन पाती है जिससे कार्यत्व हेतु व्यतिरेकाभाव में दूषित हो जाता है । अतः उससे ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती ।

व्यतिरेकाभाव का निरास -

इस व्यतिरेक व्याप्ति के निराकरण के लिए उदयनाचार्य का कहना है कि यदि गगनादि में कार्यत्वाभाव का प्रयोजक सकर्तृकत्वाभाव है तब तो व्यतिरेक

व्याप्ति बनने में कोई दोष ही नहीं होगा । साथ ही यदि हम उसमें कार्यत्वाभाव का प्रयोजक सकर्तृकत्वाभाव को न मानकर थोड़ी देर के लिए सामान्यकारणाभाव को ही स्वीकार कर लें तो भी व्यतिरेक व्याप्ति बनने में कोई अनौचित्य नहीं है क्योंकि कर्ता भी उसी कारणसामग्री के ही अन्तर्गत आता है । यदि गगन में कार्यत्वाभाव का प्रयोजक सामान्य कारणाभाव को स्वीकार करेंगे तो तीन तरह के सन्देह हो सकते हैं -

{1} गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव उपादानकारणाभाव प्रयोज्य है ? अथवा {2} गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव असमवायिकारणाभावप्रयोज्य है ? अथवा {3} गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव निमित्तकारणाभावप्रयोज्य है ? क्योंकि कार्यत्व में प्रत्येक कारण ही व्याप्ति होने के कारण कार्यत्वाभाव की प्रयोजकता प्रत्येक कारण के अभाव में स्वीकार करनी ही होगी । अतः कारणाभावरूप व्यापकाभाव में गगन में अकार्यत्व की प्रयोजकता मानने पर व्याप्याभावस्वरूप उपादानादि में भी उसकी प्रयोजकता स्वीकार्य होगी । अतः प्रत्येक कारण का अभाव कार्य के उत्पन्न न होने के प्रति अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप से प्रयोजक है। चूँकि कारणों के परिगणन में निमित्तकारणरूप कर्ता भी है, क्योंकि घटादि कार्यों के प्रति तन्तु प्रभृति अन्य कारणों के समान कुविन्दादि कर्ताओं में भी अन्वय-व्यतिरेक दोनों है । अतः कार्यत्व सामान्याभाव का प्रयोजक कर्त्रभाव भी हो सकता है ।[1] इसलिए गगननिष्ठ कार्यत्वाभाव को कर्त्रभाव प्रयोज्य मानने में कोई

1- तदसत् । कर्तुरपि कारणत्वात् । कारणेषु चान्यतमव्यतिरेकस्यापि कार्यानुत्पत्तिं प्रति प्रयोजकत्वात् । अन्यथा कारणत्वव्याघातात्, कारणादिकोऽभव्यतिरेकसन्देह-प्रसङ्गाच्च । कथं हि निरचीयते किमाकाशात् कारणव्यावृत्त्या कार्यत्वव्यावृत्तिः उत करणव्यावृत्त्या ? एवं किमुपादानव्यावृत्त्या, किमसमवायिव्यावृत्त्या किं निमित्तव्यावृत्त्येति । न्या0कु0प्र0492-93

आधा नहीं है । अतः कार्यत्व हेतु में सकर्तृकत्व रूप साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति भी है । अतएव उक्त आक्षेप असङ्गत है ।

ईश्वरसाधक अनुमान में पूर्वपक्षियों द्वारा पुनः प्रकारान्तर से आक्षेप

पूर्वपक्षी नैयायिकों से यह भी कह सकते हैं कि चूंकि कार्य के सभी कारणों का अधिष्ठाता ही कर्ता होता है क्योंकि कर्ता की ही बुद्धि एवं प्रयत्न से ही अन्य सभी कारण संचालित होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं । कर्ता में कारणों का अधिष्ठातृत्व दो ही प्रकार का देखा जाता है -

(1) प्रयत्नवदात्मसंयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा क्रिया को उत्पन्न करने वाला कर्ता उन समस्त कारणों का साक्षात् अधिष्ठाता होता है, जिस प्रकार स्वशरीर का अधिष्ठाता अपनी आत्मा है । क्योंकि शरीर में जो चेष्टारूपा क्रिया उत्पन्न होती है, उसका कारण प्रयत्नवदात्मसंयोग है ।

(2) दूसरे प्रकार का अधिष्ठातृत्व परम्परया सिद्ध होता है । इस प्रकार के अधिष्ठातृत्व में शारीरिक क्रिया के साहाय्य से कर्ता क्रिया का कारण होता है, जैसे कि घटादि कारणों का अधिष्ठाता कुम्भकार होता है जो शरीर के माध्यम से ही घटादि के समवायिकारणों का अधिष्ठातृत्व करता है ।

परन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार के अधिष्ठातृत्व में से किसी प्रकार का भी क्षित्यादि के प्रति ईश्वर का अधिष्ठातृत्व संभव नहीं है । ईश्वर में शरीराभाव के कारण पृथिव्यादि के प्रति परम्परया अधिष्ठातृत्व तो संभव ही नहीं है क्योंकि परमाणुगत क्रियाके उत्पादन में ईश्वर किसी शरीर का साहाय्य ग्रहण नहीं करता है,

जब कि परम्परया अधिष्ठातृत्व के लिए मध्य में किसी शरीर का रहना आवश्यक है। जैसे कि दण्डादि में तब तक कोई भी कार्यानुकूल क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, जब तक कि कुलालादि के शरीर का साहाय्य उसे प्राप्त नहीं होता। अतः चेतन के जितने भी परम्परया अधिष्ठेय होते हैं वे सभी स्वगत कार्यानुकूल क्रियाजनन में किसी शरीर की अपेक्षा अवश्य रखते हैं।[1] अतः ईश्वर में परमाणुओं का परम्परया अधिष्ठातृत्व संभव नहीं है। ईश्वर में परम्परया अधिष्ठातृत्व तभी संभव हो सकता है जब कि कोई शरीरादि साक्षात् अधिष्ठेय हो।[2]

ईश्वर में क्षित्यादि के प्रति प्रथम प्रकार का भी अधिष्ठातृत्व संभव नहीं है क्योंकि ऐसा अधिष्ठातृत्व स्वीकार करने पर परमाणुओं में शरीरत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा।[3] लेकिन परमाणुओं के शरीरस्वरूप न होने से वे किसी चेतन अधिष्ठाता के साक्षात् अधिष्ठेय नहीं हो सकते, क्योंकि शरीरेतर वस्तुओं में चेतन अधिष्ठाता का साक्षादधिष्ठेयत्व संभव नहीं है।[4] जिस प्रकार कि दण्डादि किसी

1- नापि परम्परया अधिष्ठेयाः, स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात्, स्वचेष्टायामस्मच्छरीरवत्। व्यतिरेकेण वा दण्डाद्युदाहरणम्। न्या०कु० पृ० 493

2- न द्वितीयः द्वाराभावात्। न हि कस्यचित् साक्षादधिष्ठेयस्याऽभावे परम्परया अधिष्ठानं सम्भवति। वही पृ० 493

3- तत्र न पूर्वः परमाण्वादीनां शरीरत्व प्रसङ्गात्।

वही पृ० 493

4- तदयं प्रमाणार्थः -परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः, शरीरेतरत्वात्। यत्पुनः साक्षादधिष्ठेयं न तदेवं, यथाऽस्मच्छरीरमिति।

न्या०कु० पृ० 493

अधिष्ठाता के साक्षादधिष्ठेय नहीं है । अतएव परमाणुओं में चेतन अधिष्ठाता का साक्षादधिष्ठेयत्व निवृत्त हो जाने पर परमाणुओं के सर्गादिकालिक क्रियाओं में ईश्वरकर्तृत्व की सिद्धि अवरुद्ध हो जायेगी । क्योंकि कार्यत्व हेतुक अनुमान से ईश्वर-सिद्धि इसी लिए होती है क्योंकि सभी कार्य सकर्तृक होने के कारण साक्षात्चेतनाधिष्ठित प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं । यदि परमाणुओं में साक्षात्चेतनाधिष्ठेयत्व खण्डित हो जाता है तो परमाणुओं की सर्गादिकालिक क्रियाओं में ईश्वरकर्तृत्व की सिद्धि भी खण्डित हो जायेगी ।

इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि क्षित्यादि चेतनाधिष्ठितहेतुक नहीं है । क्योंकि जितने भी कार्य चेतनाधिष्ठित कारणों से उत्पन्न होते हैं वे सभी शरीरघटित कारणसमुदाय से भी अवश्य ही उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार क्षित्यादि कार्यों की उत्पादिका कारणसामग्री में चेतन अधिष्ठाता की असिद्धि हो जाने पर "क्षित्यादिकं सकर्तृकं " इस अनुमान से ईश्वरसिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि यह ईश्वरसाधक अनुमानवाक्य सत्प्रतिपक्षित हो जाता है । यद्यपि यह सत्प्रतिपक्षोद्भावक "परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरत्वात् 'अनुमान वाक्य सत्प्रतिपक्ष लक्षण के अनुसार सत्प्रतिपक्षोद्भावक नहीं है क्योंकि इस प्रतिपक्षानुमान में सत्प्रतिपक्ष का लक्षण घटित नहीं होता है । फिर भी अतिप्रौढ़ता से ही सही यह ईश्वरसाधक अनुमान के प्रति सत्प्रतिपक्षोद्भावक हो सकता है ।[2]

1- तदयं प्रमाणार्थः - परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः, शरीरेतरत्वात् । यत्पुनः साक्षादधिष्ठेयं न तदेवं, यथा स्वच्छरीरमिति ।

न्या०कु० पृ० 493

उक्त आक्षेप का निराकरण -

उपर्युक्त शङ्का के समाधानार्थ उदयनाचार्य का कहना है कि ईश्वर में क्षित्यादि के उत्पादक कारणों का साक्षादधिष्ठातृत्व ही सम्भव है क्योंकि परमाणुओं की क्रिया के उत्पादन में ईश्वर किसी शरीर का साहाय्य नहीं स्वीकार करता है । परन्तु पूर्वपक्षी उसके साक्षादधिष्ठातृत्व के विषय में "परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरत्वात्" इस अनुमानवाक्य के द्वारा साक्षादधिष्ठातृत्व का खण्डन करके इस अनुमानवाक्य को "क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वात्" इस ईश्वरसाधक अनुमान को सत्प्रतिपक्षित करना चाहते हैं वह सम्भव नहीं है । कारण कि पूर्वपक्षियों ने परमाणुओं में जिस "शरीरत्व" की आपत्ति की है उस शरीरत्व के तीन ही आशय हो सकते हैं- ﴾1﴿ साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितत्व ﴾1﴿ इन्द्रियाश्रयत्व ﴾3﴿ भोगायतनत्व । अतः "परमाण्वादयो न "साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरजन्यत्वात्" इस अनुमान के द्वारा शरीरेतरजन्यत्व हेतु के आधार पर तीन अनुमानवाक्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं-

﴾1﴿ क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात् ।

﴾2﴿ क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वात् ।

﴾3﴿ क्षित्यादिकं न साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयम् अभोगायतनत्वात् ।

1- एवं क्षित्यादि न चेतनाधिष्ठितहेतुकं शरीरेतरहेतुकत्वादित्यपि प्रतिपक्षतया सत्प्रतिपक्षत्वम् ।

न्या०कु०व०494

परन्तु उपर्युक्त तीनों मन्तव्यों के आधार पर भी परमाणुओं में ईश्वर के साक्षाद-धिष्ठेयत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता[1] जैसा कि नीचे प्रदर्शित किया गया है।

साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठितत्व मानने पर साध्यसम दोष -

उदयनाचार्य का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी अपने अनुमान वाक्य "परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेया: शरीरेतरत्वात्" इस अनुमानवाक्य में प्रयुक्त "शरीरत्व" का अर्थ "साक्षादधिष्ठेय" स्वीकार करें तो इस प्रकार के शरीरत्व को परमाणुओं में स्वीकार करना इष्ट ही है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर "परमाण्वादयो न साक्षात्चेतनाधिष्ठेया: शरीरेतरत्वात्" इस प्रतिपक्षानुमान के "शरीरेतरत्वात्" इस हेतुवाक्य की व्याख्या "साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्वात्" होगी। जब साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्व ही शरीरत्व है तो स्वभावतः शरीरेतरत्व साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्व प्रकार का ही होगा। परन्तु पूर्वपक्षियों के इस अनुमान का साध्य भी साक्षात्प्रयत्नानधिष्ठेयत्व ही है क्योंकि "न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेया:" का अर्थ "साक्षात्चेतनानधिष्ठेया:" ही होता है। चूंकि पक्ष में कभी भी साध्य सिद्ध नहीं रहता है इसलिए यहाँ पर साध्य से अभिन्न हेतु भी पक्ष में सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए हेतु साध्यसम होने के कारण पक्षधर्मतारूपबल से रहित हो जायेगा।[2] अतः इस अनुमान से ईश्वर-

---

1- तथाहि-साक्षादधिष्ठातरि साध्ये परमाण्वादीनां शरीरत्वप्रसङ्ग इति किमिदं शरीरत्वं, यत् प्रसज्यते ? यदि साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं तदिष्यत एव। न च ततोऽन्यत् प्रसञ्जकमपि। अर्थेन्द्रियाश्रयत्वं ? तन्न। तदवच्छिन्नप्रयत्नोत्पत्तौ तदवच्छिन्नानन्तरद्वारेणेन्द्रियाणामुपयोगात्।----न च नित्यसर्वज्ञस्य भोगसम्भावनाऽपि। न्या0कु0प्र0494-95

विषयक अनुमान खण्डित नहीं हो सकता ।

इन्द्रियाश्रयत्व मानने पर अन्यथासिद्ध दोष -

यदि पूर्वपक्षी अपने द्वारा प्रस्तुत "परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरत्वात्" अनुमान वाक्य में प्रयुक्त शरीरत्व का अर्थ "इन्द्रियाश्रयत्व" मानें तो उनका तात्पर्य "क्षित्यादिकं न साक्षात् प्रयत्नाधिष्ठेयम् इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वात्" होगा । परन्तु यहाँ पर इन्द्रियाश्रयेतर जन्यत्व हेतु अन्यथासिद्ध होगा ।[1] यद्यपि सभी जन्यज्ञान स्वोत्पत्यर्थ इन्द्रियों की अपेक्षा अवश्य रखते हैं एवं इन्द्रियाँ शरीराश्रित होकर ही ज्ञानों का उत्पादन करती हैं । अतः सभी जन्य ज्ञानों को शरीर की अपेक्षा अवश्य होती है । परन्तु ऐसे सभी शरीराश्रित इन्द्रियजन्य ज्ञान अनित्य ही होते हैं । अतएव इससे केवल यही सिद्ध होता है कि जितने कार्य अनित्यज्ञानजन्य हैं तदुत्पत्यर्थ ही इन्द्रियाश्रय शरीर की अपेक्षा होती है । परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सभी ज्ञानजन्य कार्यों की उत्पत्ति में इन्द्रियाश्रय शरीर की अपेक्षा अवश्य होगी । क्योंकि नित्यज्ञानजन्य कार्योत्पत्ति में इन्द्रियाश्रय शरीर की अपेक्षा नहीं होगी । अतएव क्षित्यादि कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके नित्यज्ञानमूलक होने के कारण इन्द्रियाश्रय शरीर की अपेक्षा न होने से इन्द्रियाश्रयेतर परमाणुओं की अपेक्षा होना उपयुक्त ही है । अतः क्षित्यादि कार्य भी चेतनाधिष्ठित हेतुजन्य हो सकते हैं ।

1- इन्द्रियाश्रयेतरजन्यत्वाद् भोगायतनेतरजन्यत्वाादिति द्वयमप्यन्यथा सिद्धम् ।

न्या०कु०, पृ० 496

3- भोगायतनत्व मानने पर भी अन्यथासिद्ध दोष -

यदि पूर्वपक्षियों के उपरोक्त अनुमान वाक्य में प्रयुक्त शरीरत्व का अभिप्राय "भोगायतनत्व" स्वीकार किया जाय तो उनके अनुमानवाक्य का स्वरूप "क्षित्यादिकं न चेतनाधिष्ठितहेतुकं भोगायतनेतरजन्यत्वात्" इस प्रकार का होगा । परन्तु यहाँ पर "भोगायतनेतरजन्यत्व" हेतु भी अन्यथासिद्ध होगा । जिस प्रकार घटादि कार्य भोगायतनस्वरूप कुलालादि के शरीर से उत्पन्न होते हैं केवल इसलिए चेतनाधिष्ठितहेतुक नहीं है अपितु इस भोगायतनस्वरूप कुलालादि शरीर का उपयोग इसलिए होता है क्योंकि तदुपयुक्त ज्ञान की उत्पत्ति भोगायतनरूप शरीरावच्छेदेन होती है । परन्तु क्षित्यादि के उपादान परमाणुओं का अपरोक्षज्ञानइन्द्रियादि से अनुत्पन्न होने के कारण उस अपरोक्षज्ञान को नित्य ही मानना होगा । अतःउसके लिए भोगायतन शरीर की कोई अपेक्षा नहीं है । किन्तु परमाणुओं के अचेतन होने के कारण वे भी चेतनाधिष्ठित होकर ही क्षित्यादि जैसे कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं । अतः क्षित्यादि कार्य चेतनाधिष्ठितहेतुक होने पर भी भोगायतनस्वरूप शरीरजन्य नहीं हैं । इसलिए चेतनाधिष्ठितत्व के साधन के लिए प्रयुक्त भोगायतनेतरजन्यत्व हेतु अन्यथासिद्ध हो जाता है । क्योंकि क्षित्यादि कार्य भोगायतनेतरजन्य होने पर भी चेतनाधिष्ठितहेतुक भी हैं । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि जितने भी कार्य भोगायतनेतरजन्य हैं वे चेतनाधिष्ठितहेतुक नहीं है । अतः भोगायतनेतरजन्यत्व हेतु के अन्यथासिद्ध होने से यह हेतु ईश्वरानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता ।

<u>शरीरेतरजन्यत्व हेतु में साध्याप्रसिद्धि दोष -</u>

उदयनाचार्य पूर्वपक्षियों के अनुमानवाक्य "क्षित्यादिकं न चेतनाधिष्ठितहेतुकं शरीरेतरजन्यत्वात्" में साध्याप्रसिद्धि दोष की प्रसक्ति कहकर इसको दोषयुक्त सिद्ध करते हैं।[1] उनका कहना है कि पक्षभिन्न कम से कम एक स्थान में सिद्ध वस्तु का ही दूसरे स्थान में अर्थात् पक्ष में साधन किया जाता है। जिस प्रकार कि पर्वतादि पक्ष से भिन्न महानस में सिद्ध अग्नि का ही पर्वतादि पक्ष में अनुमान होता है। परन्तु पूर्वपक्षियों के प्रस्तुत अनुमान वाक्य का साध्य "न चेतनाधिष्ठित हेतुकम्" क्षित्यादि पक्ष से भिन्न कहीं पर भी सिद्ध नहीं है क्योंकि क्षित्यादि पक्ष से भिन्न क्षित्यादि के जितने भी सपक्ष हैं वे सभी "चेतनाधिष्ठितहेतुक" ही है। अतएव पूर्वपक्षी किस कार्यवस्तु में प्रसिद्ध "न चेतनाधिष्ठित" हेतु के आधार पर क्षित्यादि में "चेतननाधिष्ठितहेतुकत्व" की सिद्धि करना चाह रहे हैं। पूर्वपक्षियों का ऐसा प्रयास साध्याप्रसिद्धि दोष से दूषित होने के कारण कार्यत्व हेतु को सत्प्रतिपक्षित नहीं कर सकता। यदि पूर्वपक्षी नञ् का हेरफेर करके इस साध्याप्रसिद्धि दोष से भागने के लिए क्षित्यादि में "चेतनानाधिष्ठितहेतुकत्व" की जगह पर "चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाव" की सिद्धि करना चाहें, तो वे यद्यपि साध्याप्रसिद्धि दोष से तो मुक्त हो जायेंगे क्योंकि अभावरूप साध्य की सिद्धि के लिए उसके प्रतियोगी के प्रसिद्धि की ही आवश्यकता पड़ती है,

---

1- अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः। नहि चेतनानधिष्ठितहेतुकत्वं क्वचित् प्रमाणसिद्धम्।

न्या0कु0प्र0496

और चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाव का प्रतियोगी "चेतनाधिष्ठितहेतुकत्व" की प्रसिद्धि घटादि कार्यों में होती है । परन्तु उनके ऐसा करने पर वे असाधारण हेतु से ग्रसित हो जायेंगे, क्योंकि उनका हेतु शरीरेतरजन्यत्व असाधारण हो जायेगा ।[1] पूर्वपक्षियों का अनुमानवाक्य है "क्षित्यादिकं चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाववत् शरीरेतरजन्यत्वात् ।" चूंकि इस अनुमान वाक्य का सपक्ष अर्थात् दृष्टान्त आकाशादि ही हो सकते हैं क्योंकि आकाशादि के सर्वथा नित्य होने से उसमें जन्यत्व घटित कोई भी हेतु न होने से वह चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाववत् है । परन्तु आकाशादि के सर्वथा अनुत्पन्न होने के कारण उसमें शरीरेतरजन्यत्व रूप हेतु भी नहीं है । परन्तु जिस हेतु का सपक्ष में सर्वथा अभाव रहे वह हेतु असाधारण होने के कारण दूषित होता है अतः उसकी अनुमितिजनन क्षमता खत्म हो जाती है । चूंकि पूर्वपक्षियों के अनुमान वाक्य में भी हेतु "शरीरेतरजन्यत्व" का क्षित्यादि के सपक्ष आकाशादि में सर्वथा अभाव है अतः "शरीरेतरजन्यत्व" हेतु असाधारण हेत्वाभास के अन्तर्गत आ जाता है और फिर वह क्षित्यादि में "चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाव" की सिद्धि करनेमें अक्षम हो जाता है । अतः पूर्वपक्षियों का "क्षित्यादिकं चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वाभाववत् शरीरेतरजन्यत्वात्" यह अनुमान वाक्य भी नैयायिकों के "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" इस ईश्वरानुमान को प्रतिहत नहीं कर सकता ।

1- न च चेतनाधिष्ठितहेतुकत्वनिषेधः साध्यः, हेतोरसाधारण्यप्रसङ्गात् । गगनादेरपि सपक्षाद्व्यावृत्तेः ।

न्या०कु०प्र०496

ईश्वरसत्ता के विषय में पुनः पूर्वपक्ष-

अब पूर्वपक्षी ईश्वरसत्ता के खण्डन के लिए यह कह सकते हैं कि चूंकि पटादि कार्यों के संपादनार्थ कुविन्दादि कारणों की आवश्यकता दो तरह से ही संभव है -

(1) पटादि कार्यों में तन्तु प्रभृति कारणों के अचेतन होने के कारण उनको पट-निर्माणानुकूल व्यापृत करने के लिए चेतन कारण के रूप में ।

(2) तन्तु प्रभृति अचेतन कारकों के समान ही पटाद्युत्पत्ति में कुविन्दादि का भी कारकत्व के रूप में ।

परन्तु यदि ईश्वर की सर्वज्ञता स्वीकार की जायेगी तो कुविन्दादि के कारकत्व को लेकर निम्नलिखित दोष दिये जा सकते हैं ।

1- पटादि के प्रति कुविन्दादि की निरर्थकता की आपत्ति -

ईश्वर के सर्वज्ञ होने के कारण पटादि कार्यों के प्रति कुविन्दादि कर्ताओं की निरर्थकता सिद्ध होती है, क्योंकि ईश्वर के सर्वज्ञता की स्थिति में ईश्वर में ही पटाद्युत्पादक तन्तु प्रभृति कारणों का भी अधिष्ठातृत्व स्वीकार करना पड़ेगा । ऐसा तो हो नहीं सकता कि ईश्वर में क्षित्यंकुरादि के कारण स्वरूप परमाणुओं को क्षित्यंकुरादि के उत्पादनानुकूल व्यापृत करने की सामर्थ्य है, परन्तु उनमें पटादि के उत्पादक तन्तु प्रभृति को पट के उत्पादनानुकूल व्यापृत करने की सामर्थ्य नहीं है । क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर ईश्वर में असर्वज्ञता की प्रसक्ति होने लगेगी । अतएव ईश्वर को सभी कार्यों के कारणों का अधिष्ठाता मानने पर कुविन्दादि में जो पटादि कार्यों

की सर्वसिद्धकारणता है उसका लोप हो जायेगा । सर्वदर्शनसङ्ग्रह में भी एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसके आधार पर ईश्वरातिरिक्त अदृष्ट आदि की निरर्थकता का उल्लेख किया गया है ।[1]

2- अनवस्था दोष की प्रसक्ति -

पूर्वपक्षियों का कहना है कि यदि परमेश्वर से अधिष्ठित रहने पर भी पटादि के कारणसमूह के नियमन के लिए ईश्वरातिरिक्त कुविन्दादि द्वितीय अधिष्ठाता की भी अपेक्षा मानें तो इस प्रकार से अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । कारण कि जिस युक्ति से परमेश्वररूप एक अधिष्ठाता के विद्यमान रहते हुए कुविन्दादि दूसरे अधिष्ठाता की कल्पना न्यायसङ्गत होगी, उसी युक्ति से तृतीयादि अधिष्ठाताओं की भी कल्पना करनी पड़ेगी ।[2]

3- साध्याप्रसिद्ध दोष-

यदि कुविन्दादि की कल्पना पटादि कार्यों के कारक तन्तु वेमादि के समान केवल कारकरूप में ही करें तो साध्याप्रसिद्धि दोष उपस्थित हो जायेगा,

---

1- कर्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः ।
कार्यं किमत्र भवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति ।।

स०द०स०आर्हतदर्शनान्तर्गत पृ० 116 में उद्धृत

2- न पूर्वैः तेषां परमेश्वरेणैवाधिष्ठानात् । न ह्यस्य ज्ञानमिच्छा प्रयत्नो वा वेमादीन् न व्याप्नोतीति सम्भवति । न चाधिष्ठितानामधिष्ठात्रन्तरापेक्षा, तदर्थमेव । तथा सत्यनवस्थानादेवाऽविशेषात् । न्या०कुसु० पृ० 494

क्योंकि उस स्थिति में पटादि कार्यों में जो कुविन्दादि की अपेक्षा है, उसका प्रयोजक कुविन्दादि में रहने वाला अधिष्ठातृत्व अथवा कर्तृत्व नहीं होगा, अपितु पटनिर्माण के प्रति तदपेक्षा केवल उसके कारकमात्र होने के कारण होगी। जिस प्रकार कि पट-निर्माण के प्रति तन्तु प्रभृति कारकों की अपेक्षा पटादि के कारक होने से है। परन्तु ऐसा मानने पर "क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् पटादिवत्" इस अनुमानवाक्य का सकर्तृकत्वरूप साध्य पटादि दृष्टान्तों में न रह सकेगा, क्योंकि कुविन्दादि पटादि कार्यों के अधिष्ठाता न होकर तन्तु प्रभृति के समान एक साधारण कारकमात्र होंगे।[1]

4- <u>सिद्धसाधनदोष</u> -

यदि ईश्वर को पटादि कार्यों का तन्तु प्रभृति के समान केवल कारक मात्र स्वीकार किया जायेगा। तो फिर कार्यत्व हेतु से सकारणत्व की ही सिद्धि होगी, जिसकी व्याप्ति "यद्-यद् कार्यं तद्-तद् सहेतुकम्" इत्यादि प्रकार की होगी। उस स्थिति में नैयायिकों को अपेक्षित "यद्-यद् कार्यं तद्-तद् सकर्तृकम्" ऐसी व्याप्ति नहीं बनेगी। अतएव क्षित्यादि के विषय में "क्षित्यादिकं सहेतुकं कार्यत्वाद्" ऐसा अनुमान किया जा सकेगा जो कि सिद्धसाधन दोष से दुष्ट होगा, क्योंकि क्षित्यंकुरादि में सहेतुकत्व तो सभी को स्वीकार्य है।[2]

1- न द्वितीयः। अधिष्ठातृत्वस्यानङ्गत्वप्रसङ्गे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वापत्तेः
न्या०कुसु०पृ०494

2- न च हेतुत्वेनैव तस्यापेक्षाऽस्त्विति वाच्यम्। एवन्तर्हि यत्कार्यं तत्सहेतुकमिति व्याप्तिः न तु सकर्तृकमिति। तथा च तथैव प्रयोगे सिद्धसाधनात्।
न्या०कुसु० पृ० 494

उपर्युक्त दोषों का खण्डन -

उदयनाचार्य उपर्युक्त दोषों का खण्डन करने के लिए पटादि कार्यों के प्रति ईश्वर का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करते हुए कुविन्दादि के अधिष्ठातृत्व को भी स्वीकार करते हैं । अतः उन्होंने पटादि के प्रति कुविन्दादि की सार्थकता की सिद्धि एवं उसके मानने पर प्रसक्त होने वाले अनवस्था का परिहार करके उपर्युक्त सभी दोषों का निवारण करते हैं ।

पटादि के प्रति ईश्वराधिष्ठातृत्व स्वीकार करने पर भी कुविन्दादि का अधिष्ठातृत्व संभव है -

उदयनाचार्य का कहना है कि -

(1) कुविन्दादि में पटादि कार्यों की कारणता अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध है, अतः ईश्वर को मान लेने पर भी कुविन्दादि की निरर्थकता नहीं सिद्ध होगी।[1]

(2) पटादि कार्यों के निर्माण में कुविन्दादि कर्ताओं को शारीरिक श्रम रूप जो दुःख प्राप्त होता है एवं पारिश्रमिक की प्राप्ति से जो सुख प्राप्त होता है उन प्रयोजनद्वय के संपादनार्थ ही पटादि के निर्माण में ईश्वर से अधिष्ठित वेमादि अचेतन कारण कुविन्दादि से भी अधिष्ठित होते हैं ।[2]

1- न प्रथमः अन्वय व्यतिरेक सिद्धत्वात् ।
न्या0कुसु0 पृ0 496

2- कार्यनिष्पादनेन भोगसिद्धेः स्पष्टत्वात् ।
न्या0कुसु0 पृ0 497

{3} वेमादि के अधिष्ठातृत्व में ईश्वरातिरिक्त कुविन्दादि के समर्थन में उदयनाचार्य का तीसरा कथन है कि एकमात्र कर्ता के द्वारा अधिष्ठित कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति संभव है वह एकाधिष्ठित कारणों से ही होती है, जैसे कि क्षित्यंकुरादि कार्यों की उत्पत्ति । परन्तु जिन कार्यों की उत्पत्ति की कारणता दो कर्ताओं में गृहीत है, तो दूसरे का निराकरण यह कहकर नहीं किया जा सकता कि उस कार्य के समस्त कारण ईश्वराधिष्ठित होने के कारण दूसरे अधिष्ठाता स्वरूप कुविन्दादि की निरर्थकता सिद्ध होती है । कारण कि जैसे परिमाण, संख्या एवं प्रचय इन तीनों में से प्रत्येक में परिमाण की कारणता गृहीत होने पर भी किसी विशेष प्रकार के परिमाणोत्पादन में ये तीनों ही कारण होते हैं, एवं किसी परिमाण विशेष के प्रति वे दो ही कारण होते हैं तथा किसी परिमाण के प्रति एक का ही कारणत्व होता है ।[1] इस प्रकार से यद्यपि पटादि के सभी कारण ईश्वर द्वारा अधिष्ठित ही हैं, क्योंकि उनको व्यापृत करने की योग्यता ईश्वर में उसके सर्वज्ञ होने के कारण है ही । फिर भी उन कारणों के अधिष्ठाता के रूप में कुविन्दादि को भी स्वीकार करना आवश्यक है क्यों कि कई कारणों से उसके अधिष्ठातृत्व के सिद्ध हो जाने पर कुविन्दादि की निरर्थकता नहीं सिद्ध हो सकती । अतः वेमादि के ईश्वराधिष्ठित होने पर कुविन्दादि की अथवा कुविन्दादि के द्वारा अधिष्ठित होने पर ईश्वर की उपादेयता पर कोई आँच नहीं आती है ।

1- स्यादेव, तथापि न सम्भेदः स्यादितरवैयर्थ्यं वा । परिमाणं प्रति सङ्ख्यापरिमाणप्रचयवत् प्रत्येकं सामर्थ्योपलब्धौ सम्भूयकारित्वोपपत्तेः ।

न्या०कुसु० पृ० 497

अनवस्था दोष का निरास -

पूर्वपक्षियों ने जो यह कहा है कि यद्यपि वेमादि के प्रति कुलालादि के अधिष्ठातृत्व की सर्वसिद्ध कारणता स्वीकृत है, फिर भी उन कारणसमूहों के सम्भलनार्थ ईश्वररूप एक दूसरे अधिष्ठाता की कल्पना यदि की जायेगी तो फिर उसी नय से तृतीयादि अधिष्ठाताओं की कल्पना की जा सकने के कारण अधिष्ठातृत्व परम्परा में अनवस्था दोष की प्राप्ति होने लगेगी-वह उचित नहीं है । क्योंकि कुविन्दादि अधिष्ठाताओं के रहते हुए भी ईश्वररूप एक और अधिष्ठाता की कल्पना में अनेक युक्तियाँ हैं, अतः पटादि कार्यों के लिए एक ईश्वररूप अधिष्ठाता की भी कल्पना करते हैं । परन्तु उसके अतिरिक्त तृतीयादि अनन्त अधिष्ठाताओं की कल्पना में कोई प्रमाण न होने से अनवस्था दोष का कोई अवसर ही नहीं है ।[1]

वेमादि के अधिष्ठातृत्व में ईश्वर की उपादेयता अनिवार्य है -

उदयनाचार्य का मन्तव्य है कि किन्हीं कार्यों के कारणों का अधिष्ठातृत्व उस कार्य के उपादानविषयक अपरोक्षज्ञानरूप होता है अथवा उन उपादान कारणों को कार्यानुकूल प्रयोक्तृत्वरूप होता है । कुलालादि पटादि कार्यों के इसी लिए अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि उनमें वेमादि कारणों का अपरोक्ष ज्ञान होता है एवं पटादिकार्यानुकूल उन वेमादि को संचालित करने की क्षमता होती है । अतएव जिस सर्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी अधिष्ठाता का परमाणु उपादानों का अपरोक्षज्ञान होता है एवं जिसमें अदृष्टादि अतीन्द्रिय अचेतन साधनों को कार्यानुकूल उपयोग करने की क्षमता रहती है, उस अधिष्ठाता को तन्तु कपालादि स्थूल उपादानों का अपरोक्षज्ञान भी

1- न द्वितीयः, परमाण्वदृष्टाद्यधिष्ठातृत्वसिद्धौ ज्ञानादीनां सर्वविषयत्वे वेमाद्यधिष्ठानस्यापि न्यायप्राप्तत्वात् ।

रहता है । इसी लिए उसे सर्वज्ञ माना जाता है । अतः जब तन्तुकपालादि के संचालन का ज्ञान परमेश्वर में भी है, अतः उनमें भी वेमादि कारणों के अधिष्ठातृत्व का निवारण कैसे किया जा सकता है ।[1]

फिर यदि केवल वेमादि के अधिष्ठातारूप में ही ईश्वर की सिद्धि की जाती तभी यह कहा जा सकता था कि कुलालादि अधिष्ठाता के रहते हुए वेमादि के प्रति ईश्वर का अधिष्ठातृत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता । क्योंकि कुलालादि में वेमादि का अधिष्ठातृत्व प्रत्यक्षसिद्ध है । परन्तु जब अन्य युक्तियों से भी ईश्वर की सिद्धि हो जाती है और उनमें पटादि कार्यों के कर्तृत्व की योग्यता भी प्राप्त है तो फिर पटादि के कर्तृत्व का भी निवारण उनमें कैसे किया जा सकता है ।[2]

<u>पूर्वपक्षियों द्वारा कार्यत्व हेतु में पुनः व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास की स्थापना</u>

उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों की ओर से पुनः नैयायिकाभिमत "क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" इस ईश्वरसाधक अनुमान में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्वरूप उपाधि का उद्भावन करके, कार्यत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दिखाकर उसमें दोष दर्शन किया है । पूर्वपक्षियों की ओर से उदयनाचार्य का कहना है कि नैयायिकों के कार्यत्व हेतु में "अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व उपाधि है, क्योंकि यह अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व ईश्वरानुमानसाधक कार्यत्व हेतु का अव्यापक एवं साध्य सकर्तृकत्व का

1- न द्वितीयः, परमाण्वदृष्टाद्यधिष्ठातृत्वसिद्धौ ज्ञानादीनां सर्वविषयत्वे वेमाद्यधिष्ठानस्यापि न्यायप्राप्तत्वात् ।

न्या० कु० पृ० 497

2- न तु तदधिष्ठानार्थमेवेश्वरसिद्धिः ।

न्या० कु० पृ० 497

व्यापक है । "अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व" कार्यत्व हेतु का अव्यापक इसलिए है क्योंकि क्षित्यादि कार्यों में कार्यत्व तो है परन्तु उनमें अनित्यप्रयत्न पूर्वकत्व नहीं है क्योंकि अस्मदादि शरीरियों का ही प्रयत्न अनित्य होता है जब कि क्षित्यादि अस्मदादि शरीरियों के प्रयत्न से जन्य नहीं है । एवं अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व कार्यत्वहेतु के साध्य सकर्तृकत्व का व्यापक इसलिए है क्योंकि "यद्यत् सकर्तृकं तत्-तत् अनित्यप्रयत्नपूर्वकम्" अर्थात् निर्णीत सकर्तृकत्व वाले सभी स्थानों में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व की प्राप्ति अवश्य होती है । अतः अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व के साध्य सकर्तृकत्व का व्यापक एवं हेतु कार्यत्व का अव्यापक होने से कार्यत्व हेतु उपाधियुक्त है । अतः कार्यत्व हेतु के व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास से दूषित होने के कारण वह ईश्वर का अनुमान नहीं कर सकता ।

<u>उपर्युक्त व्याप्यत्वासिद्ध का खण्डन -</u>

उदयनाचार्य पूर्वपक्षियों की ओर से कार्यत्व हेतु में "अनित्यप्रयत्न पूर्वकत्व" के द्वारा व्याप्यत्वासिद्ध दोष दिखाकर उसका खण्डन करते हैं । उनका कहना है कि कार्यत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह सही है कि कुलालादि शरीरियों के अनित्य शरीरावच्छिन्न आत्मा में रहने वाला प्रयत्न अनित्य ही होता है, अतएव घटादि कार्य अवश्य ही अनित्यप्रयत्नजन्य है । परन्तु चूंकि क्षित्यादि की उत्पत्ति अनित्यशरीरावच्छिन्न आत्मा द्वारा जन्य नहीं है अतएव वह अनित्यप्रयत्नजन्य भी नहीं है । परन्तु क्षित्यादि में भी कार्यत्व प्रत्यक्षसिद्ध है । अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कार्यत्व में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व की ही व्याप्ति है । अतः पूर्वपक्षियों का ऐसा चिन्तन कि घटादि कार्यवस्तुओं के अनित्य-प्रयत्नजन्य होने के कारण सभी कार्यव्यक्ति अनित्य प्रयत्नजन्य ही होंगे, ; स्वीकरणीय

नहीं है । उनका कहना है कि कार्यत्व हेतु में उपर्युक्त उपाधिदोष तभी उपपन्न हो सकता है जब कि अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व में बुद्धिमत्पूर्वकत्वरूप सकर्तृकत्व की व्यापकता हो । परन्तु अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व में बुद्धिमत्पूर्वकत्व रूप सकर्तृकत्व की व्यापकता खण्डित है, क्योंकि उदासीन पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न संस्कार में बुद्धिमज्जन्यत्व तो है किन्तु उसमें अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व नहीं है । अतएव बुद्धिमज्जन्यत्व में ही अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व की व्यापकता है । अतः अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व में साध्य सकर्तृकत्वरूप बुद्धिमज्जन्यत्व की व्यापकता न होने से कार्यत्व हेतु में अनित्यप्रयत्नपूर्वकत्व उपाधि नहीं है ।[1]

पूर्वपक्ष द्वारा प्रकारान्तर से ईश्वराभाव का उपपादन -

उदयनाचार्य पूर्वपक्ष की ओर से ईश्वरसत्ता के विषय में पुनः एक पूर्वपक्ष उठाते हैं । उनका कहना है कि कृति के ही सभी कार्यों का साक्षात् कारण होने से कृति से युक्त पुरुष ही "कर्तृ" शब्द का मुख्य अर्थ है । अतः "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" इस अनुमान वाक्य के साध्य सकर्तृकत्व का प्रधान अर्थ कृतिविशिष्टपुरुष-जन्यत्व ही है । परन्तु उपादानविषयक अपरोक्षबुद्धि, कृति का उत्पादक होने से कार्यों का परम्परा से कारण है । अतः उपादानगोचरापरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व "सकर्तृकत्व" शब्द का गौण अर्थ है । अतएव "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" के द्वारा सकर्तृकत्व की सिद्धि से मुख्यरूप से कृतिमज्जन्यत्व की ही सिद्धि होगी, किन्तु परम्परा से अपरोक्ष-

---

1- यत्वनित्यप्रयत्नेत्यादि, भवेदप्येवं यद्यनित्यप्रयत्ननिवृत्तावेव बुद्धिरपि निवर्तेत । न त्वेतदस्ति,उदासीनस्य प्रयत्नाभावेऽपि बुद्धिसद्भावात् ।

न्या०कुसु० पृ० 497

बुद्धिमज्जन्यत्व की भी सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि कृति बुद्धिजन्य है । अतः जो कृति अर्थात् प्रयत्न बुद्धिमज्जन्य होने के कारण स्वयं कार्यस्वरूप होगी-उस प्रयत्न से उत्पन्न कार्य परम्परा से अपरोक्षबुद्धिमज्जन्य भी होगी । परन्तु ईश्वरीय प्रयत्न के अजन्य होने से वह प्रयत्न बुद्धिमज्जन्य भी नहीं होगा । अतः क्षित्यंकुरादि कार्यों में ईश्वर के प्रयत्नजन्यत्व की सिद्धि हो जाने पर भी उन कार्यों में अपरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि अपरोक्षबुद्धिमज्जन्य की सिद्धि प्रयत्न के कारणरूप में ही होती है । चूंकि ईश्वरीय प्रयत्न के नित्य होने से उसका कोई कारण नहीं है, अतः अपरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व भी ईश्वरीय प्रयत्न का कारण नहीं हो सकता । अतएव प्रयत्न के कारणरूप में होने वाली अपरोक्ष बुद्धिमज्जन्य की सिद्धि,उसके ईश्वरीय प्रयत्न का कारण न होने से बाधित हो जायेगी । अतः "क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" अनुमान से क्षित्यंकुरादि कार्यों में सकर्तृकत्व की सिद्धि से केवल कृति विशिष्टपुरुषजन्यत्व की ही सिद्धि हो सकती है, उक्त अपरोक्षबुद्धि से युक्त सर्वज्ञ पुरुषकी नहीं । क्योंकि ईश्वर में सर्वज्ञता का अनुमान इस अनुमान वाक्य से ही हो सकता है-"क्षित्यंकुरादेः कर्ता पुरुषः क्षित्याद्युत्पादनसमर्थक्षित्याद्युपादानगोचरा परोक्षबुद्धिमान् क्षित्यादि - जनकप्रयत्नवत्वात्"।" परन्तु इस अनुमान वाक्य में कार्यत्वविशिष्टप्रयत्नजन्यत्व उपाधि है । कारण कि यह कार्यत्व विशिष्टप्रयत्न साध्यस्वरूप अपरोक्षबुद्धिमज्जन्यत्व का व्यापक है । जैसे कि "यत्र-यत्र अपरोक्षबुद्धिमज्जन्त्वं तत्र-तत्र कार्यत्वविशिष्टप्रयत्न-जन्यत्वमपि यथा कुलालकुविन्दादेः ।" परन्तु यह कार्यत्वविशिष्ट प्रयत्नजन्यत्व हेतु स्वरूप क्षित्यादिजनकप्रयत्नवत्त्व का अव्यापक भी है क्योंकि "यत्र-यत्र क्षित्यादिजनक-प्रयत्नवत्वं तत्र-तत्र अनित्य प्रयत्नाभावे कार्यत्वविशिष्टप्रयत्नजन्यत्वं न यथा ईश्वरे ।" अतः ईश्वर में कर्तृत्वरूप कृतिविशिष्टपुरुषत्व की सिद्धि हो जाने पर भी अपरोक्ष-

बुद्धिमत्व के निरास हो जाने पर क्षित्यादि के प्रति उसका कर्तृत्व भी बाधित हो जायेगा क्योंकि वह क्षित्यादि का कर्ता सर्वज्ञ होने के ही कारण हो सकता है।

उक्त उपाधि दोष का निरास -

उदयनाचार्य का इस उपाधिदोष के निराकरण में कहना है कि जो कोई बुद्धिरूप से शरीर की सिद्धि की तरह कृतिरूप मुख्य कर्तृत्व हेतु से ईश्वर में बुद्धि की सिद्धि के लिए उद्यत हो वही इस अभियोग का पात्र हो सकता है। हम नैयायिक तो क्षित्यंकुरादि में कार्यत्व हेतु से बुद्धिजन्यत्व की सिद्धि के बाद तदाश्रयरूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि करते हैं। इस प्रकार से जिस अनुमान के द्वारा ईश्वर का अनुमान होता है उस अनुमान में कथित कार्यत्वविशिष्ट प्रयत्न उपाधि नहीं हो सकता।[1]

दूसरी बात यह भी है कि प्रयत्न को बुद्धि की अपेक्षा दो प्रकार से होती है (1) उत्पत्ति के लिए (2) विषय सम्पादन के लिए। अस्मदादि के अनित्य प्रयत्न के उत्पादन के लिए बुद्धि की अपेक्षा होना आवश्यक है, क्योंकि कोई भी प्रयत्न निर्विषयक होता है और उसकी सविषयता ज्ञान के विषय से ही होती है।[2]

1- यो हि बुद्ध्या शरीरवच्छरीरनिवृत्त्या बुद्धिनिवृत्तिवद्वा प्रयत्नेन बुद्धिम्, बुद्धिनिवृत्त्या प्रयत्ननिवृत्तिं साधयेत् स एवं कदाचिदुपालभ्यः। वयं त्ववगतहेतुभावं कलितसकलशक्तिकारकप्रयोक्तारं कार्यादिवानुमिमाना नैवमाक्रन्दनीयाः तत्र तस्यानुपाधित्वात्। न्या०कु०पृ०499

2- तस्मात् कृतिजातीयस्य ज्ञानेच्छाभ्यामेव सविषयव्यवस्था।

आ०त०वि०पृ०39।

इस प्रकार अस्मदादि के अनित्यप्रयत्नों में बुद्धि की अपेक्षा अपनी उत्पत्ति एवं विषयता इस प्रकार दोनों के लिए होती है । परन्तु चूंकि ईश्वर का प्रयत्न नित्य प्रयत्न है, अतएव उसके अनुत्पन्न होने से उसकी उत्पत्ति के लिए बुद्धि की अपेक्षा नहीं होती । फिर भी ईश्वरीय प्रयत्न को भी विषय संपादन के लिए बुद्धि की अपेक्षा अवश्य होती है, क्योंकि उसका प्रयत्न भी अपने आप निर्विषयक होता है और ज्ञान के विषय से ही उसके प्रयत्न में विषयता आती है ।[1] आत्मतत्त्वविवेक में उदयनाचार्य ने कहा है कि ऐसा नहीं हो सकता कि ईश्वर में नित्य प्रयत्न होने के कारण ज्ञान और इच्छा के अनुपयोगी होने से वह ईश्वर ज्ञानरहित सिद्ध हो जाय, क्योंकि प्रयत्न द्विधर्मक होता है । पहला तो है कि वह कर्तृत्वरूप प्रयत्न ज्ञान का कार्य है । दूसरा यह कि वह प्रयत्न ज्ञान के समान विषयवाला होता है अर्थात् यद्विषयक ज्ञान होता है प्रयत्न भी तद्विषयक ही होता है । अतएव ईश्वरीय प्रयत्न के नित्य होने से तदुत्पत्ति हेतु ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा भले ही न हो फिर भी विषय सम्पादन के लिए ज्ञान की अनिवार्यता को कोई नहीं रोक सकता । प्रयत्न को बिना ज्ञान की अपेक्षा किये सीधे विषयोन्मुख नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में उस प्रयत्नत्व में ज्ञानत्व का प्रसङ्ग आ जायेगा । ज्ञान का प्रयत्न

1- न च प्रयत्न आत्मलाभार्थमिव मतिमपेक्षते, विषयलाभार्थमप्यपेक्षणात् ।

न्या०कु०प०499

से ही भेद है कि प्रयत्न सीधे क्रियोन्मुख न होकर ज्ञानीय विषय में ही होता है। इतना अवश्य है कि ईश्वर के नित्य प्रयत्न को विषय संपादन हेतु ईश्वरीय नित्य बुद्धि की अपेक्षा होती है जब कि अस्मदादि के अनित्य प्रयत्न को स्वगत अनित्य-बुद्धि की अपेक्षा होती है।[1]

पूर्वपक्षियों द्वारा प्रस्तुत निमित्तकारण के अनुपयोगितापरक पूर्वपक्ष

अब पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि पृथिव्यादि की उत्पत्ति बिना कर्ता के केवल उसके उपादान कारणों से ही स्वीकार कर लिया जाय, तो क्या हानि है? माधवाचार्य ने सांख्यों की ओर से कहा है कि हम यह देखते हैं कि अचेतन पदार्थ चेतन की सहायता लिए बिना ही मनुष्यों की अर्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। जैसे कि बच्चे के पालन-पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवृत्त होता है और माँ के स्तन से चला आता है। एवं जैसे अचेतन जल संसार के उपकार के लिए प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होगी।[2] सांख्य कारिका

1- प्रयत्ननित्यतायां ज्ञानेच्छानुपयोगादिति चेत् ? न, प्रयत्नस्य द्विधर्मकत्वात्। स हि ज्ञानकार्यो ज्ञानैकविषयश्च कर्तृत्वम्। तत्र कार्यत्वनिवृत्तौ कारणतया ज्ञानं मा पेक्षिष्ट, विषयार्थं तु तदपेक्षा केन वार्यते ? न चास्य स्वरूपेणैव विषय-प्रवणत्वं, ज्ञानत्वप्रसङ्गात्। अयमेव हि ज्ञानात् प्रयत्नस्य भेदो यदयमर्थाप्रवण इति। ज्ञा०त०वि०पृ०388-89

2- दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविवृद्धयर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेतनापि पुरुष-

में भी कहा गया है कि जैसे बच्चे के पालन पोषण के लिए अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की भी प्रवृत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रधान या प्रकृति की प्रवृत्ति होती है ।[1] ऐसा ही तत्त्वकौमुदी में भी कहा गया है ।[2] अतः क्षित्यादि की उत्पत्ति के लिए चेतन ईश्वर की कोई उपयोगिता नहीं है ।

उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण-सिद्धान्त पक्ष -

उपर्युक्त आक्षेप के खण्डन में नैयायिकों का कहना है कि कारणों के व्यापाराभाव में कार्योत्पत्ति नहीं होती है ।[3] चूंकि दण्डादि अचेतन कारकगत प्रयत्नों के प्रति कुलालादि चेतन कारक के व्यापार कारण है, अतः यदि पृथिव्यादि कार्यों का कोई कर्ता नहीं रहेगा तो कर्त्रभाव में तज्जन्य कर्तृव्यापार का भी अभाव रहेगा । फलतः कर्तृव्यापाराभाव में पृथिव्यादि कार्यों के अचेतन कारणों में कार्यानुकूल कोई व्यापार हो ही नही सकता ।[4]

1- वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।। सा0का057

2- दृष्टमचेतनमपि प्रयोजने प्रवर्त्तमानं, यथा वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते ।
एवं प्रकृतिरचेतनापिपुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते । सा0त0कौ057 पृ0313

3- कारक व्यापारविगमे हि कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः । न्या0कुसु0पृ0500

4- चेतनाचेतनव्यापारयोर्हेतुफलभावावधारणात् कारणान्तराभाव इव कर्त्रभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः । वही पृ0500

न्यायवार्तिककार ने कहा है कि पूर्वपक्षियों की यह उक्ति कि जिस प्रकार गाय आदि का दूध जो अचेतन होता है बछड़े के पोषण के लिए स्वतः वह निकलता है । उसी प्रकार अचेतन परमाणु भी जीवों के भोग के लिए सक्रिय हो उठते हैं - उपयुक्त नहीं है । क्योंकि उक्त युक्ति में साध्यसम दोष है । यहाँ जिस प्रकार अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति साध्य है उसी प्रकार परमाणुओं का स्वतः कम्पन भी साध्य है । परन्तु यदि दुग्ध की प्रवृत्ति स्वतः होती रहती तो मृत गाय में भी दिखाई पड़ती । किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है । इसलिए यही सिद्ध होता है कि बुद्धियुक्त चेतन गाय द्वारा ही दुग्ध की प्रवृत्ति होती है । गाय अपनी इच्छा से अपने बछड़े के लिए अचेतन दुग्ध को प्रवृत्त करती है । यही युक्ति जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। ईश्वर जीवों के उपभोग के लिए परमाणुओं को जगत् की सृष्टि में प्रवृत्त करता है ।[1] वार्तिककार ने महाभूतों का नियामक ईश्वर को माना है । उनका कहना है कि जिस प्रकार रूपयुक्त तुरी सदृश लौकिक पदार्थों का नियंत्रण बुद्धिमान् व्यक्ति करता है,उसी प्रकार रूपादि गुणों से युक्त महाभूतों का नियंत्रण कर्ता भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति होगा । महाभूतों का नियामक धर्म एवं

1- क्षीरादिवदचेतनस्यापि प्रवृत्तिरिति चेत् यथा अपत्यभरणार्थं क्षीरादेरचेतनस्यापि प्रवृत्तिरेवं परमाणवोऽप्यचेतनाः पुरुषार्थं प्रवर्तिष्यन्त इति । तन्न युक्तम् साध्यसमत्वात् यथैव परमाणवः स्वतन्त्राः प्रवर्तन्त इति साध्यं तथा क्षीराद्यचेतनं स्वतन्त्रं प्रवर्तत इति ।यदि क्षीरादि स्वतन्त्रं प्रवर्तेत मृतेऽपि प्रवर्तेत न तु प्रवर्तते अतोऽवगम्यते बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं तदपि न चाऽयं हेतुः तस्मान्न प्रवर्तते एवं यावद्यावदचेतनं प्रवर्तते तावत् सर्वं चेतनाधिष्ठितमिति ।

अधर्म भी नहीं हो सकते, क्योंकि वे भी चेतन नहीं होते ।[1] शङ्कराचार्य ने भी कहा है कि चेतन से अनधिष्ठित स्वतन्त्र अचेतन किसी विशिष्ट पुरुषार्थ के लिए साधन में समर्थ विकारों को रचता हुआ लोक में नहीं देखा गया है । गृह, महल शय्या, आसन क्रीड़ा के स्थानादि जो समयानुसार सुख प्राप्ति और दुःख के योग्य होते हैं वे लोक में बुद्धिमान् शिल्पियों से ही रचे हुए देखे जाते हैं । इसी प्रकार जो यह नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख, फल और उसके साधनरूप उपभोग योग्य पदार्थात्मक पृथिवी आदि रूप सम्पूर्ण बाह्य जगत् है और अनेक कर्मफल भोगों के अधिष्ठान आश्रय-रूप जो प्रत्यक्षदृश्यमान नानाजातियुक्त प्रतिनियत अवयवविन्यास वाले आध्यात्मिक शरीरादिरूप जगत् हैं वे सम्भावित्ततम अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धिमान् शिल्पियों के मन से भी चिन्तन के अयोग्य होता हुआ अचेतन प्रधान से कैसे रचा जायेगा ? क्योंकि अचेतन लोष्ट पाषाणादि में रचनाकर्तृत्व नहीं देखा जाता है । कुम्भकारादि से अधिष्ठित मृदादि में ही विशिष्ट आकार वाली रचना देखी जाती है इससे प्रधान को भी मृत्तिकादि के समान कार्य को करने में चेतनान्तर से अधिष्ठितत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होता है ।[2]

1- अयमपरो हेतुः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादि व्यक्तमिति सुख-दुःखादि-निमित्तं भवति रूपादिमत्वात् तुर्यादिवदिति । धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधि-ष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः कारणत्वात् वास्यादिवदिति ।

न्या०वा०4/1/21 पृ० 463

2- द्रष्टव्य शा०री० भा० 2/2/1/1 पृ० 401

चूँकि विचारपूर्वक निर्मित शय्या आसनादि का भी कार्य-कारणभाव देखा गया है। इससे कार्य-कारणभाव से बाह्य आध्यात्मिक विकारों की अचेतनपूर्वकता की कल्पना नहीं कर सकते हैं। अतः चेतनाधिष्ठित मायाजन्य संसार है।[1] सर्वदर्शनसङ्ग्रह में प्रत्यभिज्ञादर्शन के अन्तर्गत भी कहा गया है कि जिस प्रकार एक वस्तु- बीज के होने पर दूसरी वस्तु अङ्कुर की सत्ता होगी- इस प्रकार का जो कार्य-कारण सम्बन्ध है वह भी अपेक्षा रहित जड़ पदार्थों में नहीं रह सकता। इस नियम से यह सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थ परमाणु आदि स्वयं संसार के कारण नहीं हो सकते। दूसरी ओर ईश्वरातिरिक्त कोई दूसरा चेतन संसार का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें संसार उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए घटादि का कारण होने पर भी जीव संसार को नहीं उत्पन्न कर सकता। अतः संसार के जन्म स्थिति आदि भावविकारों के रूप में तथा उनके भेदों के रूप में ईश्वर के कर्तृत्व को ही स्वीकार किया जा सकता है।[2] न्यायकन्दली में कहा गया है कि चूँकि सभी

1- कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं कल्पयितुम्।

शारी०भा० 2/2/1/। पृ० 403

2- तस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणताऽपि या।
सा प्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते।।
इति न्यायेन यतो जडस्य न कारणता न वाऽनीश्वरस्य चेतनस्यापि तस्मात्तेन तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकारतत्तद्भेदक्रियासहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यते इति।

स०द०सं०प्रत्यभिज्ञादर्शनम् पृ०313

विषयों का ज्ञान जीवों को नहीं है । सभी विषयो के ज्ञान के बिना सृष्टि जैसा कार्य सम्भव नहीं है । सृष्टि रचना के लिए जीवों से भिन्न सर्वज्ञान से युक्त कर्तृत्व स्वभाव वाले किसी अधिष्ठाता की कल्पना करनी होगी, क्योंकि जड़ वस्तुओं की प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठाता के बिना सम्भव ही नहीं है । अतः ईश्वररूप अधिष्ठाता अवश्य है ।[1]

फिर यदि शरीर, इन्द्रिय भुवन आदि पदार्थों का कोई भी कर्ता नहीं होता तो अपनी इच्छा से ही सभी की उत्पत्ति माननी पड़ती । वैसी दशा में जीव को क्या पड़ी थी कि दुःख के साधन ग्रहण करता ? वह केवल सुख के ही साधन खोजता । किन्तु जीव का जब इसमें आ चले तब तो ? अतः सुख-दुःख का कोई दूसरा नियन्ता जरूर होगा । प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा रखते हुए ही ईश्वर का कर्ता होना सिद्ध होता है । अतः "क्षित्यादिकं यदि अकर्तृकं स्यात् अनुत्पन्नं स्यात्" यह अनुमानवाक्य फलित होता है । आत्मतत्त्वविवेक में कहा गया है कि कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो कारकचक्र की अवहेलना कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर सके । अतः सभी कार्यों की मर्यादा साक्षात् या परम्परया चेतन से उपहित है, अन्यथा उनके लक्षण की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी ।[2]

1- अनवबोधे च तेषां नाधिष्ठातारः इति तेभ्यः परः सर्वार्थदर्शिसहजज्ञानमयः कर्तृस्वभावः कोऽप्यधिष्ठाता कल्पनीयः, चेतनमधिष्ठातारमन्तरेणाचेतनानां प्रवृत्यभावात् । न्या०क०पृ० ।4।

2- इह जगति नास्त्येव तद् कार्यं नाम, यद् कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेति स्व-विवादम् । तच्च सर्वं चेतनोपहितमर्यादम् । अन्यथा तल्लक्षणव्यवस्थानुपपत्तेः । आ०त०वि०पृ०405-6

माधवाचार्य ने भी कहा है कि यदि यह संसार अकर्तृक होता तो यह कार्य भी नहीं होता । इस संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो कारकचक्र का तिरस्कार करके अपनी स्थिति दृढ़ कर ले-इतना तो निर्विवाद है । सारे कार्यों की मर्यादा किसी न किसी कर्ता पर ही आधारित है ।[1] उदयनाचार्य ने कहा है कि यदि कर्ता न हो तो कर्ता से उपहित मर्यादावाले सम्पूर्ण कारकों की भी व्यावृत्ति हो जायेगी, और बिना कारक के ही कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होने लगेगा । अतः कर्ता के बिना कार्य की उत्पत्ति मानने वाले पूर्वपक्षी का यह भारी प्रमाद है।[2]

दूसरी बात यह भी है कि किसी एक भी कारण की असत्ता कार्यानुत्पत्ति के लिए पर्याप्त है । अतः कर्ता के भी कारणस्वरूप होने से तदभाव में अन्य सभी कारणों के रहते हुए भी कार्यों की उत्पत्ति रुक जायेगी ।[3] जैसे कि कुलालादि कारणों के रहते हुए भी दण्ड रूप एक कारण के न रहने पर घट की उत्पत्ति नहीं होती । यदि यह माना जायेगा कि कर्ता के बिना भी कार्यों की उत्पत्ति होती है तो इसका अर्थ यह होगा कि कार्य अपने कर्तृजन्यत्व स्वभाव को छोड़कर भी रहता है।

1- यद्ययमकर्तृकः स्यात्कार्यमपि न स्यात् । इह जगति नास्त्येव तत्कार्यनाम यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेदित्येतदविवादं तच्च सर्वं कर्त्रधीनोपहित-मर्यादम् ।
स0द0सं0अक्षपाददर्शनम् पृ0433

2- एवं सति कर्तृव्यावृत्तेस्तदुपहितसमस्तकारककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इति स्थूलः प्रमादः ।
आ0त0वि0पृ0 407

3- कर्तुरपि कारणत्वात् ।
न्या0कु0पृ0500

किन्तु यह स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि इससे कार्य की सत्ता ही उठ जायेगी क्योंकि कोई भी वस्तु स्वभाव के बिना नहीं रह सकती ।[1]

द्रव्य-कार्य से द्रव्यकारण का ही अनुमान होने से ईश्वरानुमान असम्भव है -पूर्वपक्ष

अब पूर्वपक्षियों की ओर से उदयनाचार्य ईश्वरानुमान के विरोध में यह आक्षेप करते हैं कि चूंकि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा द्रव्य कार्य से द्रव्य कारण का ही अनुमान होता है क्योंकि अन्वय केवल द्रव्य पदार्थ का ही नियामक है एवं व्यतिरेक केवल द्रव्य पदार्थ का ही निषेधक है । जैसे कि द्रव्य धूम से द्रव्य वह्नि का ही अनुमान किया जाता है अथवा शाखाकम्प से चलनशील वायु का अनुमान किया जाता है ।[2]

यदि ऐसा न स्वीकार करके द्रव्य-धूम से द्रव्याद्रव्य सभी वह्नियों का अनुमान होना माना जायेगा तो फिर पर्वतगत धूम से अद्रव्य जठराग्नि का अथवा शाखाकम्प से स्तिमित वायु का भी अनुमान मानना पड़ेगा ।[3] एवमेव द्रव्य क्षित्यादि

1- तदुत्पत्तेरसिद्धावपि तत्तदुपाधिविधूननेन स्वाभाविकत्वाच्चेन्नतो यदि कर्ता-रमतिपत्य कार्यं स्यात् स्वभावमेवातिपतेदिति कार्यविलोपप्रसङ्ग इति ।

न्या० कु०पृ०502

2- यस्त्वाह प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तदुत्पत्तिनिश्चयो द्रव्ययोरेव, न त्वद्रव्ययोः। प्रत्यक्षस्यानुपलम्भस्य च तावन्मात्रविधिनिषेधसमर्थत्वात् धूमाग्निवात्, कम्पमा-रुतवच्च ।

वही पृ० 500

3- न हि धूमः कार्यो नलस्येति उदर्यस्यापि, न हि शाखाकम्पो मातरिश्वन इति स्तिमितस्यापि स्यात्, किन्तु भौमस्पृश्ययोरेव ।

वही पृ० 500

कार्यों से केवल दृश्य शरीरी कर्ता का ही अनुमान सम्भव हो सकता है और सर्वथा अदृश्य अशरीरी कर्ता ईश्वर का अनुमान कथमपि सम्भव नहीं है ।

उपर्युक्त आशङ्का का निराकरण -

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के निराकरण में उदयनाचार्य का कहना है कि ऐसा नहीं है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा किसी दृश्य कार्य से दृश्य कारण का ही अनुमान हो । अपितु अन्वय-व्यतिरेक से इतना ही निश्चित होता है कि कारण से दृश्य कार्य की उत्पत्ति होती है । जिस कारण की जिस धर्म से युक्त कार्य के प्रति कारणता निश्चित रहती है, उस धर्म से युक्त सभी दृश्यादृश्य कार्य व्यक्तियों में उस कारण की कारणता उपपन्न होती है ।[1] उनका कहना है कि वह्नि सामान्य से धूमोत्पत्ति नहीं होती है और न तो वायुसामान्य से शाखाकम्प की ही उत्पत्ति होती है । इसीलिए शाखाकम्प से सभी वायुओं का अथवा धूम से सभी वह्नियों का अनुमान नहीं होता । धूम चूंकि भौम वह्नि का कार्य है न कि औदर्यवह्नि का भी एवं शाखाकम्प मातरिश्वारूप वायु का कार्य है न कि वायुसामान्य का अर्थात् स्तिमित वायु का भी । इसी लिए धूम से अग्निसामान्य का अनुमान न होकर केवल भौमाग्नि

1- तदसत् । प्रत्यक्षाऽनुपलम्भौ हि दृश्यविषयावुपायस्तदुत्पत्तिनिश्चये, न तु दृश्यतैव तत्रापेया । किं नाम दृश्याश्रितं सामान्यद्वयम् । तदालीढस्य तदुत्पत्तिनिश्चये दृश्यमदृश्य वा सर्वमेव तज्जातीयं तदुत्पत्तिमत्तया निश्चितं भवति ।

न्या०कु०, पृ० 50।

का ही अनुमान होता है एवं शाखाकम्प से केवल मातरिश्वा वायु का ही अनुमान होता है स्तिमित वायु का नहीं । अतः जो कार्य जिस कारण का कार्य होता है उस कार्य से उसी के कारण का अनुमान होता है ।

यदि जिस प्रकार शरीर के बिना घटादि वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार औदर्यवह्नि के बिना धूम की उत्पत्ति न हो, एवं स्तिमित वायु के बिना शाखाकम्प न हो तो धूम से औदर्यवह्नि का एवं शाखारम्प से स्तिमित वायु का भी अनुमान हो सकता है । परन्तु वास्तविकता यह है कि धूमोत्पत्ति औदर्यवह्नि के बिना भी भौमवह्नि से ही हो जाती है एवं स्तिमित वायु के बिना भी शाखाकम्प केवल मातरिश्वा वायु से ही हो जाती है । इसीलिए धूम से औदर्यवह्नि का अनुमान न होकर केवल भौमवह्नि का ही अनुमान होता है तथा शाखाकम्प से स्तिमित वायु का अनुमान न होकर केवल मातरिश्वारूप वायु का ही अनुमान होता है । अतः जिस धर्म से युक्त कार्य का जिस कारण के साथ अन्वय-व्यतिरेक होता है । उस कार्य से केवल उसी कारण का ही अनुमान होता है वह कारण चाहे दृश्य हो अथवा अदृश्य हो । अतएव पृथिव्यादि दृश्य कार्यों से तदुपयुक्त अदृश्य चेतन-पुरुष के अनुमान में कोई बाधा नहीं है । अतः कार्यत्व में सकर्तृकत्व की व्याप्ति के सिद्ध हो जाने पर क्षुद्र प्रतिबन्धियों के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है।[1]

माधवाचार्य ने कार्यत्व हेतु में पाँचों हेत्वाभासों का अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि इस कार्यत्व हेतु में असिद्ध हेत्वाभास अर्थात् साध्यसम हेत्वाभास

1- एवञ्च सिद्धे प्रतिबन्धे न प्रतिबन्ध्यादेः क्षुद्रोपद्रवस्याकाशः ।

न्याoकुसुo पृo 502

नहीं है क्योंकि सावयव हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि अच्छी तरह से की जा सकती है ।[1] विरुद्ध हेतु भी नहीं है क्योंकि साध्य के विरुद्ध कोई भी व्याप्ति नहीं मिलती है । अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि पक्ष के अलावा और कहीं इस हेतु की प्राप्ति नहीं होती । कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधित हेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाण नहीं मिलता । सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी नहीं है क्योंकि समतुल्य कोई दूसरा हेतु नहीं है ।[2] अतः कार्यत्व हेतु निर्दोष है अतएव उसके आधार पर क्षित्यादि के कर्ता रूप में नैयायिकों के द्वारा की गई ईश्वरसिद्धि सर्वथा उचित एवं तर्कसङ्गत है।

<u>ईश्वरविषयक अन्यान्य क्षुद्र शङ्काएं -</u>

न्याय वैशेषिकों के द्वारा उपर्युक्त प्रकार से क्षित्यादिकर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि करने के लिए पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत बहुत सी शङ्काओं का निराकरण करने के पश्चात् भी पूर्वपक्षियों के अन्तस्तल में ईश्वर विषयक और भी अन्यान्य शङ्काएं मौजूद हैं, जिनको प्रस्तुत करके पूर्वपक्षी ईश्वर के अन्तर्गत तमाम दोषों को उछालना चाहते हैं, तथा उनके माध्यम से नैयायिकाभिप्रेत ईश्वरविषयक विचारों को हेय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं ।

1- न चायमसिद्धो हेतुः । सावयत्वेन तस्य सुसाधनत्वात् ।

स०द०सं० अक्षपाददर्शन पृ० 430

2- नापि विरुद्धो हेतुः ।साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात् । नाप्यनैकान्तिकः पक्षादन्यत्र वृत्तेरदर्शनात् । नापि कालात्ययापदिष्टः । बाधकानुपलम्भात् । नापि सत्प्रतिपक्षः । प्रतिभटादर्शनात् ।

स०द०सं० अक्षपाददर्शनम् पृ० 432

पूर्वपक्षियों का कहना है कि ईश्वर को जगत् के निर्माण हेतु किसी अन्य वस्तु की भी अपेक्षा होती है अथवा वे जगत् के निर्माण में स्वतन्त्र हैं और उन्हें अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती है । यदि जगत्सृष्टि में ईश्वर को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती यह मत स्वीकार किया जायेगा तो फिर सदा सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहनी चाहिए क्योंकि ईश्वर की सत्ता सर्वदा रहती है । यदि ईश्वर को जगत्सृष्टि में किसी अन्य कारण की भी अपेक्षा स्वीकार की जायेगी तो फिर ईश्वर की स्वतन्त्रता आधित हो जायेगी क्योंकि उसे संसार की उत्पत्ति हेतु अन्य कारणों के प्रति सापेक्ष रहना पड़ेगा । दूसरी बात यह है कि जगत् में दुःख का बाहुल्य देखा जाता है परन्तु ईश्वर में ऐसे दुःखमय संसार की उत्पत्ति करने की इच्छा उचित नहीं है ।[1] सृष्टिस्वरूप कार्य केवल इच्छा से हो भी नहीं सकता। क्योंकि उस समय धर्माधर्मरूप कारणों का भी अभाव रहता है कारण कि धर्माधर्मरूप कारण केवल जीव में ही रहते हैं जब कि उस समय जीवों का अभाव रहता है । अतः ईश्वर जगत्सृष्टि की इच्छा करते हुए भी कारणाभाव में सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी कर्ता बिना साधन के किसी वस्तु का सृजन नहीं कर सकता ।[2]

1- प्राणिनां प्रायदुःखा च सिसृक्षास्य न युज्यते ।

श्लो०वा०सम्ब०परि०49

2-(क) साधनं चास्य धर्मादि तदा किञ्चिन्न विद्यते ।
न च निस्साधनः कर्ता कश्चित् सृजति किञ्चन ।।

(ख) नाऽपि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन ।

पूर्वपक्षियों का कहना है कि ईश्वर समर्थक कुछ लोगों का मन्तव्य है कि जगत् की सृष्टि ईश्वर की अनुकम्पा से होती है । परन्तु ईश्वरसमर्थकों का ऐसा कहना भी असम्भव है क्योंकि सृष्टि के आदि में कोई ऐसा पुरुष नहीं रहता जिसके उपकार के लिए जगत् की रचना की जाय । चूँकि उपकार दो ही प्रकार से सम्भव है । या तो वह ईश्वर प्राणियों को दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए कर सकता है अथवा सुख उत्पादन के लिए संसार की सृष्टि कर सकता है । परन्तु ये दोनों ही बातें असम्भव हैं । यदि ईश्वर प्राणियों को सुख प्रदान करने के लिए संसार की उत्पत्ति करते तो फिर ईश्वर को सुखमय संसार की ही उत्पत्ति करनी चाहिए थी ।[1]

माधवाचार्य ने सांख्य दर्शन के अन्तर्गत सांख्याचार्यों की ओर से कहा है कि परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वालों का यह मत है कि-परमेश्वर करुणा के वशीभूत होकर संसार रचना में प्रवृत्त होता है-गर्भपात के समान नष्ट हो जाता है । कारण यह है कि क्या वह ईश्वर सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्ट्युपरान्त ? पहला विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि शरीरादि के अभाव में दुःखोत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि दुःख शरीर में ही होता है । परन्तु उस समय जीवों का शरीर

1-[क] अभावान्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य जायते ।

सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः ।। श्लो0वा सम्ब0 परि0 52

2-[ख] अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून्सृजेन्न विचित्रान् ।

सा0त0कौ0 पृ0 314

ही नहीं है । अतः जीवों में दुःख को हटाने की इच्छा या करुणा नहीं मानी जा सकती । यदि दूसरा विकल्प मानते हैं कि सृष्टि के बाद करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है तब तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा, क्योंकि करुणा से सृष्टि होती है और सृष्टि होने पर करुणा होती है - ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है ।[1]

यदि यह कहा जाय कि दुःख के बिना सुख की उत्पत्ति करना सम्भव नहीं है, अतः सुखमयी सृष्टि के लिए दुःख की रचना भी आवश्यक है । किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर के स्वातन्त्र्य में बाधा आती है ।[2]

परमेश्वर किसी प्रयोजन के वशीभूत होकर भी जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि इस संसार में उनका कोई प्रयोजन सिद्ध होने के लिए शेष ही नहीं है

1-(क) यस्तु "परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः" इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः । विकल्पानुपपत्तेः । स किं सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुत्पत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः । द्वितीये परस्पराश्रय प्रसङ्गः करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

(ख) सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वं दूषणं, कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

2- अभावाद् विना सृष्टिः स्थितिर्वा नोपपद्यते ।
आत्माधीनाभ्युपाये हि भवेत् किं नाम दुष्करम् ।।
तथा नापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ।

श्लो०वा०सम्ब०परि०53-54

क्योंकि वह आप्त काम है ।[1] यदि ईश्वर के द्वारा निष्प्रयोजन ही जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार किया जायेगा तो यह मत भी असंगत है क्योंकि बिना प्रयोजन के मन्दमति वाला व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । फिर यदि यह स्वीकार किया जायेगा कि वह ईश्वर निष्प्रयोजन ही संसार की सृष्टि करता है तो उसमें उन्मत्तता स्वीकार करनी पड़ेगी तथा उसे चेतन मानने का कोई अर्थ नहीं रह जाता ।[2]

ईश्वर क्रीड़ा के लिए भी संसार की उत्पत्ति नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने से उसकी कृतार्थता भङ्ग हो जायेगी । कारण कि क्रीड़ा सुख प्राप्त के लिए ही की जाती है । यदि ईश्वर के द्वारा क्रीड़ा के लिए जगतत्सृष्टि को स्वीकार किया जायेगा तो फिर ईश्वर को आनन्दस्वरूप नहीं माना जा सकेगा क्योंकि उसमें सुखाभाव प्रसक्त होने लगेगा, जिसके परिहारार्थ वह क्रीड़ा के लिए उद्यत होता है ।[3]

1- न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति ।

सा०त०कौ०पृ०3।4

2- प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।

एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ।।

श्लो० वा०सम्प० परि० 55

3- क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ।

बहुव्यापारतायां च क्लेशो बहुतरो भवेत् ।। श्लो०का०सम्ब० परि 56

ईश्वर इसलिए भी जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि हीन, मध्यम और उत्तमभाव से भिन्न-भिन्न प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ईश्वर में राग-द्वेषादि दोषों के प्रसक्त होने से हम लोगों के समान उसमें अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा । यदि यह कहा जाय कि प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा होने से दोष नहीं है, तो यह युक्ति नहीं है क्योंकि कर्म और ईश्वर का प्रवर्त्य और प्रवर्तयितृभाव होने पर अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा । चूंकि स्वार्थ में प्रयुक्त हुए ही सब लोग परार्थ में भी प्रवृत्त होते हैं, अतः स्वार्थयुक्त होने से ईश्वर में अनीश्वरत्व का भी प्रसङ्ग होगा ।[1]

उपर्युक्त आशङ्काओं का निराकरण -

उपर्युक्त आशङ्का के विषय में नैयायिकों का कहना है कि यदि अन्य वस्तुओं के साहाय्य से ही सृष्टि को स्वीकार करके एवं ईश्वर की उपेक्षा करके उस सहायक से ही कार्योत्पत्ति को स्वीकार करें तो उस कारण के प्रसङ्ग में भी ईश्वर के ही समान यह प्रश्न उपस्थित होगा कि ईश्वर से भिन्न कपालादि द्रव्य एवं स्थायी कारण क्या किसी अन्य कारणों के साहाय्य से घटादि कार्यों का निर्माण

1- हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत् । प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्- न, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रय दोष प्रसङ्गात् ।----नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते । स्वार्थ प्रयुक्त एव च सर्वे जनाः परार्थेऽपि प्रवर्तन्त इत्येवमप्यसामञ्जस्यम् स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात् ।   शा०भा02/2/37

करते हैं ? अथवा किसी अन्य कारणों के साहाय्य के बिना स्वतन्त्र रूप से ही वे घटादि कार्यों का निर्माण करते हैं ? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार किया जायेगा तो फिर यह कहा जा सकता है कि उन सहायकों से ही घटादि कार्यों की उत्पत्ति क्यों न स्वीकार की जाय ? कपालादि मुख्य कारणों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार किया जाता है तो फिर इन कपालादि मुख्य कारणों की सत्ता जब तक रहेगी, तब तक बराबर कार्योत्पत्ति होती रहेगी । परन्तु यह वस्तुस्थिति के विरुद्ध है । इस प्रकार जहाँ भी कारणता को स्वीकार करेंगे उन सभी कारणों में उक्त विकल्प उपस्थित होकर जगत् की सभी वस्तुओं की कारणता का ही उच्छेद कर डालेगा । फलतः बिना कारण के ही सभी कार्यों की उत्पत्ति माननी होगी ।

वैसे सभी न्यायवैशेषिकानुयायी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर जगत् की सृष्टि जीवों के धर्माधर्मरूप कर्म के प्रति सापेक्ष होकर ही करता है । न्यायमञ्जरीकार का कहना है कि इच्छा मात्र से ही संसार या सृष्टि का होना असम्भव है, क्योंकि कर्मों के बिना जगद्वैचित्र्य अनुपपन्न हो जायेगा । फिर कर्मनिरपेक्षता की स्थिति में ईश्वरगत निर्दयता, कर्मबोधक श्रुतियों की अनर्थकता, एवं निर्मोक्षता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । अतः कर्मों से नियोजित होने पर भी ईश्वर की स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती, और न हि ईश्वर कर्मों से निरपेक्ष होकर सृष्टि ही कर सकता है । कर्म की अपेक्षा रखने वाले ईश्वर की स्वातन्त्र्यहानि नहीं

होती, क्योंकि सापेक्षता स्वतन्त्रता की बाधक नहीं होती ।[1] उनका कहना है कि ईश्वर का स्वभाव है कि वह कभी जगत् को उत्पन्न करता है एवं कभी उसका संहार भी करता है । जिस प्रकार सूर्य नियतकाल में उदित होता है और नियतकाल में ही अस्त भी होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी बिना किसी प्रयोजन के प्राणिकर्म से सापेक्ष रहकर संसार को उत्पन्न करता है ।[2] उनका यह भी कहना है कि उसकी इच्छा से प्रेरित होकर ही कर्म अपना फल देते हैं एवं उसकी इच्छा से ही वे फलों की ओर से उदास भी होते हैं ।[3] न्यायवार्तिक में ईश्वर की स्वतन्त्रता नित्य मानी

1- नन्वेवं तर्हि ईश्वरेच्छैव भवतु कर्त्री संहर्त्री च किं कर्मभिः? मैवम् । कर्मभिर्विना जगद्वैचित्र्यानुपपत्तेः । कर्मनैरपेक्ष्यपक्षेऽपि त्रयो दोषा दर्शिता एवेश्वरस्य निर्दय-कर्मचोदनानर्थक्यमनिर्मोक्षप्रसङ्गश्चेति, तस्मात्, कर्मणामेव नियोजने स्वातन्त्र्य-मीश्वरस्य न तन्निरपेक्षम् । किं तादृशेश्वर्येण प्रयोजनमिति चेन्न । न प्रयोजना-नुवर्ति प्रमाणं भवितुमर्हति, किं वा भगवतः कर्मपेक्षिणोऽपि न प्रभुत्वमित्यलं कुतर्कलवलिप्तमुखनास्तिकालापपरिमर्दनं ।

न्या०म० भाग । पृ०286

2- स्वभाव एवैष भगवतो यत् कदाचित् सृजति कदाचिच्च संहरति विश्वमिति । कथं पुनर्नियतकाल एषोऽस्य स्वभाव इति चेद्, आदित्यं परयतु देवानां प्रियः यो नियतकालमुदेत्यस्तमेति च । प्राणिकर्मसापेक्षमेतदीश्वरस्य रूपमिति चेद्, ईश्वरेऽपि तुल्यः समाधिः ।

न्या०म० भाग । पृ० 284

3- तदिच्छाप्रेरितानि कर्माणि फलमादधाति तदिच्छाप्रतिबद्धानि च तत्रोदासते ।

न्या०म० भाग- । पृ०284

गई है । वार्तिककार के अनुसार ईश्वर की स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि वह किसी अन्य कर्ता द्वारा किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं किया जाता, अपितु वही सभी जीवों को विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करता है ।[1] उनका कहना है कि यह आवश्यक नहीं है किजिस कारण से किसी वस्तु का निर्माण किया जाय वह करण उसी कर्ता के द्वारा निर्मित न हुआ हो । अतः उस स्वनिर्मित करण की अपेक्षा रखने से ईश्वर का स्वातन्त्र्य बाधित नहीं हो सकता । उदाहरण के लिए कई कलाओं में निपुण कोई शिल्पी यन्त्रों की सहायता से कुल्हाड़ी बनाता है, पुनः उसी कुल्हाड़ी से दण्ड तैयार करता है तत्पश्चात् उस दण्ड की सहायता से घट का निर्माण करता है । प्रकृत स्थल में कुल्हाड़ी और दण्ड यद्यपि दण्ड और घट के प्रति करण है, तो भी सम्बद्ध कर्ता के द्वारा ही निर्मित है ।[2] अतः उस कुल्हाड़ी या दण्ड के प्रति सापेक्ष रहते हुए भी उस कर्ता की घट निर्माण के प्रति स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती । इसी प्रकार ईश्वर भी कर्मों के प्रति सापेक्ष रहता हुआ भी उनके प्रति परतन्त्र नहीं होता । माधवाचार्य ने भी जगत्सृष्टि के प्रति ईश्वर के स्वातन्त्र्य को सिद्ध करते हुए कहा है कि प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म पर निर्भर रहने के कारण ईश्वर स्वतन्त्र नहीं है-ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि अपना ही अंग अपने ही कार्य का विरोध नहीं करता- इस नियम से तो और अच्छी तरह से उसका निर्वाह हो जाता है ।[3] संसार और

1- स्वातन्त्र्यं हि भगवति नित्यमस्ति । किं पुनः स्वातन्त्र्यं अन्यकारकाप्रयोज्यत्व-मितरकारकाप्रयोजकत्वं च तदुक्तं कारकाणि वर्णयद्भिरिति ।

न्या०वा०4/1/21 पृ०464

2- नानेकान्तिकात्वात् नायमेकान्तोऽस्ति यो येन करोति न तत्करोतीति यथा-ऽनेकशिल्पपर्यवदातः पुरुषः करणान्तरोपादानो वास्यादि करोति वास्याद्युपादानो दण्डादि करोति तदुपादानो घटादि न च पर्यायकर्तृत्वे सति अकर्तृत्वं तथेश्वरो-धर्माधर्मोपादानः शरीरबुद्ध्यादि आत्ममनःसंयोग ... धर्माधर्मौ बुद्धयपेक्षः तत्साधनापेक्षश्च ... चाभिसम्बध्यमिति ।

न्या०वा०4/1/21 पृ०465-66

3- न च स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः । स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात् ।

स०द०सं०अक्षपाददर्शनम्, पृ०436

इसके सारे पदार्थ कर्म आदि सब कुछ ईश्वर का शरीर है । प्राणियों के द्वारा किये गये कर्म उसके अंग ही है । यदि ईश्वर सृष्टि के कार्य में इन कर्मों अर्थात् अपने अंगों की अपेक्षा रखे तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पराधीन हैं । अतः सृष्टि के प्रति ईश्वर की परतन्त्रता शैवाचार्यों को भी स्वीकार्य नहीं है जैसा कि माधवाचार्य ने शैवों की ओर से ईश्वर की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए कहा है कि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कर्मों की अपेक्षा रखने से ईश्वर की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की क्षति पहुँचेगी । क्योंकि आज तक ऐसा कभी नहीं पाया गया है कि करणों की अपेक्षा रखने से कर्ता की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँची है । राजा यद्यपि कोषाध्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु अपने ही प्रसाद से दान करते हैं । अतः वहाँ पर राजा की परतन्त्रता नहीं सिद्ध होती ।[1] उन्होंने स्वतन्त्रता की परिभाषा परक किसी का एक श्लोक भी उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य है कि -किसी स्वतन्त्र व्यक्ति में ही ये विशेषताएं होती हैं कि दूसरा कोई उसे प्रयोजित न करें, तथा स्वयं जो कारण आदि का प्रयोग करे । इसे ही कर्ता की स्वतन्त्रता कहते हैं । यह नहीं कि कर्मादि की अपेक्षा न रखने वाला ही स्वतन्त्र है ।[2]

1- न च स्वातन्त्र्यविहतिरिति वाच्यम् । करणापेक्षया कर्तुः स्वातन्त्र्यविहतेरनुपलम्भात् । कोषाध्यक्षापेक्षस्य राज्ञः प्रसादादिना दानवत् ।
स0द0सं0शैवदर्शनम् पृ0 279

2- स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता ।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता ।। स0द0सं0शैवदर्शन पृ0 279 में उद्धृत

ईश्वर की करुणा से जगत्सृष्टि होती है ।

पूर्वपक्षियों ने जो यह कहा था कि ईश्वरीय करुणा से संसार की उत्पत्ति असंभव है क्योंकि सृष्टि के पहले करुणा बन ही नहीं सकती है । इस पूर्वपक्ष के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर करुणावश ही संसार की उत्पत्ति करता है । न्यायमञ्जरीकार का कहना है कि ईश्वर करुणावशात् ही संसार का सर्ग एवं संहार करते हैं ।[1] इनका कहना है कि अनुपयुक्त कर्मों का नाश नहीं होता है । अतः सर्गान्तर में भी उस फल के भोग के लिए स्वर्ग नरकादि लोकों की सृष्टि का आरम्भ करता हुआ ईश्वर दयालु ही है । क्योंकि उपभोग के प्रबन्ध से परिश्रान्त जीवों के विश्राम के लिए ईश्वर संसार का विनाश भी करता है, और यह सब अपनी कृपालुता के कारण ही करता है ।[2] आत्मतत्वविवेक में उदयनाचार्य ने भी कहा है कि सृष्टि में ईश्वर की प्रवृत्ति परार्थ होती है, क्योंकि पूर्णकाम होने से उसे अपना कोई स्वार्थ नहीं है ।[3] वार्तिककार के अनुसार ईश्वर के लिए कोई भी

1- अथवा अनुकम्पयैव सर्गसंहारावारभतामीश्वरः ।

न्या०म० भाग । पृ० 284

2- अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः । सर्गमन्तरेण च तत्फलभोगाय नरकादिसृष्टि-मारभते दयालुरेव भगवान् । उपभोगप्रबन्धेन परिश्रान्तानाम् अन्तरान्तरा विश्रान्तये जन्तूनां भुवनोपसंहारमपि करोतीति सर्वमेतत् कृपानिबन्धनमेव ।

न्या०म०भाग । पृ०284

3- परार्थं च प्रवृत्तिः स्वार्थाभावात् । आ०त०वि०पृ०422

पदार्थ हेय नहीं है, जिसको त्यागने के लिए वह प्रयत्न करे । हेय इसलिए नहीं है क्योंकि वह दुःखों से अतीत है । यह भी सम्भव नहीं है कि ईश्वर सुख की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता हुआ सृष्टि करता है, क्योंकि उसके लिए कोई भी पदार्थ उपादेय नहीं है, जिसे प्राप्त करने के लिए वह चेष्टा करे । उसे सभी पदार्थ प्राप्त रहा करते हैं ।[1] उनका कहना है कि सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है । वे किसी निजी प्रयोजन से जगत् की सृष्टि नहीं करते ।

जिस प्रकार अभिप्रायशून्य भूमि आदि जड़ पदार्थ में धारणादि क्रियाएं देखी जाती हैं, जब कि भूमि आदि के लिए कोई हेय और उपादेय पदार्थ नहीं होते । उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि करता है किन्तु किसी भी क्रिया में उसका अपना स्वार्थ नहीं होता ।[2] वह पूर्वपक्षियों के इस आक्षेप का खण्डन भी करते हैं कि ईश्वर अपनी विभूति का प्रदर्शन करने के लिए संसार की सृष्टि करते हैं । उनका कहना है कि ईश्वर अपनी विभूतियों के प्रदर्शनार्थ सृष्टि नहीं करता क्योंकि ऐसा मानने से उसमें स्वार्थ प्रसक्त हो जायेगा । अतः उक्त मत अमान्य है ।[3] सर्वदर्शनसङ्ग्रहकार ने भी

1- अथापमीश्वरः कुर्वाणः किमर्थं करोति लोके हि ये कर्तारो भवन्ति ते किञ्चिदुद्दिश्य प्रवर्तन्ते इदमाप्स्यामि इदं हास्यामि चेति न पुनरीश्वरस्य हेयमस्ति दुःखाभावात् नोपादेयं वशित्वात् । न्या0वा04/1/2। पृ0 466

2- किमर्थं तर्हि करोति तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तत इत्यदुष्टम् यथा भूम्यादीनि धारणादिक्रियां तत्स्वाभाव्यात् कुर्वन्ति तथेश्वरोऽपि तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तत इति प्रवृत्तिस्वभावकं तत्त्वमिति । न्या0वा04/1/2।पृ0467

3- विभूतिख्यापनार्थमित्यपरे ।जगतो वैरूप्यं ख्यापनीयमित्यपरे मन्यन्ते ।एतदपि तादृगेव न हि विभूतिख्यापनेन कश्चिदतिशयो लभ्यते न चाख्यापनेन किञ्चिद्धीयत इति । न्या0वा04/1/2। पृ0466-67

पूर्वपक्षियों को डाटते हुए कहा है कि नास्तिकों के शिरोमणि ! पहले आप ईर्ष्या से दूषी हुई अपनी आखों को बन्द कर लें तब विचार करें । करुणा से तो ईश्वर की प्रवृत्ति होती ही है । प्राकृतिकरूप से ही दुखी संसार की सृष्टि हो, ऐसा प्रसङ्ग नहीं आ सकता । क्योंकि उत्पन्न होने वाले प्राणियों के द्वारा किये गये विभिन्न पुण्यों और पापों के परिणाम स्वरूप (अपने सुख-दुःख की) विषमता तो रहेगी ही ।[1] इन्होंने नकुलीश शैव दर्शन के अन्तर्गत शैवों के मत को भी व्यक्त करते हुए कहा है कि परमेश्वर की सारी कामनाएं परिपूर्ण हैं, अतः कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रयोजन की उसे अपेक्षा नहीं रहती ।[2]

उदयनाचार्य का कहना है कि पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते कि दुःखमय सृष्टि करने के कारण ईश्वर में कारुण्य का अभाव हो गया है, क्योंकि पिता, अध्यापक और चिकित्सकों में उक्त कथन का व्यभिचार देखा जाता है । पिता आदि अपने पुत्र, शिष्य और रोगी के हित के लिए उनमें ताड़नादि द्वारा दुःख उत्पन्न करते हैं, फिर भी उनमें कारुण्य का अभाव कोई नहीं मानता ।[3] शायद श्री कबीर

1- अत्रोच्यते -नास्तिकशिरोमणे । तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान् । करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव । न च विसर्गतः दुःखमय सर्गप्रसङ्गः । सृज्य-प्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाकविशेषाद् वैषम्योपपत्तेः ।

स0द0सं0 अक्षपाददर्शनम् पृ0436

2- परमेश्वरस्य पर्याप्तकामत्वेन कर्मसाध्यप्रयोजनापेक्षाया अभावात् ।

स0द0सं0 नकु0शैवद0पृ027 ।

3- न च दुःखकृदया कारुण्यापवादः, जनकाध्यापकचिकित्सकादिषु व्यभिचारात् ।

आत0वि0पृ0422

की भी ऐसी ही सोच है ।[1] उदयनाचार्य का कथन है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि कुटिलताका ही ईश्वर द्वारा दुःखमय सृष्टि का किया जाना क्यों न माना जाय-तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि कुटिलता का कारण रागद्वेषात्मक दोष है, जब कि ईश्वर में उस दोष का अभाव है । दोष का उसमें अभाव इसलिए है क्योंकि उसमें मोह अर्थात् अज्ञानता नहीं है, एवं मोह का अभाव भी उसके सर्वज्ञ होने के कारण है ।[2]

जगदुत्पत्ति क्रीडार्थ मानने पर भी कोई अनौचित्य-नहीं -

यद्यपि पूर्वपक्षियों की तरह वार्तिककार को भी यह मत समीचीन नहीं लगता कि ईश्वर जगत् की सृष्टि क्रीड़ा के लिए करता है । उनका कहना है कि क्रीड़ा में वही व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं जिन्हें क्रीडा करने में आनन्द आता है । यदि क्रीड़ार्थी में सुखाभाव न होता तो वह क्रीड़ा करने की इच्छा ही न करता । अतएव लीलायुक्त सृष्टिविषयक प्रकृत मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर में दुःखाभाव है ।[3] जब कि इसके विपरीत जयन्तभट्ट का मानना है कि जगदुत्पत्ति को क्रीडार्थ मानने पर भी ईश्वर में कृतार्थता बाधित नहीं होती क्योंकि क्रीड़ा

1- गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ-गढ़ गाढे खोट ।
   अन्तर हाथ सहार दे बाहर-बाहे चोट ।। कबीर

2- अथ दौर्जन्यादेव किं नैवमिति चेत्, न दोषाभावात्, तदभावश्च मोहाभावात्, तदभावोऽपि सर्वज्ञत्वादिति ।

3- क्रीडार्थमित्येके एके तावद् ब्रुवते क्रीडार्थमीश्वरः सृजतीति तन्वेतदयुक्तम् क्रीडा हि नाम रत्यर्थं भवति विना क्रीडया रतिमविन्दतां न च रत्यर्थी भगवान् दुःखाभावादिति । दुःखिनश्च सुखोपगमार्थं क्रीडन्ति ।
   न्या0वा04/1/21 पृ0 466

मे दुःखी लोगों को भी प्रवर्तित होते हुए नहीं देखा जाता है ।[1]

सृष्टि की निरन्तरता की प्रसक्ति भी असम्भव है

पूर्वपक्षियों ने जो यह कहा है कि यदि ईश्वर में स्वतन्त्रता मानी जायेगी तो फिर सर्वदा जगत् की उत्पत्ति होती रहनी चाहिए । परन्तु न्याय-वार्तिककार का मानना है कि पूर्वपक्षियों का यह मन्तव्य न्यायसङ्गत नहीं है। उनका कहना है कि यद्यपि सृष्टि को ईश्वर का स्वभाव मान लेने पर कुछ आपत्तियाँ अवश्य खड़ी होती है क्योंकि ऐसा मानने पर जगदुत्पत्ति में निरन्तरता का प्रसंग उपस्थित होगा । अतएव फिर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों क्रियाएं सम्भव नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रवृत्ति के स्वाभाविक होने से वह निवृत्ति की ओर नहीं युक्त होगा। अतः उसकी एकरूपता होने के कारण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में क्रमिकता का अभाव रहेगा । अतएव "इस समय यह हो और यह न हो" ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि कारण में एकरूपता होने से कार्यभेद भी नहीं हो सकता ।

परन्तु वे इस समस्या के समाधान में कहते हैं कि ऐसा दोष सम्भव नहीं है क्योंकि ईश्वर बुद्धिविशिष्ट आत्मा है जो धर्माधर्मादि कारणों का आश्रय लेकर सृष्टि में प्रवृत्त होता है । अतएव सृष्ट्यनुकूल स्वभावरूप कारण की एकरूपता

1- क्रीडार्थेऽपि जगत्सर्गे न हीयेत क्रियार्थता ।
प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते न हि क्रीडासु दुःखिताः ।।

न्या०म०भाग । पृ० 284

जैसा दोष ईश्वर में नहीं माना जा सकता ।[1] उनका कहना है कि सभी कार्यों की एक साथ उत्पत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि बुद्धिमान से सापेक्ष एवं विशिष्ट कारणसमुदाय सर्वदा प्रवर्तित नहीं हो सकता । अतः जिनके सभी कारण समुदाय एक ही साथ सन्निहित हो जाते हैं उनकी उत्पत्ति समसमय में होती है । परन्तु जिनके सभी कारणों का सान्निध्य समसमय में नहीं होता तज्जन्य कार्य भी समसमय में नहीं होते । सभी कार्यों की सभी कारणसामग्री का सान्निध्य युगपद् नहीं होता । अतः सभी कार्यों की युगपद उत्पत्ति भी नहीं होती ।[2] माधवाचार्य ने भी कहा है कि परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रियाशक्ति अव्याहत है, जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है । परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है ।[3]

1- तद् स्वाभाव्यात् सततं प्रवर्तत इति चेद् अथ मन्यसे यदि प्रवृत्ति स्वभावकं तत्त्वं प्रवृत्ति निवृत्ती न प्राप्नुतः न हि प्रवृत्तिस्वभावके तत्त्वे निवृत्तिर्युज्यत इति क्रमेणोत्पत्तिर्न प्राप्नोति तत्वस्यैकरूपत्वात् इदमिदानीं भवत्विदमिदानीं न भवत्विति न युक्तम् न ह्येकरूपात् कारणात् कार्यभेदं पश्याम इति । नैष दोषः बुद्धिमत्त्वेन विशेषणात् बुद्धिमत्तत्त्वमिति प्रतिपादितम् ।

न्या०वा०4/1/21 पृ०467

2- बुद्धिमत्तया च विशिष्यमाणं सापेक्षं च न सर्वदा प्रवर्तते न सर्वमेकस्मिन् काले उत्पादयति यस्य कारणसान्निध्यम् तद्भवति यद् सन्निहित कारणं तन्न भवति च सर्वस्य युगपत्कारणसान्निध्यमस्ति अतः सर्वस्य युगपदुत्पादो न युक्तः ।

न्या०वा०4/1/2 पृ० 467

3- यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति तदप्ययुक्तम् । अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात् ।

स०द०स०नकुलीश शैव दर्शनम् पृ० 27।

उपर्युक्त प्रकार से आलोचना करने के पश्चात् यह सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर को संसार का निमित्त कारण माना जा सकता है । जीवों के किये हुए धर्माधर्म के आधार पर उनको उनके फलों के भोग्यार्थ ईश्वर इस सुख दुःखमयी संसार की सृष्टि करता है । और फिर उनके कर्मों के प्रति सापेक्ष रहकर ही इस संसार का प्रलयरूप विनाश भी करता है । परन्तु ईश्वर के इस प्रकार से जीवों के कर्मों के प्रति सापेक्ष रहने पर भी न्यायमत में किसी प्रकार से उसकी स्वतन्त्रता का ह्रास नहीं होता एवं न तो इस पर इस दुःखमयी संसार की उत्पत्ति को देखकर निर्दयता का ही आक्षेप लगाया जा सकता है क्योंकि ईश्वर में कृपालुता भी वर्तमान है । यदि उसमें निर्दयता मानेंगे तो फिर ईश्वर में भी रागद्वेषादि दुर्गुणों के होने से उसकी ईश्वरता खण्डित हो जायेगी और वह ईश्वर अस्मदादि के समान ही सिद्ध होने लगेगा । ईश्वर की जगत्सृष्टि के प्रति स्वतन्त्रता मानने से सतत् कार्योत्पत्ति रूप जगत्सृष्टि भी नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर के विवेकी एवं सर्वज्ञ होने के कारण वह सारे सृजनात्मक एवं विनाशात्मक कार्य सोच-समझकर करता है । जब उसकी सृजन की इच्छा होती है तब वह संसार की सृष्टि करता है और जब इसकी इच्छा विनाश की होती है तब वह विनाश में प्रवृत्त होता है । अतः उसमें किसी भी प्रकार के दोष नहीं प्रसक्त होते । अतः "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस अनुमान वाक्य के द्वारा क्षित्यादि के कर्तारूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि करना सर्वथा उचित है ।[1]

1- तस्मात् कुतार्किकोद्गीतदूषणाभासवारणात् ।

सिद्धस्त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः ।।

न्या०म०भाग । पृ0286

अतः उपरोक्त प्रकार से मीमांसा करने पर ईश्वर की जगन्निर्माण के प्रति कर्तृता सिद्ध हो जाती है । ईश्वरसाधक कथित अनुमान की पुष्टि एवं ईश्वर(सत्ता)विरोधी अनुमानों में अरुचि का उपपादन "विश्वतः" इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा भी किया गया है । जिसका तात्पर्य यह है कि एक ही परमेश्वर धावा भूमी की रचना करते हुए जीवों के धर्म एवं अधर्मरूप दोनों बाहुओं के साहाय्य से पतत्रों को अर्थात् परमाणुओं को परस्पर संयुक्त करते हैं ।[1] गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण नेकहा है कि मैं ही सभी कार्यों का कारण हूँ, मुझसे ये सभी कार्य उत्पन्न होते हैं ।[2]

इस प्रकार कथित रीति से अशरीरी परमेश्वर के सृष्टि के कर्तृत्व के उपपादन में पुराणादि के उन वचनों का जो विरोध उपस्थित होता है, जिनमें ब्रह्मा प्रभृति शरीरी को सृष्टि का कर्ता कहा गया है- का परिहार भी हो जाता है । अतः परमेश्वर ही ब्रह्मा आदि का शरीर धारण कर सृष्टि की रचना करते हैं । विश्वनाथ ने भी तो ईश्वर की सत्ता कृष्ण के रूप में स्वीकार करते हुए उनको जगत् रूपी वृक्ष का बीज अर्थात् निमित्तकारण कहा है ।[3]

1- विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
तै0आ010/280/1, श्वेता03/3

2- अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।
गी010/8

3- नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ।।
कारिका0 ।

कार्यत्वहेतुक अनुमानान्तर द्वारा ईश्वरसिद्धि -

कार्यत्व हेतु के आधार पर अनुमानान्तर द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है । "क्रियते जन्यते शाब्दबोधोऽनेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उदयनाचार्य द्वारा प्रस्तुत कार्यायोजन" [न्या०कुसु०5/1] का "कार्य" पद "तात्पर्य" का वाचक है । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रानुसार करण अर्थ में भी "ण्यत्" प्रत्यय हो सकता है । यह "तात्पर्य" विशेष प्रकार की इच्छा" रूप ही है । क्योंकि "तात्पर्य"पद की व्युत्पत्ति "तदेव परमुद्देश्यम् यस्य इति तत्परः, तत्परस्य भावः तात्पर्यम् । इस प्रकार की है । जिस उद्देश्य से अर्थात् जिस अर्थविषयक बोध की इच्छा से जो शब्द वक्ता के द्वारा प्रयुक्त होता है, वही उद्देश्य "तत्पर" शब्द का अर्थ है । "तत्पर" का भाव ही "तात्पर्य" है । अतएव यह तात्पर्य शब्द वक्ता की इच्छा का ही बोधक है । एतदनुसार सभी वाक्यों का कोई तात्पर्यार्थ है अतः वेदरूप वाक्यों का भी कोई तात्पर्यार्थ होगा ।

जैमिनि ने कहा है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य कार्यत्व में ही है ।[1] उनका कहना है कि पुरुषों की इष्ट कार्यों में प्रवृत्ति के द्वारा एवं अनिष्ट कार्यों में निवृत्ति के द्वारा ही वेद सार्थक हैं ।[2] शङ्कराचार्य ने भी कहा है कि पुरुषों की

1- तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः ।

जै०सू० 1/1/25

2- आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।

जै०सू० 1/2/1

किसी क्रियाविशेष में प्रवृत्त करता हुआ या किसी क्रियाविशेष से निवृत्त कराता हुआ ही शास्त्र सार्थक होता है ।[1] अतः उदयनाचार्य ने भी कहा है कि वेद भाव्य-अर्थक कार्यों में पुरुष को प्रवृत्त करता हुआ अथवा निवृत्त करता हुआ सार्थक है । परन्तु अर्थवादादि वाक्य यद्यपि सीधे किसी पुरुष को किसी कार्य के प्रति प्रवर्तक अथवा निवर्तक नहीं होते फिर भी वह तात्पर्य के बल से उस कार्य के प्रति प्रवर्तक अथवा निवर्तक होते हैं । वे स्तुतिवाक्य के द्वारा प्रवर्तक होते हैं एवं निन्दापरक वाक्यों के द्वारा निवर्तक होते हैं ।[2] जैसे कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि प्रवर्तक वाक्य साक्षात् ही लोगों को अग्निहोत्रादि कार्यों में प्रवृत्ति का कारण है एवं "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि निषेधक वाक्य भी साक्षात् ब्राह्मण हननादिरूप अनिष्ट कार्यों से पुरुषों को निवृत्त करते हैं । इसी प्रकार अर्थवादादि वाक्य यद्यपि साक्षात् प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के जनक नहीं है फिर भी परम्परा से ही सही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के बोधक अवश्य हैं । जिस प्रकार "परिणतिसुरसमाम्रफलं" इत्यादि अर्थवाद

1- अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रं तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम् ।

शा०भा०1/1/4 पृ० 54

2- आम्नायस्य हि भाव्यार्थस्य कार्ये पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्ती/भूतार्थस्य तु यद्यपि नाहत्य प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं वा, तथापि तात्पर्यतस्तत्रैव प्रामाण्यम् ।तथा हि विधिविधाविशेषावसीदन्ती स्तुत्यादिभिरुत्तभ्यते । प्रशस्ते हि सर्वः प्रवर्तते, निन्दिताच्च निवर्तत इति स्थितिः।

न्या०कु०पृ०520

वाक्य में यद्यपि प्रवृत्ति का साक्षात्बोधक कोई पद नहीं है तथापि प्रशंसा के द्वारा "भोक्तव्यम्" इत्यादि पदों की कल्पना के द्वारा वह भी प्रवृत्तिजनक है । इसी प्रकार "परणति विरसं पनसफलम्" इस निन्दाबोधक वाक्य में यद्यपि कटहल खाने से निवृत्ति का साक्षात् बोधक कोई पद नहीं है फिर भी कटहल की निन्दा के द्वारा यह वाक्य भी कटहल खाने से निवृत्ति का बोधक अवश्य है ।

अतः इस प्रकार के विवेचना से यह सिद्ध होता है कि वेद बिना प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के कार्योत्पादना में समर्थ नहीं होते । अतः अर्थवादादि सिद्धार्थबोधक वाक्य सहित सभी वाक्य साक्षात् अथवा परम्परया प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के जनक अवश्य हैं । ऐसा ही व्योमवती में भी कहा गया है ।[1] इसलिए सभी वाक्यों का तात्पर्य "कार्यत्व" में ही है । अतः वेदवाक्यों का तात्पर्य भी कार्यत्व में ही है । परन्तु उस तात्पर्य का आश्रयत्व अस्मदादि साधारण जनों में नहीं है, क्योंकि वेदवाक्यों का तात्पर्य अतीन्द्रिय है । अतः अतीन्द्रिय तात्पर्य का आश्रयत्व अस्मदादिकों में सम्भव नहीं है । साथ ही वह तात्पर्य बिना आधार के नहीं रह सकता । अतः वेद-वाक्यों के तात्पर्य का आश्रय कोई विशिष्ट पुरुष अवश्य है जिसका नाम परमेश्वर है । इस प्रकार से कार्यत्व हेतु के आधार पर दूसरे प्रकार से भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

1- स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तकत्वं, निन्दायाश्च निवर्त्तकत्वं अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषिद्धयोर्विवेकेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम् । तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टम् ।

व्योम० पृ० 306

चतुर्थ अध्याय

वेदकर्त्ता के रूप में ईश्वरसिद्धि

। चतुर्थ अध्याय ।

वेदकर्ता के रूप में ईश्वरसिद्धि

पिछले अध्याय के अन्तर्गत जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया जाना परमावश्यक है। वहाँ पर साध्य ईश्वर की सिद्धि के लिये सामान्यतोदृष्टानुमान के प्रयोग द्वारा अदृष्ट की सत्ता स्वीकार की गई है। परन्तु यहाँ पर यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि स्वर्गसाधक जिस हेतु रूप अदृष्ट की कल्पना पिछले अध्याय में की गई है, उस हेतु रूप अदृष्ट का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह कार्य होने से जन्य है एवं किसी न किसी स्वोत्पादक कारण से ही उत्पन्न हुआ है। यद्यपि उस अदृष्टोत्पादक यागादिकारणों का अस्मदादिकों को प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है फिर भी यागादि के अदृष्टसाधनत्व का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान साधारण जनों को नहीं है। यागादि की स्वर्गसाधनता का ज्ञान ही यागादि कार्य का प्रवर्तक होता है क्योंकि यागादि में जब तक अदृष्टसाधनत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो जायेगा तब तक "यागादि अदृष्टके साधन है" इस वाक्य का व्यवहार रूप प्रयोग अनुपपन्न रहेगा। कारण कि यागादि कार्यों में जिनके फल स्वर्गादि सर्वथा अदृष्ट हैं एवं जिनके अनुष्ठान में बहुत से धन का व्यय होता है तथा शारीरिक परिश्रम भी बहुत अपेक्षित होता है- तब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकती जब तक कि उन अनुष्ठानों के बोधक वाक्यों में प्रामाण्य का

अवधारण न हो जाय।[1] वह यागादि की स्वर्गसाधनता वैदिक[2] वाक्यों से ज्ञात होती है।[3] अतः जब तक वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य का निर्धारण नहीं हो जायेगा तब तक अदृष्ट के साधक यागादि के प्रति लोगों की प्रवृत्ति का होना मुश्किल है। लेकिन शब्दों के प्रामाण्य के प्रसंग में लोक में यह देखा जाता है कि उसका प्रामाण्य अपने ज्ञान के लिये वक्तृगत यथार्थज्ञानादि गुणों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, अतः वेदों में भी उसी प्रकार से वक्ता में गुणावधारणमूलक प्रामाण्य जब तक अवधारित नहीं हो तब तक उनसे विहित यागादि का निःशङ्क अनुष्ठान नहीं हो सकेगा।[4] चूंकि ब्राह्मणादि सभी वर्णों के लोग एवं ब्रह्मचर्यादि सभी आश्रमों के लोग बिना किसी विरोध के वेदों के द्वारा प्रतिपादित निर्देशों का पालन करते हैं। अतएव यदि किसी साधारण पुरुष से वेदों का निर्माण हुआ होता तो बुद्धिपूर्वक चलने वाले इतने शिष्ट जनों के द्वारा वेदविहित अर्थों का बिना विरोध के अनुष्ठान न होता, जैसे कि बुद्धादि के वाक्यों का अनुसरण कुछ ही व्यक्तियों के द्वारा होता है और वह भी विरोध के बाद। वेदों को यदि बुद्धादि वाक्यों

1- अदृष्टे तु विषये प्रचुरवित्तव्ययशारीरायाससाध्ये तावत् प्रेक्षावन्न प्रवर्तते, यावत् तद्विषये वाक्यस्य प्रामाण्यं नावधारयति।

न्या०क०पृ०522-23

2- मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आप० सू०

3- यागादेः स्वर्गसाधनत्वस्यवेदगम्यत्वात्

विवृति पृ० 89

4- दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्, तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यान्निर्विचिकित्समनुष्ठानां स्यात्।

न्या०क०पृ०523

की तरह अप्रामाणिक माना जायेगा तो वर्णाश्रमियों में से भी किसी को अप्रामाण्य ज्ञान के द्वारा वेदों से अप्रमा ज्ञान भी होता । इससे यह अनुमान होता है कि जिसका प्रामाण्य सभी को स्वीकार है वह प्रमाण ही होता है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भाँति वेद भी सभी व्यक्तियों में प्रमा ज्ञान का उत्पादक होने के कारण प्रमाण ही है ।[1] अतएव समस्त वेद अस्मदाद्युत्कृष्ट किसी ऐसे सर्वज्ञ, पुरुष की रचनायें हैं जिसमें यागाद्यदृष्टसाधनत्व का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है । अतएव यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग साधनता के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से युक्त पुरुष विशेष ईश्वर ही वेद का रचयिता है । शंकर मिश्र ने कहा है कि स्वतन्त्र पुरुष से निर्मित होने से ही वेद में ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध होता है, क्योंकि अस्मद् सदृश जीवात्माओं को हजारों शाखा वाले वेद के निर्माण करने में स्वतंत्रता नहीं हो सकती । इसी प्रकार प्रमा की उत्पत्ति गुणों से होने के कारण वेद के यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति भी गुणों से ही होगी और वह गुण वक्ता का यथार्थ वाक्यार्थज्ञान विषयक ही है-इस प्रकार से स्वीकार करना पड़ेगा । अतएव ऐसा होने से उसी पुरुष विशेष को वेद का वक्ता कहना चाहिये जो वेदोक्त स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदिकों के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का आधार हो और ऐसा वक्ता आप्त-पुरुष ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता ।[2] उन्होंने कहा है

1- सर्वैर्वर्णाश्रमिभिरविगानेन तदर्थपरिग्रहात्। यत्किन्चनपुरुषप्रणीतत्वे तु वेदस्य बुद्धा- दिवाक्यवन्न सर्वेषां परीक्षकाणामविगानेन तदर्थानुष्ठानं स्यात् कस्यचिदप्रामाण्य- बोधेन विसंवादप्रतीतेरपि सम्भवात्। यत्र च सर्वेषां संवादनियमस्तत्प्रमाणमेव, यथा प्रत्यक्षादिकम् ।प्रमाणं वेदः सर्वेषामविसंवादिज्ञानहेतुत्वात्, प्रत्यक्षवत् । न्या०पृ०4
2- तत्प्रणीतत्वन्च स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वादेव सिद्धम्, नत्वस्मदादीनां सहस्रशाखावेद- प्रणयने स्वातन्त्र्यं सम्भवतीत्युक्तत्वात्।किन्च प्रमाया गुणजन्यत्वेन वैदिक प्रमाया अपि गुणजन्यत्वमावश्यकम् । तत्र च गुणो वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानमेव वाच्यः, तथा च तादृश एव वेदे वक्ता यः स्वर्गापूर्वादिविषयकसाक्षात्कारवान् ।
उप०1/2/9

कि ईश्वरकर्तृक होने से ही वेदों का प्रामाण्य है । चूँकि वेद वाक्यस्वरूप होने से पौरुषेय हैं और अस्मदादि असर्वज्ञ लोगों के द्वारा उस सहस्रशाखा वाले वेदों का वक्तृत्व संभव नहीं है क्योंकि वे अतीन्द्रियार्थ विषयों का वर्णन करते हैं जब कि अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्ष हम लोगों को नहीं हो सकता । किन्तु आप्तोक्त वेद महाजन-परिगृहीत हैं । जो आप्तोक्त नहीं होता वह महाजनपरिगृहीत नहीं होता । अतः महाजनपरिगृहीत होने से ही इन वेदों का आप्तोक्त सिद्ध है । अतः आप्तोक्त होने से वह स्वतन्त्रपुरुष द्वारा प्रणीत हैं ।[1] शंकर मिश्र ने इसके पहले भी वैशेषिक सूत्र के "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्"[2] की टीका में लिखा है कि "तत्" यह पद प्रसिद्धि से सिद्ध होने के कारण ईश्वर वाचक है । इस कारण ईश्वर से निर्मित होने के कारण आम्नाय अर्थात् वेद का प्रामाण्य है ।[3] उनका कहना है कि यदि "तत्" पद को "धर्म" के अर्थ में भी स्वीकार किया जायेगा तो भी वेद का प्रामाण्य निश्चित होता है क्योंकि वह धर्म का प्रतिपादन करता है अतः वह प्रमाण ही

1- तद्वचनात्तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम् । तथाहि वेदास्तावत् पौरुषेया वाक्यत्वादिति साधितं न चास्मदादयस्तेषां सहस्रशाखा-वच्छिन्नानां वक्तारः सम्भाव्यन्ते, अतीन्द्रियार्थत्वात, न चातीन्द्रियार्थ-दर्शिनोऽस्मदादयः । किन्चाप्तोक्ता वेदा महाजनपरिगृहीतत्वेद तस्मादाप्तो-क्तम् । स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वन्चाप्तोक्तत्वम् । उप०10/2/9

2- वै०सू० 1/1/3

3- तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा "तदप्रामाण्यमनृत-व्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इति गौतमीय सूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते तथा च तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम् ।

होता है ।[1] अतएव वेद का प्रामाण्य सुनिश्चित होने से उसके कर्ता ईश्वर की सिद्धि हो जाती है । हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि शाब्दी प्रमा चूंकि वक्ता के यथार्थवाक्यार्थ ज्ञानरूप गुण से उत्पन्न होती है, अतएव वेद का प्रामाण्य सुनिश्चित होने से वक्तृयथार्थ-वाक्यार्थ धी रूप गुण के आश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है ।[2] नारायणतीर्थ ने कहा है कि शाब्दी प्रमा के प्रति वक्ता का यथार्थज्ञान गुण-रूपेण ही हेतु होता है, क्योंकि अन्य प्रकार से शब्द के प्रमात्व का निश्चय असम्भव है । अतएव ईश्वर का अभाव स्वीकार करने पर वेद से शाब्दी प्रमा का उत्पादन कैसे सम्भव हो सकेगा ? क्योंकि वक्ता का अभाव होने से वेदरूप शब्द के कारण कर्ता का अभाव अवश्य रहेगा एवं कारणाभाव में कार्याभाव अवश्यम्भावी है । अतएव वेद के कारणरूप में ईश्वर को अङ्गीकार करना आवश्यक है ।[3] उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व विवेक में कहा है कि ईश्वर में वचन की शक्ति है तथा वह परार्थ में ही सदा रत रहता है । एतदर्थ वह वेद का उपदेश करता है । जो हित और अहित के

1- यद्वा तदिति सन्निहितं धर्ममेव परामृशति तथा च धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात् आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, यदि वाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाण-मेव यत् इत्यर्थः । उप० 1/1/3

2- शाब्दीप्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थधीरूपगुणजन्या इति गुणाधारतया ईश्वर सिद्धिः । विवृति पृ० 10

3- शाब्दप्रमां प्रति वक्तृयथार्थज्ञानं गुणविधया हेतुः, अन्यस्य तथात्वासम्भवात् । तथा चेश्वराभावे वेदात् कथं शाब्दप्रमोत्पादः स्यात् वक्तुरभावे नोपदर्शित-कारणाभावाद, तदुपदर्शितकारणसम्पत्त्यर्थमीश्वरोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति । कुसु०कारि० व्या०पृ027

विभाग को जानता है तथा जिसके कण्ठ-तालु आदि स्थान एवं संवृत-विवृत आदि प्रयत्न ठीक हैं वह परोपकार के अभिप्राय से अज्ञानी व्यक्ति को अवश्य ही उपदेश देगा। जैसे किसी अन्धे व्यक्ति को "दाहिने से जाओ बायें से मत जाओ" ऐसा पामर व्यक्ति भी उपदेश करता है। एवमेव भगवान् भी अज्ञानी जन के लिए उपदेश करता है।[1] उनका कहना है कि पूर्वपक्षियों की यह आशंका कि ईश्वर में शरीराभाव के कारण वह वर्णोत्पत्ति के कारणभूत ताल्वादि का अधिष्ठाता हुए बिना वर्णों का कर्ता नहीं हो सकता है -ठीक नहीं है, क्योंकि जिस कार्य का जो कारण अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सिद्ध है, उस कारण की तथा उसके अधिष्ठाता की सत्ता वैसे ही अनिवार्य है, जैसे स्थूल अवयवी की सिद्धि के लिए उसके अवयव रूप कारण एवं उसके अधिष्ठाता की सत्ता अनिवार्य सिद्ध होती है। फिर सभी कार्यों के प्रति शरीर कारण नहीं होता।[2] उनके अनुसार आयुर्वेद के समान ऋगादिवेद भी महाजन द्वारा परिगृहीत होने के कारण सर्वज्ञ ईश्वर कर्तृक हैं।[3] न्यायमञ्जरीकार श्रीजयन्तभट्ट ने

1- वक्तृशक्तो सत्यां परार्थैकतानत्वात्। यो हिताहित विभागज्ञ विद्वान् परार्थाभिप्रायः सन् स्थानकरणपाटवे सत्यविदुषे अवश्यमुपदिशेत्, यथा अन्धाय "दक्षिणेन याहि वामेन मा गाः" इति पृथग्जनोऽपि, तथा भगवानिति।

आ०त०वि०पृ०428

2- न च तत्कारणान्यनधितिष्ठतः तत्कर्तृत्वमीश्वरस्यापीति चेत् न, यस्य कार्यस्य यत् कारणमन्वयव्यतिरेकसिद्धं तत्कारणाधिष्ठानयोः स्थूल सिद्धयर्थं तदवयवपरम्पराकारणाधिष्ठानवदवश्यम्भावनियमात्। न च सर्वत्र कार्ये कायः कारणमिति प्रागुपेक्षितः। वही पृ०43।

3- यथा चानेन दृष्टान्तेन महाजनपरिगृहीतत्वाद् वेदा अपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते

वही पृ०43।

कहा है कि वेद का कर्ता कोई ऐसा वैसा पुरुष नहीं है, अपितु त्रैलोक्य के निर्माण में निपुण परमेश्वर ही वेद का भी कर्ता है । वह देव परम ज्ञाता नित्यानन्द, परम दयालु एवं क्लेश[1] कर्म[2] विपाकादि[3] के परामर्श[4] से रहित है ।[5]

इस प्रकार से विवेचन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदों की रचना ईश्वरकर्तृक है क्योंकि वही ऐसा सर्वज्ञ हो सकता है जो कि वेदाभिहित स्वर्ग, अपूर्वादि का साक्षाद् दृष्टा है । चूंकि वेदों में गूढ़ से गूढ़ एवं अप्रत्यक्ष विषयों का विवेचन किया गया है, जिसका प्रत्यक्ष होना हम लोगों के वश की बात नहीं है । अतएव वेद-प्रामाण्य के आधार पर उसके कर्ता ईश्वर की सिद्धि होना स्वाभाविक है क्योंकि हम जैसे अल्पज्ञ लोगों में वैदिक ज्ञान की आश्रयता सर्वथा असंभव है। वेद प्रामाण्य के आधार पर उसके कर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि केवल न्याय एवं

1- अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।

यो0सू02/3

2- कुशलाकुशलानि कर्माणि ।

यो0भा01/24

3- सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

यो0सू02/13

4- क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयाः ।

यो0सू02/12

5- वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः ।

किन्तुत्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः ।।

सदेवः परमोज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः ।

क्लेश कर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः ।।

न्या0म0भाग।पृ0267

वैदिक मतावलम्बी ही नही स्वीकार करते अपितु वेदान्ती भी वेदों को ईश्वर प्रमाणक एवं ईश्वर के प्रामाण्य से वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्रगत पठित "शास्त्रयोनित्वात"[1] सूत्र पर भाष्य लिखते समय शङ्कराचार्य ने कहा है कि अनेक विद्या-स्थानों से उपकृत दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म ही है। क्योंकि ऐसे सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर किसी अन्य से नहीं हो सकती।[2] वृहदारण्यक में भी कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महान सद्रूप ब्रह्म के निःश्वास हैं।[3] मत्स्य पुराण में कहा गया है कि ईश्वर के मुख से सभी वेद निकले एवं प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न भिन्न श्रुतियों का विधान है।[4] इस श्रुति से सिद्ध होता है कि जैसे निःश्वास पुरुष की स्वाभाविक

1- ब्रह्मसूत्र 1/1/3/3

2- महत् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः, सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः कारणब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवतोऽस्ति।

शारी०भा० 1/1/3/3 पृ० 43-44

3- अस्यमहतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

वृहदारण्यक 2/4/10

4- अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।

प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते॥

मत्स्य पुराण अ० 3

क्रिया है, वैसे ही वेदों की रचना भी ईश्वर के निःश्वास की भाँति उसकी स्वाभाविक क्रिया है ।

वेदाप्रामाण्य की आशंका द्वारा ईश्वर-सिद्धि के विरुद्ध पूर्वपक्ष -

यदि पूर्वपक्षी बौद्धादि वेदों के अप्रामाण्य की शङ्का इस आधार पर करें कि चूँकि वेद, अनृत, व्याघात एवं पुनरुक्ति दोष से दूषित हैं, अतएव उनका प्रामाण्य खण्डित हो जाने के कारण उसके आप्तस्वरूप सर्वज्ञ कर्ता ईश्वर का भी अनुमान बाधित हो जायेगा । वेदों के अप्रामाण्य की कल्पना को न्यायसूत्रकार ने पूर्वपक्ष की ओर से उठाया है ।[1] सर्वदर्शनसंग्रह कार श्री माधवाचार्य ने भी चार्वाकों की ओर से कहा है कि अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रयोजन केवल जीविका प्राप्ति है क्योंकि वेद अनृत, व्याघात एवं पुनरुक्ति दोष से दूषित होने के कारण धूर्तों के प्रलापमात्र हैं । अपने को वेदज्ञ समझने वाले धूर्त अगुलाभगतों ने आपस में ही वेद को अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति जैसे दोषों से दूषित किया है ।[2] उन्होंने बृहस्पति का एक आभाणक भी इस मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है ।[3] इस प्रकार न्याय-

---

1- तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।   न्या०सू०2/1/58

2- अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषैः दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं कर्मकाण्ड-प्रामाण्यवादिभिः ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च-प्रतिक्षिप्तत्वेन, त्रय्याधूर्तप्रलापमात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्र-प्रयोजनत्वात् ।
स०द०सं० {चार्वाक दर्शन} पृ०6

3- अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।।

कौलिकों ने जो वेदप्रामाण्य को स्वीकारकरके तदाधारतया सर्वज्ञ आप्त ईश्वर की कल्पना की है, वह स्वयं ही निराकृत हो जाती है । ऐसे अप्रामाणिक वेद का कर्तृत्व तो किसी भी सामान्य व्यक्ति में भी स्वीकार किया जा सकता है। अतः वेद-प्रामाण्य के आधार पर तत्कर्तृत्वेन ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।

वेद के विरुद्ध अनृतादि दोषों का परिहार-सिद्धांत पक्ष-

वेदगत अनृत दोष का परिहार -

उपर्युक्त तीनों दोषों के उद्धारार्थ महर्षि गौतम ने तीन सूत्रों की रचना की जो कि प्रत्येक सूत्र एक-एक दोष का निवारण करते हैं । वे अनृत दोष के परिहारार्थ कहते हैं कि वेदों में अनृत दोष नहीं है क्योंकि पुत्रेष्टि यागादि के सम्पन्न होने पर भी पुत्रादिरूप फलादर्शन के प्रति कर्म, कर्ता अथवा साधन में वैगुण्य कारण होता है ।[1] शङ्कर मिश्र का इस विषय में कहना है कि जन्मान्तर में पुत्र रूप फल मानने से अथवा कर्म, कर्ता, तथा साधनों में विगुणतारूप अङ्गहीनता होने के कारण फलाभाव से वेदों में अनृतत्वदोष नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदोक्त साङ्गकर्म ही फल को अवश्यम्भावी बनाता है - यह निश्चित है ।[2]

1- न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् । न्या०सू० 2/1/59

2- यच्चोक्तम्-"अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इति तत्रानृतत्वे जन्मान्तरीय-फलकल्पनम् कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यकल्पनं वा, श्रौतात् साङ्गात् कर्मणः फलावश्य-म्भावनिश्चयात् ।

उप० 1/1/3

व्याघात दोष का परिहार -

नैयायिकों की दृष्टि में व्याघात दोष भी नहीं है । उनका कहना है कि वेद में "उदिते जुहोति" (उदितकाल में हवन करना चाहिए), "अनुदिते जुहोति" (अनुदित काल में हवन करना चाहिए), समयाध्युषिते जुहोति (अध्युष: काल में हवन करना चाहिए) इस प्रकार से हवन के लिए उदित काल, अनुदित काल एवं अध्युष: काल ये तीन कालविशेष निर्दिष्ट है । परन्तु उसी वेद में "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति" अर्थात् जो उदित काल में हवन करता है उसकी आहुति "श्याव" नामक देवताओं का कुत्ता खा जाता है । "शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति" अर्थात् जो अनुदित काल में हवन करता है उसकी आहुति शबल नामक देवताओं को कुत्ता खा जाता है, और "श्यावशबलौ वस्याहुतिमभ्यवहरत: य: समयाध्युषिते जुहोति" अर्थात् जो अध्युष: काल में हवन करता है उसकी आहुति श्याव और शबल नामक देवताओं के कुत्ते मिलकर खा जाते हैं, इस प्रकार स्पष्टत: वेद में प्रथम बार बताये गये हवन-काल की निन्दा करके पुन: उसी विहित हवन काल से बचने का उपदेश करने के कारण वेद व्याघात दोष से युक्त होने से प्रमत्तादि वाक्यों की तरह अश्रद्धेय हो जाते हैं ।

1- ~~न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ।~~ ~~न्या०सू०2/1/59~~

2- ~~यच्चोक्तम्- "अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य:" इति तत्रानृतत्वे अन्यान्तरीय फलस्यानय कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यकल्पने वा, [illegible] कर्मण: फलानुत्पाद-निश्चयात् ।~~

~~[illegible] 1/1/3~~

न्यायपक्ष ने व्याघात दोषका परिहार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि हवन के तीन काल अनुष्ठान भेद अथवा उपासक भेद से बनाये गये हैं उपरोक्त श्रुतियों का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति उदित, अनुदित अथवा अध्युषः काल में से स्वकर्मानुकूल किसी एक काल का निश्चय करने के बाद भविष्य में उस काल विशेष का अतिक्रमण करके तद्भिन्न कालों में हवन का अनुष्ठान करता है तो ऐसे साधक की आहुतियाँ निरर्थक हो जाती हैं। न्यायसूत्रकार ने कहा है कि किसी समय में हवन करने के लिये स्वीकार करके पुनः भिन्न काल में हवन करने वाले को उक्त दोष कहा गया है अतः वेदों में व्याघात दोष का भी आरोप नहीं किया जा सकता।[1] न्यायभाष्यकार का कहना है कि जो अभ्युपेत हवन काल को छोड़कर अन्य काल में हवन करता है, ऐसे अभ्युपगत कालभेद में यह दोष कहा गया है-"श्याव इसकी आहुति को खा डालता है जो उदित समय में हवन करता है" यह विधिभ्रंश में निन्दापरक श्रुति है। अतः इससे वचन व्याघात नहीं होता।[2] उपस्कारकार का भी मानना है कि वेदों में व्याघात दोष नहीं है क्योंकि सूर्योदय आदि तीन कालों में से किसी काल में हवन करने की विशेष रूप से प्रतिज्ञा कर जो हवनकर्ता उससे भिन्न काल में हवन करता है उसके हव्यभाग को देवताओं के कुत्ते श्याव तथा शबल खा जाते हैं-

---

1- अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्। न्या0सू02/1/59

2- योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति ततोऽन्यत्र जुहोति तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते-"श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति" तदिदं विधिभ्रंशे निन्दावचनमिति। न्या0भा02/1/63

इत्यादि रूप से निन्दा का प्रतिपादन "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति" इत्यादि वाक्यों से किया गया है ।[1]

<u>पुनरुक्ति दोष का परिहार -</u>

नैयायिक वेदों में पुनरुक्ति दोष का भी परिहार करते हैं । उनका कहना है कि वेदों में पुनरुक्ति दोष का सर्वथा अभाव है, जैसा कि न्यायमंजरीकार ने कहा है ।[2] गौतम ने कहा है कि पूर्वपक्षियों द्वारा कथित पुनरुक्ति दोष वेदों में नहीं है । क्योंकि किसी मंत्र को दुहराना उस मंत्र का पुनरुक्ति नहीं अपितु उसका अनुवाद या अनुकथन मात्र है ।[3] न्यायभाष्यकार का कहना है कि निरर्थक अभ्यास पुनरुक्त होता है परन्तु सार्थक अभ्यास अनुवाद कहलाता है । सामिधेनी ऋचाओं मे से "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" अर्थात् प्रथम की तीन आवृत्ति और

1- न च व्याघातोऽपि उदितादि होमं विशेषतः प्रतिज्ञाय तदन्यकाले होमानुष्ठाने "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति" इत्यादि निन्दा प्रतिपादनात् ।

उप02/1/3

2- तत्रानुष्ठानवैदिककालत्रितयचोदनात् ।
यो यस्य चोदितः कालो लङ्घनीयो न तेन सः ।।
तत्रचान्यतमं कालमभ्युपेत्यैनमुज्झतः ।
निन्देति च विरोधात् कश्चिदुर्वाधिनोभयोः ।।

न्या0म0भाग । पृ0 399

अंतिम की तीन आवृत्ति करें- इस श्रुति में यह अभ्यास सार्थक होने से अनुवाद है ।[1] जिससे वेदों में पुनरुक्ति दोष का भी अभाव है । न्यायमञ्जरीकार ने कहा है कि अभ्यास में पुनरुक्ति कार्यार्थ होने से दोषमुक्त है ।[2] उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि आयुर्वेद अप्रमाण नहीं है क्योंकि आयुर्वेद की सफल प्रवृत्ति अधिकता प्रायः देखी जाती है । यदि कहीं उसकी निष्फलता देखी भी जाती है तो वह काकतालीय है तथा कर्ता कर्म एवं साधन के वैगुण्य के कारण है । पुनः जब कर्ता कर्म और साधन में सादगुण्य आ जाता है तब ही उस आयुर्वैदिक प्रयोग से ही आरोग्य रूप फल की सिद्धि हो जाती है ।[3] न्यायमञ्जरीकार का कहना है कि जो यह आक्षेप करते हैं कि वेदों के द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों में कुछ निष्फल भी होते हैं जिससे निःशङ्क रूप से प्रामाण्य का विघटन होता है- यह आक्षेप तो उन अनुष्ठानों की यथाविहित सामग्री में वैगुण्य की कल्पना करके भी हटाया जा सकता है । इन अनुष्ठानों के विधान के अनुसार सामग्री के द्वारा जो अनुष्ठान किया जाता है वह अवश्य ही सफल दीखता है ।[4] अतः जयंत भट्ट का कहना है कि अभ्यास में फलरहित पुनरुक्ति ही

1- अनर्थकोऽभ्यासः = पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यास = अनुवादः । योऽयमभ्यासः "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इत्यनुवाद उपपद्यते अर्थवत्त्वात् ।
न्या०भा०2/1/62

2- अभ्यासे पौनरुक्त्यन्च कार्यार्थत्वाददूषणम् ।
संपाद्यं पाञ्चदश्यं हि सामिधेनीषु चोदितम् ।।
न्या०म०भाग । पृ०400

3- न तावदयमायुर्वेदोऽप्रमाणम्, संवादस्य प्रायिकत्वात् । विसंवादस्यकाकतालीयतया-कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यहेतुकत्वात् । पुनस्तत्र सादगुण्ये तत एव फलसिद्धेः । न च निर्मलस्तथा भवितुमर्हति ।
आ०त०वि०पृ०429

4- यत्तु दृष्टार्थेषु कर्मस्वनुष्ठानात् क्वचित् फलादर्शनं न तदस्य प्रामाण्यं प्रतिक्षिपति,

दोष होती है परन्तु वेद स्थल में पुनरुक्ति निष्फल नहीं है । इस प्रकार से व्याघात, अनृत एवं पुनरुक्ति वेद प्रामाण्य को शिथिल नहीं करते ।[1]

वेदप्रामाण्य की स्थापना -

§1§ महर्षि गौतम ने इस प्रकार से वेदाप्रामाण्य साधक दोषों का निराकरण करने के बाद उसका प्रामाण्य सिद्ध करते हुये कहते हैं कि मंत्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह सभी वेदों का भी प्रामाण्य है ।[2] वात्स्यायन ने आयुर्वेद की प्रामाण्यता में कहा है कि आयुर्वेद जो उपदेश करता है कि यह करके इष्ट§स्वास्थ्य§ को प्राप्त किया जा सकता है अथवा यह न करके अनिष्ट §रोग§ से छुटकारा पाया जा सकता है, इस प्रकार के उपदेश के अनुसार चलने से वैसा ही सत्यार्थ अर्थात् अनुकूल कार्य होता देखा गया है ।[3] अतएव आयुर्वेद का प्रामाण्य सिद्ध ही है ।

1- अभ्यासे फलरहिते हि पौनरुक्त्यं
दोषः स्यादिह तु न तस्य निष्फलत्वम् ।
व्याघातानृतपुनरुक्ततादि तस्माद
वेदस्य श्लथयति न प्रमाणभावम् ।।

न्या0म0भाग । पृ0 400

2- मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्यात् । न्या0सू02/1/69

3- तत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते-इदं कृत्वेष्टमधिगच्छति, इदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति, तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः ।

न्या0भा02/1/69

वे आयुर्वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के बाद मंत्रों के प्रामाण्य के समर्थन में भी तर्क देते हैं। उनका कहना है कि मंत्रों से भी विष, भूत-प्रेत तथा टोना-टोटका का प्रतिषेध देखा जाने से मंत्रों की सत्यार्थता स्पष्ट है, अतः उनका भी प्रामाण्य है।[1] मंत्र तथा आयुर्वेद का यही प्रामाण्य है कि उसमें जो कुछ कहा गया है उसकी सत्यता की परीक्षा में वह खरा उतरा है। परन्तु इनके प्रामाण्य का कारण क्या है? इस विषय में विचार करने से यही स्वीकार करना होगा कि इन सभी मंत्रों का तथा आयुर्वेद का वक्ता वही आप्त पुरुष है जो सभी तत्त्वों को देखता है। न्यायभाष्यकार के अनुसार इस आप्त पुरुष के प्रामाण्य के कारण ही आप्तोपदेश स्वरूप मंत्र तथा आयुर्वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है।[2]

(2) न्यायवार्तिककार ने कहा है कि जिस प्रकार मंत्र और आयुर्वेद पुरुष विशेष से प्रणीत होने के कारण प्रमाण हैं उसी प्रकार वेदवाक्यों के प्रमाणत्व में पुरुष विशेष-प्रणीतत्व हेतु है।[3] उन्होंने कहा है कि आयुर्वेद का प्रामाण्य इसी से सिद्ध हो जाता है कि जो उसमें कहा गया है कि "यह करने से इष्टप्राप्ति होगी तथा इसे करने से अनिष्ट की प्राप्ति होगी" और उसका अनुष्ठान करने पर वैसा ही फल

1- मंत्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथा भाव एतत् प्रामाण्यम्। न्या०भा० 2/1/69

2- किं कृतमेतत्? आप्तप्रामाण्यकृतम्। न्या०भा०2/1/69

3- यथा मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि पुरुषविशेषाभिहितत्वात् प्रमाणं तथा वेदवाक्यानीति पुरुषविशेषाभिहितत्वं हेतुः। न्या०वा०2/1/67 पृ०273

प्राप्त होता है और ऐसा आप्तकृत होने से ही है ।[1] उन्होंने आप्त प्रामाण्य को सिद्ध करते हुये कहा है कि जो साक्षात्कृतधर्मा होता है और वे पदार्थ उसके द्वारा उपदिष्ट होते हैं तो वे पदार्थ उससे साक्षात्कृत होते हैं एवं जो भूतप्राणियों पर दया करके उपदिष्ट किये जाते हैं वे अनुकम्पा से होते हैं एवं यथार्थ परिज्ञान के लिए जिसमें विवेचित करने की इच्छा होती है -ऐसे तीन विशेषणों से युक्त वक्ता आप्त होता है एवं उसके द्वारा जो उपदेश किया जाता है वह प्रमाण होता है ।[2] अतः उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वेदवाक्य का प्रामाण्य है, वक्ता विशेष से रचित होने के कारण, मंत्र और आयुर्वेद के समान ।[3] जयन्तभट्ट ने कहा है कि जिस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेद का प्रामाण्य उसके आप्तकृत होने से है, उसी प्रकार अन्य वेदों का भी प्रामाण्य आप्तप्रणीत होने से है ।[4] इसी तरह से ऋग्वेदादि चारों

1- किमायुर्वेदस्य प्रामाण्यं यत् तदायुर्वेदेनोपदिश्यते । इदं कृत्वेष्टमधिगच्छति इदं कृत्वानिष्टं जहाति तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावोऽविपर्ययः एतत् प्रामाण्यं किं कृतम् । एतदाप्तप्रामाण्यकृतम् ।

न्या0वा02/1/67 पृ0273

2- किं पुनराप्तानां प्रमाणत्वं साक्षात्कृतधर्मता यं ते पदार्थमुपदिशन्ति स तैः साक्षात्कृतो भवतीति भूतदया च यस्मै चोपदिशन्ति तं प्रत्यनुकम्पा भवति यथार्थं परिज्ञानार्थं चिख्यापयिषा वास्य भवति । एतेन त्रिविधेन विशेषेण विशिष्टो वक्ता आप्तः तेन य उपदेशः क्रियते स प्रमाणमिति ।

न्या0वा02/1/67 पृ0 273

3- प्रमाणं वेदवाक्यानि वक्तृविशेषाभिहितत्वात् मन्त्रायुर्वेदवाक्यवदिति।

न्या0वा02/1/67पृ0273

वेद भी -जिनमें सभी अलौकिक विषयों का वर्णन है - उस सर्वदर्शी ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी के ज्ञान का विषय नहीं हो सकते हैं। अतएव इन सभी पदार्थों के देखने वाले को सर्वज्ञ मानना होगा। क्योंकि उस आप्त के प्रामाण्य में हेतु उस आप्त के द्वारा किया हुआ तद्विषयक साक्षात्कार, प्राणियों पर दया तथा यथार्थ कथन की इच्छा ही है[1]। उनका कहना है कि दृष्टार्थ आप्तोपदेश स्वरूप आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्टार्थक आप्तोपदेशरूप सम्पूर्ण वेदभाग के प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिए क्योंकि आप्तोपदेश हेतु उभयत्र समान हैं। इस वेद भाग का भी "ग्राम का इच्छा करने वाला यज्ञ करे" यह एक देश तो दृष्टार्थ है ही, इस दृष्टार्थ से अवशिष्ट अदृष्टार्थ में भी प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिए।[2] आगे वे कहते हैं कि दृष्टा तथा प्रवक्ता के उभयत्र समान होने से भी उस अदृष्टार्थ में प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिए क्यों कि जो आप्तपुरुष वेदमंत्रों के दृष्टा तथा प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेदादि के भी प्रवक्ता हैं। जब उनसे उपदिष्ट आयुर्वेदादि सत्य है तो उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट वेदमंत्र भी सत्य होने चाहिए ऐसा अनुमान होता है।[3] अतएव

1- किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम् ? साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति। न्या0भा0 2/1/69

2- दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनादृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। अस्यापि चैकदेशः "ग्रामकामो यजेत" इत्येवमादिदृष्टार्थस्तेनानुमातव्यमिति। न्या0भा0 2/1/69

3- दृष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां दृष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्-इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति

उन सब का कर्ता वह सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है ।

§3§ महर्षि कणाद ने भी आम्नाय का प्रामाण्य उस सर्वज्ञ आप्त वक्ता से ही उच्चरित होने के कारण स्वीकार किया है ।[1] उदयनाचार्य ने भी वेद को ईश्वर का उपदेश माना है ।[2] कणाद के सूत्र 6/1/1 से भी यही सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरकर्तृक है क्योंकि बुद्धिपूर्वक की गई वाक्यों की रचना ही वेद है ।[3] जिस प्रकार लौकिक वाक्य बुद्धिपूर्वक बोले जाते हैं, उसी प्रकार से वैदिक वाक्यों की रचना भी बुद्धिपूर्वक ही होगी । इससे स्पष्ट है कि वेद पुरुष की रचना है ।

§4§ कणाद ने वाक्य-रचना को बुद्धिपूर्वक सिद्ध करने के लिए एवं उनके द्वारा ईश्वर सिद्धि हेतु क्रमशः तीन अन्य सूत्रों की रचना की है ।[4] उपस्कारकार श्री शंकर मिश्र ने इन चारों सूत्रों के आधार पर ईश्वरसिद्धिविषयक अनुमान वाक्यों को प्रस्तुत किया है । उनमें प्रथम अर्थात् 6/1/1 की टीका लिखते समय अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है कि जो-जो प्रामाणिक वाक्य-रचना होती है वह-वह वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ के ज्ञानपूर्वक होती है, वाक्य-रचना होने से, नदी किनारे पाँच फल हैं-

---

1- तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वै०सू० 1/1/3

2- ईश्वरस्य चोदना उपदेशो वेद इति । किरणा० पृ० 99

3- बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे । वै०सू०6/1/1

4-§1§ ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् । वै०सू० 6/1/2

§11§बुद्धिपूर्वो ददातिः । वै०सू० 6/1/3

§111§तथा प्रतिग्रहः । वै०सू०6/1/4

इस हम लोगों के वाक्य की रचना के समान । वेद भी वाक्य-समुदाय है, परन्तु "स्वर्ग चाहने वाले को यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि की इष्टसाधनता अथवा कार्यता के अस्मदादिकों की बुद्धि से परे होने से वेद में भी स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्व सिद्ध होता है ।[1] इसी प्रकार न्यायकन्दलीकार ने भी कहा है कि जिस प्रकार लौकिक वाक्य की रचना केवल वाक्य की रचना होने के कारण ही पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न होती है उसी प्रकार वेद-वाक्यों की रचना भी चूँकि वाक्य-रचना ही है, अतः वह भी पुरुषकी बुद्धि से ही उत्पन्न है ।[2]

{5} शङ्कर मिश्र द्वारा प्रस्तुत दूसरा अनुमान वाक्य है कि वेदभाग के ब्राह्मण इत्यादि का जो व्युत्पत्ति के आधार पर नामकरण है वह नामकरण भी व्युत्पत्ति के अर्थ को जानने वाले व्युत्पादक के अर्थात् नामकरणकर्ता के बुद्धि की अपेक्षा रखता है जैसे कि लोक-व्यवहार में लम्बे कान होने से लम्बकर्ण, दीर्घनासिका होने से दीर्घनास तथा लम्बी ग्रीवा होने से लम्बग्रीव आदि नाम का रखना नाम रखने वाले में व्युत्पत्ति विषयक बुद्धि की अपेक्षा रखता है ।[3]

1- वाक्यकृतिर्वाक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात् नदीतीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत् । वेद इति वाक्यसमुदाय इत्यर्थः । ---- "स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादाविष्टसाधनतायाः कार्यताया वा अस्मदादिबुद्ध्यगोचरत्वात् । तेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं वेदे सिद्ध्यति । उप06/1/1

2- वाक्यस्य कृतिर्वाक्यरचना बुद्धिपूर्विका, वाक्यरचनात्वात्, लौकिकवाक्यरचनावत्। न्या0क0पृ0522

3- ब्राह्मणमिव वेदभागस्तत्र यद् संज्ञाकर्म नामकरणं तद् व्युत्पादकस्य बुद्धिमाक्षिपति

(6) तीसरा अनुमान वाक्य है कि वेदादि मे "स्वर्गकामी गाय का दान करें" इत्यादि दान के विधि करने वाले वाक्यों में वह दान मेरा इष्टसाधन है-इस तरह के ज्ञान से उत्पन्न है, अतः उसका विधान करने वाला कोई स्वतन्त्र पुरुष है ।[1] इसी तरह का उदाहरण देते हुए न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि जिस प्रकार लोक में "ददाति" शब्द का प्रयोग पुरुष की बुद्धि के द्वारा निष्पन्न होता है उसी प्रकार वेद के "ददाति" शब्द का प्रयोग भी केवल "ददाति" शब्द का प्रयोग होने के कारण ही बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होगा ।[2]

(7) शंकरमिश्र "तथा प्रतिग्रहः"[3] इस कणादीय सूत्र की टीका में कहते हैं कि दानप्रतिपादक वेदों के समान दान स्वीकाररूप प्रतिग्रह का वर्णन करने वाली श्रुतियाँ भी स्वतन्त्रपुरुषबुद्धिपूर्वक हैं ।[4] इन सभी अनुमान वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि वेद पुरुष की रचना है, अतएव वह पौरुषेय है । वेदकर्ता पुरुष समस्त अलौकिक वेदार्थों का नित्यज्ञान रखता है, इसी से सिद्ध है कि सनातन धर्म का रक्षक परमेश्वर ही धर्म के प्रतिपादक वेद का आदिवक्ता है, एवं उसी के आप्त होने से वेद का प्रमाणत्व है ।

1- स्वर्गकामो गां दद्यात् इत्यादौ यद्दानप्रतिपादनं तद्दानेष्टसाधनताज्ञानजन्यम् ।

उप0 6/1/3

2- वेदे ददातिशब्दो बुद्धिपूर्वको ददातिरित्युक्तत्वाल्लौकिकददातिशब्दवत् ।

न्या0क0पृ0522

3- वै0 सू0 6/1/4

4- प्रतिग्रहप्रतिपादिका अपि श्रुतयो बुद्धिपूर्विकाः ।

उप06/1/4

इस प्रकार से पूर्वपक्षी चार्वाक एवं बौद्धादि द्वारा वेदों के विषय में अप्रामाण्य का जो दोष दिखाकर उसके अनाप्तोक्त होने का साधन किया जा रहा था, उसका बाध हो जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि वेदों के प्रामाण्य के कारण उनका कर्तृत्व किसी परम आप्त पुरुष पर ही जाता है । अतएव वेदकर्ता के रूप में उस सर्वज्ञ की संकल्पना निर्बाध है -यह न्याय-वैशेषिकों का सिद्धान्त स्वीकृत हो जाता है । अतएव इस आधार पर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना परम आवश्यक है ।

परतः वेदप्रामाण्य एवं उसकी पौरुषेयता के विरुद्ध पूर्वपक्ष -

अब यहाँ पर सांख्य तथा मीमांसक जो कि वेदों को किसी सर्वज्ञ आप्त की रचना न स्वीकार करके उसे अपौरुषेय मानते हैं- स्वीकार करते हैं कि वेद का प्रामाण्य उसके ईश्वरकर्तृक होने से नहीं है अपितु वेदों में जो दोषाभावगृहीत प्रामाण्य है, वह उसके अपौरुषेय, नित्य एवं निर्दोष होने के कारण है ।

(1) श्लोकवार्तिककार का कहना है कि वेद के प्रामाण्य में वक्त्रभाव सिद्ध होने के कारण उसके प्रमाणत्व में किसी प्रकार की शङ्का नहीं होती है । अतः ईश्वर उसका कर्ता नहीं है ।[1] उनका कहना है कि जो लोग वेद को पौरुषेय स्वीकार करके

1- तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं न शङ्कामधिगच्छति ।।

श्लो0वा0चोदनासूत्रम् 68

वेद के प्रामाण्य के आधार पर तत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञ ईश्वर को स्वीकार करते हैं उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है ।[1] अतएव न्याय-वैशेषिकानुयायियों को भी वेदों की नित्यता को स्वीकार करके उनमें सर्वथा दोषाभावजन्य प्रामाण्य को स्वीकार कर अपने ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त को त्याग देना चाहिए ।

(2) उनके अनुसार वेदों के प्रामाण्य का ग्रहण उनके महाजनपरिगृहीत होने के कारण सर्वसाधारण को हो जाता है तथा इस आधार पर यागादि धार्मिक अनुष्ठानरूप व्यवहार का निर्वाह भी हो सकता है । वेदों के अकर्तृक होने से उनमें दोषों का सर्वथा अभाव है क्योंकि शब्दप्रमाण स्थल में दोष की उत्पत्ति वक्त्रधीन होती है।[2] अतः दोषों के आश्रय कर्ता के अभाव में वेदों में दोष का अभाव रहेगा, क्योंकि दोष निराश्रित नहीं रह सकते ।[3] अतएव वेदों में दोषाभाव होने से ही उनका प्रामाण्य है ।

(3) ऐसा ही नैयायिक भी स्वीकार करते हैं कि शब्द का प्रामाण्य और अप्रामाण्य पुरुषगत गुण-दोषों के आधार पर ही होता है । जयन्तभट्ट ने कहा है कि शब्दज्ञान के

1- अतो वक्त्रधीनत्वात् प्रामाण्ये तदुपासनम् ।
न युक्तम् अप्रामाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् ।।

श्लो०वा०चोदनासूत्रम् 69

2- शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितिः ।

श्लो०वा०चोदनासूत्रम् 62

3- यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ।

श्लो०वा०चोदनासूत्रम् 63

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य एवं पुरुषगत गुण-दोषों का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है।[1] आगे उन्होंने कहा है कि शब्द अर्थ से सम्बद्ध होते हुए भी वक्तृगत दोषों के कारण अयथार्थज्ञान उत्पन्न करते हैं।[2] न्यायकन्दली में भी कहा गया है कि शब्द दुर्गन्ध की तरह स्वतः ही दुष्ट नहीं हैं। उनमें तो वक्ता के दोष से ही दोष आते हैं।[3] उन्होंने एक आभाणक भी प्रस्तुत किया है जिसका तात्पर्य है कि शब्द में कारणों के द्वारा वर्णों के जितने भी दोष भासित होते हैं, वे सभी वस्तुतः वक्ता पुरुष में रहने वाले, दोषों के कारण ही आते हैं। दुर्गन्ध की तरह शब्द स्वभावतः स्वयं दुष्ट नहीं है।[4]

1- तस्मात्पुरुषगतगुणदोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कृते एव शाब्दयथार्थत्वायथार्थत्वे। न्या०म०भाग। पृ० 23।

2- तेनाभिधातृदोषात्म्यकृतेयमयथार्थता।
प्रत्ययस्येति शब्दानां नार्थासंस्पर्शिता स्वतः।।
वही पृ० 23।

3- शब्दो वक्त्रधीनदोषः, न स्वयमसुरभिमान्धवद् दुष्टः।
न्या०क०पृ०519

4- शब्दे कारणवर्णादिदोषा वक्तृनराश्रयाः।
नहि स्वभावतः शब्दो दुष्टोऽसुरभिमान्धवद्।।
न्या०क०मे उद्धृत पृ० 519

(4) सांख्यतत्त्वकौमुदीकार श्री वाचस्पतिमिश्र ने भी कहा है कि वेद का स्वतः प्रमाण है क्योंकि वह अपौरुषेय वेदवाक्यों से जनित होने के कारण भ्रम प्रमादि समस्त पुरुष दोषों से रहित होने के कारण युक्त अर्थात् अबाधित विषय होता है ।[1] सांख्यशास्त्रानुयायी विद्वत्तोषिणीकार ने भी सांख्यसूत्र को उद्धृत करते हुए कपिल और जैमिनि के सिद्धान्त को व्यक्त करते हुए कहा है कि कपिल और जैमिनि के सिद्धान्त मेंईश्वर को अस्वीकार करने से वेद का ईश्वर प्रणीतत्व खण्डित हो जाने के कारण उनका अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है ।[2] इसी तरह सांख्यशास्त्र के विचारक माठर ने भी कहा है कि विद्वानों ने दोषक्षय को ही आप्त कहा है ।[3]

अतः पूर्वपक्षियों के अनुसार वेद का कोई कर्ता ही न होने से लौकिकशब्दप्रामाण्य की तरह कर्तृगत रहने वाले गुण-दोषों के आधार पर वेद का प्रामाण्य स्थिर नहीं हो सकता । अतः वेद का प्रामाण्य उसमें दोषाभाव के कारण ही मानकर उसके प्रामाण्य के लिए नैयायिकों को ईश्वरविषयक कल्पना को त्याग

1- तच्च स्वतः प्रमाणम् अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति । त०कौ० पृ० ।20

2- कपिलनये जैमिनीयनये चेश्वरानङ्गीकाराद् वेदस्य पुरुष विशेषेश्वरप्रणीतत्वाभावेनापौरुषेयत्वं बोध्यम् । तथा च सूत्रम् न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।
सां०सू०5/4/6।

3- आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ।।

देना चाहिए ।

वेदगत अपौरुषेयत्व का खण्डन- सिद्धान्त पक्ष -

नैयायिक, मीमांसकों तथा सांख्यों के इस अपौरुषेयता के सिद्धान्त के विपरीत यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार पूर्वपक्षियों के मत में लौकिकवाक्यगत अप्रमा ज्ञानोत्पत्ति के लिए ज्ञान के साधारण कारण के अतिरिक्त दोषाधायक कारणान्तर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मीमांसकों एवं सांख्यों को यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अयथार्थ ज्ञान की तरह यथार्थज्ञान के भी विशेष प्रकारक ज्ञान होने से तदुत्पत्त्यर्थ ज्ञान के साधारण कारण से अतिरिक्त गुणाधायक कारणान्तर की भी अवश्य अपेक्षा होगी, क्योंकि पुरुषगत गुण दोष के आधार पर ही शब्द का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य निर्धारित होता है ।[1] यदि आप मीमांसक तथा सांख्य वेद को अकर्तृक मानेंगे तो फिर कर्ता के अभाव में कर्ता में रहने वाले गुणों का भी अभाव हो जायेगा, फलतः गुणों के अभाव में वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा ।[2] यदि आप मीमांसक इस दोष से बचने के लिए गुणों को स्वीकार करेंगे तो फिर वे गुण किसी कर्ता के आश्रित रहकर ही उसके अभिप्राय रूप में वेदप्रामाण्य के निर्वाहक हो सकते हैं, क्योंकि वे भी दोषों की तरह निराश्रित नहीं रह सकते । न्यायकन्दलीकार का कहना

1- तस्मात्पुरुषगुणदोषाधीनावेव शाब्दे प्रत्यये संवादविसंवादौ ।
न्या०म०भाग । पृ०266

2- यदि तत्र ज्ञानहेतुर्न स्यात् तदा कारणाभावेन कार्यं ज्ञानमपि न स्यादिति ।
बोधिनी पृ० 213

है कि जिस प्रकार वक्ता के ज्ञानरूप कारण में रहने वाले यथार्थता नामक गुण से शब्द के द्वारा उत्पन्न ज्ञान में यथार्थता की उत्पत्ति होती है,उसी प्रकार उन सभी वैदिक ज्ञानों में भी जिनके विषय में विवाद है-कारणमें रहने वाले कथित गुण से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि सभी वैदिक ज्ञान प्रमाण हैं ।[1] चूंकि कारणीभूत वक्तृज्ञान की यथार्थता ही वाक्य के प्रामाण्य का कारण है,शब्द केवल इसलिए प्रमाण नहीं है कि वह जिस किसी ज्ञान को उत्पन्न कर देता है । इससे यही सिद्ध होता है कि दोष से अप्रामाण्य की तरह गुण से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है । उनका मानना है कि यदि मीमांसक यह कहें कि ज्ञान के लिए जितने कारणों की अपेक्षा है उतने से ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है,अतएव शब्दप्रामाण्योत्पत्ति हेतु किसी गुण की अपेक्षा नहीं है, तो फिर इसके आधार पर कोई विपर्यय ज्ञान ही नहीं उत्पन्न होगा , अपितु सारे ज्ञान यथार्थ ही उत्पन्न होंगे, क्योंकि वहाँ पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य के साधक गुण-दोषों की कोई उपयोगिता ही नहीं रहेगी । अतः लौकिक वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वतः हो जायेगा ।

अतएव वेदगत गुणों के आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि होने पर आपका वेद के अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त बाधित हो जायेगा । अतः वेदप्रामाण्यग्राहक शाब्दी प्रमा के वक्तृगत यथार्थ वाक्यार्थ ज्ञानरूप गुण के होने से तद्गुणाधारतया ईश्वर की सिद्धि निर्विघ्न है ।

1- तत्र यथार्थतायां वाक्यप्रमाणहेतुत्वे कारणगुणादेव तस्य प्रामाण्यम्, न स्वरूपमात्रात्। शब्दस्य च गुणात् प्रामाण्ये ज्ञानान्तराणामपि तथैव स्यात् । विवादाध्यासितानि विज्ञानानि कारणगुणाधीनप्रामाण्यानि,प्रमाणज्ञानत्वाच्छब्दाधीनप्रमाणज्ञानवत् ।

नैयायिकों द्वारा वेद की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए ईश्वरसिद्धि -

यहाँ तक तो नैयायिकों ने मीमांसकों एवं सांख्यों के द्वारा वेद के अपौरुषेयत्व के आधार पर सिद्ध किये जा रहे वेदप्रामाण्य का निरास किया है। अब वे उनके वेदनित्यत्व का भी खण्डन करके तदाधारतया यह सिद्ध करते हैं कि वेद का कार्यत्व सिद्ध होने के कारण भी बिना सर्वज्ञप्रणीतत्व के वेद का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। नैयायिकों का कहना है कि गकारादि वर्णों का अनित्यत्व सिद्ध है। वर्णों की अनित्यता को सिद्ध करते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि वर्णों का अनित्यत्व सिद्ध है क्योंकि इस समय पूर्व सुने हुए "गकार इत्यादि वर्ण नहीं हैं" तथा "कोलाहल बन्द हो गया" इत्यादि प्रकारक शब्दध्वंस का प्रत्यक्ष ग्रहण होता है।[1] किसी वस्तु के प्रत्यक्षात्मक ग्रहण के अवरोधक जितने भी कारण हैं, उन कारणों में से किसी के भी शब्दस्थल में प्रभावी न होने से शब्दों की जो पुनरुपलब्धि नहीं होती उसका कारण एक मात्र उसका प्रध्वंस होना ही शेषवत् अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि के विषय में निम्न-लिखित कारण ही प्रभावी हो सकते हैं। परन्तु शब्दस्थल में उन कारणों में से किसी की भी सत्ता नहीं है।

तद्यथा -

(1) शब्द में गमन क्रिया असम्भव है, जिससे यह नहीं कहा जा सकता है, कि वे शब्द कहीं अन्यत्र चले गये हैं। गमन क्रिया केवल मूर्त द्रव्यों की ही होती है, जब कि शब्द

1- न हि वर्णा एव तावन्नित्या। तथा हि इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति निवृत्तः कोलाहल इति प्रत्यक्षेणैव शब्दध्वंसः प्रतीयते।

न्या0कु0 2/4 0234

तो मूर्त द्रव्य ही नहीं है, अपितु गुण है ।[1]

§2§ ऐसा भी होना असम्भव है कि पूर्वक्त गकारादि के किसी द्रव्यान्तर से आवृत्त हो जाने के कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । क्योंकि शब्द में मूर्तत्वाभाव के कारण उसका किसी से आवृत्त होना संभव ही नहीं है । अतएव आवरणस्थल में विषय के साथ इन्द्रियसन्निकर्षाभाव के कारण विषय का जो प्रत्यक्ष नहीं हो पाता वह भी गकार के अप्रत्यक्षस्थल में नहीं कहा जा सकता ।[2]

§3§ यह भी कहना दुर्घट है कि श्रोता का मन अन्यत्र लगा होने से गकार का प्रत्यक्ष न हो, क्योंकि श्रोता के पूर्ण एकाग्रावस्था में भी उस गकार का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता ।[3]

§4§ यह भी कहना सम्भव नहीं है कि उस समय श्रोता पुरुष की श्रोत्रेन्द्रिय में दोष आ जाने के कारण उक्त गकार सुनाई नहीं देता । क्योंकि इसी समय तद गकारातिरिक्त शब्दान्तर का श्रवण उसी पुरुष को होता है ।[4]

1- न हि शब्द एवान्यत्र गतः । अमूर्तत्वात् ।
न्या०कुसु०पृ० 234

2- नाप्यावृतः । तत्र एव सम्बन्धविच्छेदानुपपत्तेः ।
वही पृ० 234

3- नाप्यनवहितः श्रोता । अन्यथानेकप्यनुपलब्धेः ।
वही पृ० 234

4-§क§ नाऽपीन्द्रियं दुष्टं शब्दान्तरोपलब्धेः । न्या०कुसु० पृ० 234

§ख§ नन्वदुष्टेऽपि श्रोत्रेन्द्रिये प्रतिशब्दं तत्सहकारिणां भेदाच्छब्दान्तरोपलम्भेऽप्यनुपलम्भः शब्दान्तरस्योपपद्यते, तेन न तदनुपलम्भः सहकार्यन्तराभावात् ।
बोधिनी पृ०234

(5) यह भी असम्भव प्रतीत होता है कि उस समय गकार के प्रत्यक्षसामग्री में से गकाररूप विषय को छोड़कर किसी अन्य प्रत्यक्ष सामग्री के वहाँ उपस्थित न होने से गकार का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि पूर्वक्त गकार के प्रत्यक्ष के लिए अन्वयव्यतिरेक से युक्त जिस कारण सामग्री की अपेक्षा होतीहै, वे इस समय के गकार के प्रत्यक्ष के लिए भी अपेक्षित है। परन्तु उनमें किसी के अभाव से गकार के अप्रत्यक्ष की उपपत्ति सम्भव न होने से प्रत्यक्षाभाव का प्रयोजक गकाररूप विषय के नाश को ही स्वीकार करना होगा।[1]

(6) गकार के अतीन्द्रियत्वसाधक प्रमाण का अभाव होने से उसको अतीन्द्रिय मानकर भी गकार में अप्रत्यक्षता की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि केवल प्रत्यक्ष न होने से ही किसी को अतीन्द्रिय नहीं माना जा सकता। कारण कि ऐसा स्वीकार करने पर घटादि पदार्थों में भी उनके अप्रत्यक्ष होने की स्थिति में अतीन्द्रियत्वापत्ति उपस्थित हो जायेगी।[2]

न्यायसूत्रकार गौतम ने शब्द को आदिमान्, ऐन्द्रियक एवं अनित्य की तरह उसके उपचार होने से शब्द की अनित्यता स्वीकार की है।[3] आगे उन्होंने

1-(क) नाऽपि सहकार्यन्तराभावः। अन्वय-व्यतिरेकवतस्तस्यासिद्धेः।

न्या०कु०पृ०234

(ख) शब्दोपलम्भं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवतः सहकारिणः प्रत्यक्षेणासिद्धिरिति।

बोधिनी पृ०234

2- नाप्यतीन्द्रियम्। तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। न्या०कु०पृ० 234

3- आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च।

न्या०सू०2/2/13

कहा है कि शब्द की अनित्यता इसलिए भी सिद्ध है क्योंकि वह उच्चारण से पूर्व अनुपलब्ध होता है एवं आवरणादि से रहित होने पर भी उसके ग्रहण न होने से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है ।[1] श्रीमद् वरदराज ने कहा है कि विशेषरूप से और सामान्यरूप से शब्दों का ध्वंसरूप अनित्यत्व श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत होता है ।[2] वर्धमानोपाध्याय ने भी कहा है कि वर्ण की अनित्यता प्रत्यक्ष ही है ।[3] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि शब्द का अनित्यत्व "गकार उत्पन्न हुआ" इस प्रतीति से सिद्ध होता है ।[4] कणादगौतमीयम् में भी कहा गया है कि उत्पत्ति एवं विनाशशीलता के कारण शब्द अनित्य है । साथ ही ऐसी प्रतीति भी होती है कि "क उत्पन्न हुआ" एवं "ख विनष्ट हुआ "।[5]

1- प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ।

न्या०सू०2/2/18

2- विशेषतः सामान्यतश्च शब्दानां ध्वंसरूपमनित्यत्वं श्रौत्र प्रत्यक्षेणानुभूयत इति ।

बोधिनी पृ० 234

3- प्रत्यक्षमेव वर्णस्यानित्यत्वम् ।

प्रकाश पृ० 234

4- शब्दस्य नित्यत्वं "उत्पन्नो गकार" इति प्रतीतिसिद्धम् ।

विवृति पृ० 91

5- एवमुत्पादविनाशशालितया अनित्यः शब्दः। तथा च भवति प्रतीतिः "उत्पन्नः कः" "विनष्टः खः" इति च ।

कणादगौतमीयम् पृ० 88

इसी प्रकार से अन्यान्य नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने भी शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध किया है । शब्द के अनित्य सिद्ध हो जाने पर शब्दसमूहरूप वाक्य एवं वाक्यसमूहरूप वेद का भी अनित्यत्व सिद्ध होता है । बोधिनीकार ने कहा है कि वर्णों के अनित्य हो जाने पर वर्णसमूहात्मक पद कैसे नित्य हो सकता है ? तब फिर पदों के अनित्य होने पर पदसमूहात्मक वाक्य तथा वाक्यसमूहात्मक वेदों का नित्यत्व कैसे सम्भव होगा ?[1] उदयनाचार्य का कहना है कि प्रभाकर के मतानुसार वर्ण को नित्य भी मान लिया जाय तो भी वर्णों की आनुपूर्वी गकारोत्तरवर्ती अकार एवं णकारोत्तरवर्ती अकार इत्यादि तो पुरुषाधीन पाठ के आश्रित होने से अनित्य ही हैं, क्योंकि आनुपूर्वीरहित वर्ण पद नहीं कहाता, एवं आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह के अलावा वाक्य भी नहीं होता । अतः पूर्वोक्त रीति से वेद को नित्यानुमेय प्रतिपादित करने वाले गुरु प्रभाकर भी वस्तुतः लघु ही हैं अर्थात् उनका वेद का नित्यानुमेयत्व भी असिद्ध है ।[2] उनका कहना है कि जब वर्णों का ही नित्यत्व नहीं सिद्ध हो रहा है तब फिर पुरुषविवक्षाधीन आनुपूर्व्यादिविशिष्ट वर्णसमूहरूप पदों का नित्यत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? तब फिर पदसमूहरूप रचना-

---

1- वर्णानामेवानित्यत्वे कुतस्तत्समूहात्मकस्य पदस्य नित्यत्वं, कुतस्तरां तत्समूहात्मनो वाक्यस्य, कुतस्तरां तत्समूहात्मनां वेदानामिति ।

बोधिनी पृ० 234

2- न च नित्यानुमेयवेदसम्भवः, वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्व्याः पाठाश्रयत्वात् । न चानुपूर्वीशून्यवर्णाः पदं नाम, न चाकाङ्क्षाद्युपेतपदकदम्बादन्यद् वाक्यं नामेति गुरुरपि लघुरेव ।

विशेष स्वभाव का वाक्य एवं फिर वाक्यसमूहरूप वेद का नित्यत्व कैसे सम्भव है ?[1] प्रकाशकार ने कहा है कि वर्णों के नित्य होने पर भी अर्थप्रत्यय के अनुकूल अनित्य आनुपूर्वी विशेष से घटित होने वाले वेद अनित्य ही हैं । अतः वहाँ भी वक्तृगुणापेक्षा अवश्य है, फिर भी वर्ण के अनित्य सिद्ध करने से भी तत्समूहविशेषात्मक वाक्यविशेष का अनित्यत्व सिद्ध होता है ।[2] नारायणतीर्थ ने भी वेद की अनित्यता को प्रमाणित करते हुए कहा है कि वेद नित्य नहीं है क्योंकि "गकार उत्पन्न हुआ", "गकार विनष्ट हुआ" इत्यादि प्रतीति बिना गकारादि के उत्पत्ति और विनाश को स्वीकार किये अनुपपन्न है, अतएव उस वेद का भी इसी विधि से अनित्यत्व स्वीकार करना आवश्यक है ।[3]

1- न च नित्या अपि वर्णाः स्वरानुपूर्व्यादिहीनाः पदार्थैः सङ्गम्यन्ते, न च तद्विशिष्टत्वमपि तेषां नित्यं, तस्मात्तत्तज्जातीयक्रोडनिविष्टा एव पदार्थाः पदानि च सम्बद्ध्यन्ते नातोऽन्यथेति, नैतदनुरोधेनापि शब्दस्य नित्यत्वमाशङ्कनीयमिति । यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानां, कुतस्तरां च तत्समूहरचनाविशेषस्वभावस्य वाक्यस्य, कुतस्तमां तत्समूहस्य वेदस्य ।

न्या०कु०पृ०279-80

2- यद्यपि वर्णानां नित्यत्वेऽप्यर्थप्रत्ययानुकूलानित्यानुपूर्वीविशेषघटितत्वेन वेदोऽनित्य एवेति तत्र वक्तृगुणापेक्षाऽस्त्येव, तथापि वर्णस्यानित्यत्वव्युत्पादने तत्समूहविशेषवाक्यविशेषरूपस्य तस्य सुतरामनित्यत्वं सिध्यति।

प्रकाश पृ०234

3- न उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इत्यादि प्रतीतीनां बिना गकारादेरुत्पत्तिविनाशस्वीकारमनुपपन्नतया तेषां तथाविधानित्यत्वस्वीकारस्यावश्यकत्वात्।

कणाद के कुछ सूत्रों जैसे कि "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्"[1] "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदा"[2] "बुद्धिपूर्वो ददातिः"[3] इत्यादि सूत्रों द्वारा भी वेद का अनित्यत्व और उसका सर्वज्ञपूर्वकत्व सिद्ध होता है ।

माधवाचार्य ने भी कहा है कि आगम के अनित्यता में भी शङ्का नहीं हो सकती क्योंकि आगम की अनित्यता का ज्ञान उसके तीव्रादि धर्मों से युक्त होने से लोग सरलता से कर लेते हैं ।[4] चूंकि अर्थयुक्त शब्द को आगम कहते हैं । अतः अर्थ में तीव्रत्व, तीक्ष्णत्व, दुःखत्व आदि दोष होते हैं, एवं शब्द में कर्णकटुत्वादि दोष । ये धर्म अनित्यत्व के द्वारा व्याप्त होते हैं, अतएव इनसे आगम की अनित्यता सिद्ध होती है । जयन्तभट्ट ने कहा है कि इस प्रकार से वर्णों में कृतकत्व साधन के द्वारा वर्णात्मक पदादि में सर्वत्र पुरुष का स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है ।[5] आगे उन्होंने कहा है कि वेदों के पौरुषेयत्व के प्रति वेदों का रचनात्व ही प्रयोजक है, क्योंकि पुरुष के बिना कहीं भी अक्षरविन्यास प्रत्यक्ष नहीं होता ।[6] उन्होंने मीमांसकों की

1- वै० सू० 1/1/3

2- वही 6/1/1

3- वही 6/1/3

4- नापि तदनित्यत्वाप्तौ । आगमानित्यत्वस्य तीव्राद्युपेतत्वादिना सुगमत्वात् । स०द०सं०अक्षपाददर्शनम् पृ०437

5- एवं कृतकत्वे वर्णानां साधिते सति वर्णात्मनः पदात् प्रभृति सर्वत्र पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं सिद्धं भवति । न्या०म०भाग । पृ०327

6- रचनात्वमेव प्रयोजकं न हि पुरुषमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टः ।

बुद्धि पर खेद व्यक्त करते हुए कहा है कि हे भगवान् । संसार में यह कहाँ देखा और सुना जाता है कि वाक्यों की पद रचना नैसर्गिक होती है ? यदि वैदिक पदों की रचना स्वाभाविक है तो फिर पटगत तन्तुओं की रचना नैसर्गिक क्यों नहीं है ?[1]

अतः इस प्रकार शब्दानित्यत्व की सिद्धि हो जाने पर पदों का नित्यत्व स्वयं निराकृत हो जाता है, क्योंकि विशेषप्रकारक आनुपूर्वी और विशेषप्रकार के स्वरादि से युक्त वर्ण ही पद है ।[2] इसी प्रकार पदों का समुदाय ही वाक्य है ।[3] तथा विशेष प्रकार के वाक्यों का समूह ही वेद है । अतः पदगत नित्यता के प्रतिषेध के द्वारा पदसमूहात्मक वेद के नित्यत्व की सिद्धि का अवरुद्ध होना भी अवश्यम्भावी है । अतः वेद का कार्यत्व भी सुनिश्चित है । अतः मीमांसक लोग जो वेदों में नित्यता को स्वीकार करके उसकी नित्यता के आधार पर वेदप्रामाण्य स्थापन करना चाहते हैं, वह असम्भव हो जाता है । अतएव यदि मीमांसक वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करेंगे तो उन्हें वेदों का अनित्यत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप वेदों में कार्यत्व का विनिश्चय अवश्यम्भावी है । क्योंकि जो भी अनित्य होगा वह कृतक भी होगा । अतएव वेदों की उत्पत्ति के लिए भी किसी पुरुष

1- भो भगवन्तः सभ्याः क्वेदं दृष्टं क्व वा श्रुतं लोके ।
यद् वाक्येषु पदानां रचना नैसर्गिकी भवति ।
यदि स्वाभाविकी वेदे पदानां रचना भवेद् ।
पटे हि हन्त तन्तूनां कथं नैसर्गिकी न सा ।। न्या0म0भाग । पृ0330

2- पदं च वर्णसमूहः । तर्कभाषा पृ0 129

3- वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः ।

विशेष की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी, कारण कि प्रत्येक रचना पुरुष बुद्धि-आधीन ही होती है । अतः मीमांसक लोग इस आधार पर वेदों को अपौरुषेय भी नहीं प्रतिपादित कर सकते । वेदनाश भी घटादि नाश की तरह ही होता है । जिस प्रकार समवायिकारण तन्तुओं के नाश से अथवा असमवायिकारणरूप शब्दसंयोगनाश से कार्यरूप पटनाश होता है, उसी प्रकार शब्दनाश से अथवा शब्दसंयोग नाश से वेदनाश भी उपलब्ध होता है । इस प्रकार से कार्यत्व का विनाशित्व एवं विनाशित्व का कार्यत्व अवश्य प्राप्त होता है । ऐसा कार्य-कारणभाव मीमांसाभाष्यकार को भी अभिमत है ।[1]

<u>वेदों को नित्य स्वीकार करने पर भी उनका प्रामाण्यावधारण न्यायमत में अनिश्चित है-</u>

नैयायिकों का कहना है कि यदि हम वेदों को नित्य स्वीकार भी कर लें तथापि उनका प्रामाण्य-निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि कोई वस्तु नित्य होने के कारण ही प्रामाणिक नहीं होती, और न तो सभी अनित्य वस्तुएं अप्रामाणिक ही होती हैं । न्यायभाष्यकार का कहना है कि वाच्यत्व हेतु से ही अर्थप्रतिपादन में शब्द का प्रामाण्य है, न कि उसके नित्यत्व हेतु से । यदि केवल नित्यत्व को ही प्रामाण्य का हेतु स्वीकार किया जायेगा, तो सबका सबसे ज्ञान होने से शब्द एवं

1- येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते । येषां विनाशकारणमुपलभ्यते यथाभिनवं पटं दृष्ट्वा न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान् अथवा नित्यत्वमस्याऽध्यवस्यति रूपमेव हि दृष्ट्वा । तन्तुव्यतिषङ्गेर्जनितोऽयं तद्व्यतिषङ्गविमोचनात् तन्तुविनाशाद्वा विनङ्क्ष्यतीत्येवमवगच्छन्ति ।

अर्थ की "इस शब्द का यह अर्थ है" यह व्यवस्था नहीं बनेगी ।[1] साथ ही यदि शब्द को नित्य माना जायेगा तो फिर लौकिक शब्दों को भी नित्य मान लेने पर उनमें से कुछ के अनाप्तोपदेश होने से जो अर्थ वैपरीत्य देखा जाता है वह अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि वहाँ पर शब्दनित्यता से ही प्रामाण्य गृहीत होगा ।[2] श्रीधरभट्ट का भी कहना है कि किसी भी प्रमाण में उसके प्रामाण्य के लिए उसका नित्य होना आवश्यक नहीं है । अपितु उसमें दोषों का न रहना ही उसके प्रामाण्य के लिए पर्याप्त है । क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय और मन ये दोनों ही नित्य हैं किन्तु पौरुषेय नहीं है । किसी कारण से जब इनमें दोष आ जाते हैं, तो फिर ये नित्य होते हुए भी अप्रमाण हो जाते हैं । इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ यद्यपि अनित्य हैं, फिर भी जब तक दोषों से शून्य रहती हैं तब तक उनमें प्रामाण्य बना रहता है ।[3] जयन्तभट्ट का कहना है कि पद को यदि नित्य भी मान लिया जायेगा तो भी वाक्य के रचनात्मक होने के कारण उसमें कर्तृत्व सम्भव होने से वह वेद पौरुषेय ही होगा,

---

1- शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात् । नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तिः ।

न्या0भा0 2/1/69

2- लौकिकेष्वपि नित्या इति चेद न अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः । नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति । न्या0भा0 2/1/69

3- दोषाभावप्रयुक्तं प्रामाण्यं न नित्यत्वप्रयुक्तम्, सत्यपि नित्यत्वे श्रोत्रमनसोरागन्तुकदोषैः क्वचिदप्रामाण्यात् । असत्यपि नित्यत्वे प्रमृष्ट दोषाणां चक्षुरादीनां प्रामाण्यात् । न्या0क0पृ0 520

उसको अकर्तृक कैसे कहा जा सकता है ?[1] उनका कहना है कि वेदों के आप्तोक्त होने से ही वेदों का प्रामाण्य है न कि उनके नित्य होने से ।[2] यदि इस प्रकार से न केवल वेदों को नित्य भी स्वीकार कर लिया जायेगा तो भी मीमांसकों एवं सांख्यों को अभिप्रेत वेदगत प्रामाण्य सुनिश्चित नहीं हो सकेगा । अतः वेदप्रामाण्य के स्थापन हेतु किसी सर्वज्ञ परमेश्वर की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी ।

प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यता से प्रामाण्यावधारण संभव है - पूर्वपक्ष

मीमांसक लोग यह कह सकते हैं कि वेदों की नित्यता आकाशादिगत नित्यता की तरह उत्पत्ति-विनाश से रहित हम लोग भी नहीं स्वीकार करते, बल्कि वेदों के अनवरत प्रवाह को ही उसकी नित्यता कहते हैं । कुमारिल भट्ट का कहना है कि जिस प्रकार वर्तमान काल में आज के अनभिज्ञों को समझाने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है उस शब्द से आज के अनभिज्ञ पुरुषों को प्रयोगकर्ता पुरुष के संकेतज्ञान से अर्थविषयक बुद्धि (अर्थावबोध) उत्पन्न होती है, एवं उसी प्रकार आज के ये समयाभिज्ञ पुरुष पूर्व में जिस समय सङ्केत से अनभिज्ञ थे, उस समय पूर्ववर्ती समयाभिज्ञों के सङ्केतज्ञान से ही उन्हें अर्थविषयक ज्ञान होता था । इस प्रकार शब्दार्थ का

---

1. पदानित्यत्वपक्षेऽपि वाक्ये तद् रचनात्मके ।
कर्तृत्वसम्भवात् पुंसो वेदः कथमकृत्रिमः ।।
न्याय०म०भाग । पृ० 327

2. तस्मादाप्तोक्तत्वादेव वेदाः प्रमाणं न नित्यत्वात् ।
वही पृ० 346

यह सम्बन्ध अनादिसिद्ध है ।[1] आगे उनका कहना है कि जब भी जिनके मुख से वेदों का उच्चारण हुआ है वह अपने पूर्ववर्ती पुरुषों के द्वारा वेदों के उच्चारण को सुनकर ही हुआ है, क्योंकि जिस प्रकार वर्तमान काल का वेदाध्ययन किसी गुरु से ही किया जाता है, उसी प्रकार भूतकालिक सभी वेदाध्ययन गुरु के द्वारा होते थे, या भविष्यत् कालिक वेदाध्ययन गुरु के द्वारा ही होंगे ।[2] अतएव किसी ने कभी भी अभूतपूर्व वेदों की रचनाकरइसके अध्ययन की परम्परा नहीं चलाई है । इस बात के समर्थन में यह अनुमानवाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि "सर्वं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययन-वाच्यत्वात् अधुनाध्ययनवत् ।" अतएव वेद के सभी उच्चारण स्वपूर्ववर्ती उच्चारणकर्ता पुरुष के अधीन होने से सभी उच्चारण परतन्त्रपुरुषाधीन हैं । किन्तु परतन्त्र पुरुषों के द्वारा भी वेदों का यह प्रचार सभी समयों में था और रहेगा । वेदों की एतद्-प्रकारक सार्वत्रिक सत्ता ही वेदों की प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यता है । वेदों में इस प्रकार की नित्यता की सिद्धि से भी वेदकर्तारूपत्वेन स्वतन्त्र सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना निराधार है ।

1- सर्वेषामनभिज्ञानां पूर्व-पूर्वप्रसिद्धितः ।

श्लो०वा०सम्ब० परि० 4।

2- वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ।।

श्लो० वा०आक्या० 366

प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यता के भी संभव न होने से उसका प्रामाण्यग्रहण संभव नहीं -

सिद्धान्त पक्ष -

पूर्वपक्षी मीमांसकों के द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर नैयायिकों का कहना है कि मीमांसकाभिमत एतद्प्रकारक सतत प्रवाहाविच्छेदरूप से भी वेदों की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वेदों की इस प्रकार की सततप्रवाहशीलता रूप नित्यता भी असिद्ध है । न्यायमञ्जरीकार ने कहा है कि मीमांसकों के इस अनुमानवाक्य का हेतु अप्रयोजक है, अतएव शब्द के वाच्यत्व का अनादित्व नहीं सिद्ध हो सकता । साथ ही यह हेतु अनैकान्तिक भी है क्योंकि इस हेतु की व्याप्ति महाभारतादि में भी होती है ।[1] उदयनाचार्य ने वेदविनाश के हेतुरूप में कई कारण गिनाये हैं जिससे कि वेदों के क्रमिक ह्रास को देखने से उनके अत्यन्त ह्रास का अनुमान लगाया जा सकता है । उन्होंने जन्म, संस्कार, शक्ति, स्वाध्याय, कर्म इत्यादि का क्रमिक ह्रास दिखाया है ।[2] बोधिनीकार ने कहा है कि जन्मादि के ह्रासदर्शन से स्वाध्याय के लिए अध्ययन में एवं कर्मों के अनुष्ठान में पुरुषों के शक्ति के ह्रासदर्शन से सम्प्रदाय का ह्रास अनुमित होता है ।[3] उदयनाचार्य ने

1- नैतद्युक्तम्, एवम्प्रामाणां प्रयोगाणामप्रयोजकत्वात् । न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते । अनैकान्तिकश्चायं हेतुर्भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात्, भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वाद् इदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ।

न्या०म०भाग । पृ० 328

2- जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः ।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ।।

न्या०कु० 3/3

3- जन्मादेर्ह्रासदर्शनात्स्वाध्यायाध्ययने कर्मणोऽनुष्ठाने पुरुषाणां शक्तेश्च ह्रासदर्शनात् सम्प्रदायस्य ह्रासोऽवगम्यत इति ।

बोधिनी पृ०292

आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि मीमांसकों का प्रवाहनित्यत्वरूप द्वितीय पक्ष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता है अर्थात् "प्रवाहरूप से वेद नित्य है" इसलिए वह महाजन-परिगृहीत है" यह पक्ष भी ठीक नहीं है , क्योंकि वेद का ह्रास देखे जाने से वेदप्रवाह नित्य नहीं हो सकता । कारण कि जो वेदभाग इस समय उपलब्ध नहीं है उसके विषय का भी अनुष्ठान देखा जाता है तथा मनु आदि स्मृतिकारों ने उस विषय को भी अपनी स्मृतियों में निबद्ध किया है ।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि वह वेदभाग उच्छिन्न हो चुका है । उदयनाचार्य ने जिस तरह से विविध अनुमान वाक्यों के द्वारा वेद के क्रमशः ह्रासत्व को सिद्ध किया है वह निम्नलिखित है -

(1) पहले केवल मानसिक संकल्पजन्य पुत्र होते थे । तत्पश्चात् पुत्रोत्पत्ति के प्रयोजन से मैथुनजन्य सन्तानोत्पत्ति होने लगी । इसके बाद कामवासना से हुआ स्त्री एवं पुरुष का संयोग सन्तानोत्पत्ति का हेतु हो गया एवं कालान्तर में देश और काल की व्यवस्था के न रहने से पशुधर्म से ही सन्तानोत्पत्ति होने लगी ।[2] इस तरह से जन्मह्रास सिद्ध होता है ।

1- नापि द्वितीयः वेदह्रासदर्शनात् । यत् इदानीमश्रूयमाणस्यापि वेदस्यार्थोऽनुष्ठीयते निबध्यते च मन्वादिभिः । आ0त0वि0पृ0440-4।

2- पूर्वं हि मानस्यः प्रजाः समभवन्, ततः पत्यैकप्रयोजनमैथुनसम्भवाः, ततः कामाऽवर्जनीयसन्निधिजन्मानः, इदानीं देशकालाद्यव्यवस्थाया पशुधर्मादिव भूयिष्ठाः ।

न्या0कु0 पृ0 293

(2) पहले "चरु" अर्थात् माता के भोज्य-पदार्थ प्रभृति में ही संस्कार होते थे। तदुपरान्त सन्तान की क्षेत्र स्त्री में ही गर्भाधान संस्कार किया जाने लगा। तत्पश्चात् गर्भ ही संस्कृत होने लगे, जैसे कि पुंसवन, सीमन्तोनयनादि संस्कार किये जाते थे। अब तो सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर लौकिक व्यवहारानुसार कुछ संस्कारों का सम्पादन कर लिया जाता है। इस तरह से संस्कारों का ह्रास देखा जाता है।[1]

(3) पूर्व में सहस्र शाखा वाले वेदों का अध्ययन करने वाले आचार्य थे। तत्पश्चात् उनमें से कुछ शाखाओं का ही अध्ययन होने लगा। कालान्तर में षडङ्गों से युक्त केवल एक शाखा का ही अध्ययन रह गया। अब तो एक शाखामात्र का कहीं-कहीं अध्ययन रह गया है।[2] आत्मतत्त्वविवेक में इन्होंने कहा है कि पुरुषों की अध्ययन शक्ति क्रमशः क्षीण होती देखी जा रही है। इससे भी सिद्ध होता है कि वेदों का ह्रास सम्भव है। अर्थात् एक व्यक्ति वेद की समस्त शाखाओं का अध्ययन करने में असमर्थ है। अतः एक के समान दूसरे के द्वारा भी किसी एक शाखा का अध्ययन संभव है। इससे वैदिक शाखा के उच्छेद की संभावना सिद्ध होती है। जैसे बहुद्रव्यसाध्य अश्वमेध एवं राजसूयादि यागों की अनुष्ठानशक्ति का ह्रास हो गया है। यहाँ यह

1- पूर्वं चरुप्रभृतिषु संस्काराः समाधायिषत, ततः क्षेत्रप्रभृतिषु, ततो गर्भादितः इदानीन्तु जातेषु लौकिकव्यवहारमाश्रित्य।
वही पृ0 293

2- पूर्वं सहस्रशाखः समस्तो वेदोऽध्यगायि, ततो व्यस्तः, ततः षडङ्गः एकः इदानीन्तु क्वचिदेका शाखेति। न्या0कुसु0पृ0293

भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्वकाल में राजसूयादि का अनुष्ठान नहीं हुआ था क्योंकि तब उस विषय का प्रतिपादक वेदसम्प्रदाय व्यर्थ हो जायेगा।[1] उनका कहना है कि पुरुषों की अनुष्ठानशक्ति के समान अध्ययनशक्ति भी युगक्रम के अनुसार क्षीण होती है, एवं अध्ययन शक्ति के क्षीण होने से वेद की शाखाओं का उच्छेद, उसके विधियों के अनुष्ठान का उच्छेद तथा वर्णाचार एवं आश्रमसम्बन्धी आचारों की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।[2] विद्या ह्रास का निरूपण व्याकरणशास्त्र के महाभाष्यकार[3] एवं सर्वतत्त्वदर्शी मनु[4] ने भी स्वीकार किया है।

1- पुरुषाणामपचीयमानशक्तिकत्वाच्च। यथा ह्यश्वमेधराजसूयाद्यनुष्ठानशक्तेरपचय-स्तथाऽध्ययनशक्तेरपि। न च पूर्वमपि नानुष्ठिता एव राजसूयादयः, तदर्थस्य वेदराशेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्।

आ०मी०वि०पृ०44।

2- तस्मात् पुरुषाणामनुष्ठानशक्तिवत् अध्ययनशक्तिरपि युगक्रमेणापचीयते, ततो वेदानां शाखोच्छेदः तदर्थानामनुष्ठानोच्छेदः वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाविप्लवश्चेति।

आ०त०वि०पृ०442

3- पुराकल्प एतदासीत्- संस्कारोत्तरकालम् ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यः तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दाः उपदिश्यन्ते। तद-द्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति-वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः अनर्थकम् व्याकरणम्।

म०भा०(पस्पशाह्निक)

4- वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

4- पहले ब्राह्मण गण ऋतवृत्ति से अर्थात् खेतों में गिरे हुए अन्न के बीज को बीनकर उञ्छवृत्ति से जीते थे तदुपरान्त अमृतवृत्ति अर्थात् बिना याचना के प्राप्त धन का सहारा लिया। परन्तु इस समय तो "प्रमृत" अर्थात् याचना से प्राप्तधन, "सत्यानृत" अर्थात् वाणिज्य से प्राप्तधन एवं 'कुसीद' अर्थात् ब्याज से प्राप्त धन एवं पशुपालन तथा श्ववृत्तिरूप सेवा से भी जीविका चलाते हैं।[1]

(5) पहले ब्राह्मणों को भी विरले ही ब्राह्मण अतिथि मिलते थे। बाद में ब्राह्मण-लोग क्षत्रियों का भी आतिथ्य स्वीकार करने लगे। तत्पश्चात् वैश्यों के घरों में भी भोजन करने लगे। अब तो शूद्रों का भी अन्न खाते हैं।[2]

(6) पहले "अमृत" अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ अन्न ही खाते थे। तत्पश्चात् "विघस" अर्थात् अतिथियों से बचा हुआ अन्न खाने लगे। इसके बाद "अन्न" अर्थात् भृत्यों को खिलाने के बाद बचा हुआ अन्न खाने लगे। अब तो ये "अघ" अर्थात् केवल अपने भोजन के लिए पकाये अन्न से जीवन चला रहे हैं।[3]

1- पूर्वम् ऋतवृत्तयो ब्राह्मणाः प्राभोत्सत, ततोऽमृतवृत्तयः, संप्रति मृतप्रमृत-सत्यानृतकुसीदपाशुपाल्यश्ववृत्तयो भूयांसः।

न्या०कु०पृ०293

2- पूर्वं दुःखेन ब्राह्मणैरातिथ्यो लभ्यन्त, ततः क्षत्रियातिथयोऽपि संवृत्ताः, ततो वैश्यावैशिनोऽपि, संप्रति शूद्रान्नभोजिनोऽपि।

वही पृ० 293

3- पूर्वममृतभुजः, ततो विघसभुजः, ततोऽन्नभुजः, संप्रत्यघभुज एव।

वही पृ० 293

(7) पहिले धर्म के तपस्या, ज्ञान, यज्ञ एवं दान ये चार चरण थे । इनमें सर्वप्रथम तपस्यारूप प्रथम चरण क्षीण हो गया । तत्पश्चात् ज्ञानरूप चरण भी मलिन हो गया । इसके बाद यज्ञ भी जीर्ण-शीर्ण हो गया । अब केवल दानरूप एक पैर रह गया है, वह भी दूषितउपाय से प्राप्त धनरूप विपादिकाओं से युक्त है, अश्रद्धारूप कीचड़ से सना हुआ है, कामक्रोधादि अनेक काँटों से विंधा हुआ है । इन सबों से प्रतिक्षण उसकी शक्ति क्षीण से अतिक्षीण होने के कारण वह दानरूप चौथा पाँव भी इधर-उधर डोल रहा है ।[1] श्रीमच्छङ्कराचार्य को भी धर्म का ह्रास अभिप्रेत है । उनका कहना है कि जब संसार को क्षुब्ध कर देने वाले धर्म का ह्रास होता है, उस समय लोकमर्यादा की रक्षा करने वाले लोकेश्वर, सेतुप्रतिपालक वेदवर्णित शुद्ध एवं अजन्मा भगवान् उनकी रक्षा के लिए शरीर धारण करते हैं ।[2]

उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में भी इन समस्त ह्रासमानों को दृष्टि में रखकर अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं । उनका कहना है कि पुरुषशक्ति के ह्रास की दृष्टि से भगवान् व्यास के "अल्पायुषोऽल्पसत्त्वाः " इत्यादि वचन हैं । वेद-

---

1- पूर्वं चतुष्पाद्धर्म आसीत्, ततस्तनूयमाने तपसि त्रिपात्, ततो म्लायति ज्ञाने द्विपात् संप्रति जीर्यति यज्ञे दानैकपात्, सोऽपि पादो दुरागतादिविपादिकाशतदुःस्थोऽश्रद्धामलकलङ्कितः कामक्रोधादिकण्टकशतजर्जरः प्रत्यहमपचीयमानवीर्यतया इतस्ततः स्खलन्निवोपलभ्यते । न्या0कु0पृ0293

2- यदा धर्मग्लानिर्भवति जगतां क्षोभकरणी
तदा लोकस्वामी प्रकटितवपुः सेतुधृगजः ।
सतां धाता ------------------------।। श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत कृष्णाष्टकम् ।

सम्प्रदाय के ह्रास की दृष्टि से "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यादि वचन हैं। अनुष्ठान ह्रास की दृष्टि से "दानमेकं कलियुगे" इत्यादि वचन हैं, तथा आचारह्रास की दृष्टि से "प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः" इत्यादि वचन हैं, जो कि वेदह्रास को प्रमाणित करते हैं।[1] उन्होंने वेद के उच्छेद के लिए अनुमान वाक्य भी प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि उसी प्रकार से श्रूयमाण वेदों का भी उच्छेद प्राप्त होता है, वेद होने से अथवा वाक्य होने से, उच्छिन्न शाखा के समान।[2] अतएव इस प्रकार से भी वेदों का नाश होना सिद्ध होता है। ऐसा ही वेदानित्यत्वपरक अनुमान वाक्य प्रकाशकार ने भी प्रस्तुत किया है।[3] भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग

1- अतएव भगवतो व्यासस्य पुरुषशक्त्यपचयमवेक्ष्य वचनानि "अल्पायुषोऽल्पसत्त्वा" इत्यादीनि। वेदोच्छेदमवेक्ष्य "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इत्यादीनि अनुष्ठानोत्सादमवेक्ष्य "दानमेकं कलौ युगे" इत्यादीनि। आचारविप्लवमवेक्ष्य "प्रजास्तत्र भविष्यन्ति शिश्नोदरपरायणाः" इत्यादीनि।

आ०त०वि०पृ०442

2- तथा च श्रूयमाणा अपि वेदा उच्छेदमुपयास्यन्ति, वेदत्वात् वाक्यत्वाद् वा, उच्छिन्नशाखावदिति न्यायात्। वही पृ० 442

3- श्रूयमाणा अपि वेदा उत्छेत्स्यन्ति वाक्यत्वात्, उच्छिन्नशाखावदिति।

प्रकाश पृ० 293

बहुत काल से इस पृथिवी में लुप्तप्राय हो गया ।[1]

इस प्रकार से नैयायिकों ने यह सिद्ध कर दिया कि मीमांसकाभिमत सतत् प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यत्व भी वैदिक स्थल में सम्भव नहीं है । अतएव मीमांसकों का यह सिद्धान्त कि वेदों का प्रामाण्य उसके प्रवाहाविच्छेदरूप से नित्य होने के कारण ही है- असिद्ध हो जाता है ।

यदि मीमांसक यह कहें कि वर्तमान समय में जितनी वैदिक शाखाएं उपलब्ध हैं, वास्तव में उतनी ही शाखाएं पहिले भी थीं, इससे न्यूनाधिक शाखाओं की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती । अतएव वेदों के अत्यन्त विनाश्यता के लिए यह नैयायिकों के द्वारा दिया गया क्रमशः ह्रासमानत्व हेतु ठीक नहीं है । इसमें स्वरूपासिद्ध दोष होने के कारण यह हेतु वेदों के अत्यन्तोच्छेद का साधन करने में सक्षम नहीं हो सकता ।

इस पर न्यायविदों का कहना है कि मन्वादि स्मृतियां वेदविहित अनुष्ठानों का निर्देशक होने से ही प्रमाण हैं । इसी तरह "आचार" भी कर्तव्यों का निर्णायक इसीलिए हैं क्योंकि वह भी वेदविहित अनुष्ठानों का ही निर्देश करते हैं । परन्तु स्मृतियों में "अष्टकाः कर्तव्याः" इत्यादि वाक्यगत बहुत से ऐसे अनुष्ठान निर्दिष्ट हैं

1- इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।

गी 4।1-2

जिनके विधायक वाक्यों का वर्तमान समय में वेदों में अभाव है । एतद् प्रकारक कुछ अनुष्ठान आचार परम्परा से भी उपलब्ध हैं । ऐसा ही मीमांसकों को भी स्वीकार्य है कि स्मृति और आचार का प्रमाणत्व उनके वेदविहित अनुष्ठानों के विधायक होने के कारण ही है ।[1] वाचस्पति मिश्र ने भी "तत्त्वकौमुदी" में कहा है कि वेद का आधार लेकर लिखे गये स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न हुआ शाब्दबोध भी युक्त अर्थात् प्रमाण है ।[2]

अतः सभी आस्तिकजनों को यह स्वीकार करना चाहिए कि स्मृतियों में जिन अनुष्ठानों का विधान वर्तमान समय में उपलब्ध होता है, परन्तु वेदगत उन विधानों की अनुपलब्धि है एवं आचार से प्राप्त जिन अनुष्ठानों का विधान न वेदों में मिलता है और न स्मृतियों में-उन सभी अनुष्ठानों के विधायक वाक्य वेदों में थे । परन्तु वेद की जिन शाखाओं में वे वाक्य थे उन शाखाओं का आत्यन्तिक उच्छेद हो चुका है । ऐसा ही अपना तात्पर्य प्रकाशकार ने भी व्यक्त किया है ।[3]

1- दृष्टव्य शाबरभाष्य एवं तन्त्रवार्तिक अ० 1, पा०3 पृ०159-168 पर्यन्त
{आनन्दाश्रम संस्करण}

2- तच्च स्वतः प्रमाणमपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति । एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति ।
सा०त०कौ०पृ०120

3- विवादपदं स्मृतिः स्मृत्यर्थानुभावकवेदमूला अक्लृप्तमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतस्मृतित्वात्, प्रत्यक्षवेदमूलस्मृतिवत् । अतो न न्यायादि मूलकस्मृतौ व्यभिचारः । तथा मङ्गलाद्याचारो वेदबोधितः, अलौकिकविषयाविगीतशिष्टाचारत्वात् यागवदिति स्मृत्याचारमूलस्य वेदस्याप्रत्यक्षत्वात् तदुच्छेदे तदध्यायमानवेदस्याप्युच्छेदो भावीति ।
प्रकाश पृ० 294

इस प्रकार से नैयायिकों के द्वारा यह विधिवत् सिद्ध किया जा चुका है कि वेदों का किसी भी प्रकार से नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वे उत्पत्तिधर्मक हैं। उत्पत्तिधर्मक सभी वस्तुएं अनित्य होती हैं,[1] अतः इस नय से वेदों का भी अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इसलिए उनकी विनाश्यता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

नैयायिकों ने वर्णों की अनित्यता से गृहीत पदों की अनित्यता एवं तज्जन्य वाक्यों की अनित्यता से वाक्यसमूहात्मक वेद की अनित्यता स्वीकार की है। उन्होंने वेद को अनित्य सिद्ध करने के लिए अन्यान्य प्रमाणों का भी उपन्यास किया है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि वेदों का प्रामाण्य उसके नित्य होने के कारण नहीं है।

मीमांसकों का सतत् प्रवाहविच्छेदरूप नित्यत्व भी नैयायिकों के द्वारा निराकृत किया जा चुका है, क्योंकि वेदों का क्रमशः ह्रास होना प्रत्यक्षसिद्ध है, एवं कुछ ऐसे यज्ञ एवं आचारों का वर्णन स्मृति, इतिहास तथा पुराणों में उपलब्ध होता है जिनका वेद में इस समय अभाव है। अतएव यह अनुमान कर लेना सरल है कि उन यज्ञक्रियाओं का भाव किसी समय वेदों में था और इस समय उनका वेदों से लोप हो गया है, फिर भी स्मृत्यादि में उनका अस्तित्व है। स्मृत्यादि में उन यज्ञक्रियाओं का भाव अप्रामाणिक मानने पर उन स्मृत्यादि की प्रामाणिकता भी

1-(क) यत् कृतकं तदनित्यम् इत्युपाधिभेदेन। न्या०वि०३/1।

(ख) यद् उत्पत्तिमद् तद् अनित्यम्। न्या०वि०३/1०

(ग) न हि कारणवत् किञ्चिदक्षयित्वेन गम्यते। श्लो०वा०सम्ब०परि०106

उत्पन्न हो जायेगी, फलस्वरूप वेदों की प्रामाणिकता भी निराकृत हो जायेगी क्योंकि वेदों में प्रामाण्य के कारण ही स्मृत्यादियों का प्रामाण्य है । स्मृतियों का प्रामाण्य आप्तप्रामाण्य के कारण नहीं है अपितु उनका प्रामाण्य उनके वेदमूलक होने से है । स्मृत्यादिकों में भी अतीन्द्रिय विषयों का समावेश किया गया है परन्तु मन्वादि के अतीन्द्रियदर्शक होने में प्रमाणों का अभाव है । अतएव मन्वादि को अतीन्द्रियार्थदर्शी नहीं स्वीकार किया जा सकता, अतः वे आप्त भी नहीं हो सकते ।

वेदों का अनित्यत्व प्राप्त होने पर उनका कर्तृपूर्वकत्व भी स्वतः सिद्ध हो जाता है । अतः उनके प्रामाण्य के विषय में यही कहा जा सकता है कि वेदों का प्रामाण्य वक्तृगत-यथार्थ-वाक्यार्थरूप गुण के ही कारण है न कि नित्य एवं निर्दोष होने के कारण । वेदों में निर्दोषता का आगम कर्तृगत निर्दोषता एवं गुणों के सद्भाव के कारण है । अतः गुणों के आधार रूप में किसी कर्तृविशेष की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना चाहिए । वह कर्ताविशेष ही ईश्वर है ।

<u>सर्गादि के सम्भव होने से भी प्रवाहाविच्छेदरूप महाजनपरिग्रह एवं वेद का नित्यत्व असिद्ध है -</u>

वेद के अनित्यत्वसाधन में नैयायिक दूसरा हेतु देते हैं । उनका कहना है कि यद्यपि वेदों का क्रमशः ह्रास प्रत्यक्षसिद्ध है इसलिए वेद का अनित्यत्व सिद्ध ही है । फिर भी यदि इस तरह से वेदनाश को न स्वीकार किया जाय तो भी वेदों की प्रवाहविच्छेदरूप नित्यता नहीं बन सकती है क्योंकि सर्गादि के संभव होने से उनका अध्ययन पूर्वकत्वरूप महाजनपरिग्रह संभव नहीं है ।[1] प्रकारकार ने कहा है

1- परतन्त्रपुरुषपरम्पराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यता ब्रूम इति चेत्, एतदपि नास्ति । सर्गप्रलयसम्भवात् । न्या०कु०प०280

कि सर्गप्रलय के सम्भव होने से वेद का नित्यत्व एवं उनका महाजनपरिग्रह होना असिद्ध है ।[1] हरिदासभट्टाचार्य का कहना है कि प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यता भी वेदों में सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रलय की सत्ता संभव है ।[2] उन्होंने कहा है कि प्रलय के अनन्तर पूर्ववेद के नाश से वेदों का प्रामाण्य कैसे निश्चित हो सकता है -क्योंकि उस समय महाजनपरिग्रह का भी अभाव रहेगा ।[3] अतएव प्रलयावस्था में वेदोच्चारयितारूप महाजन पुरुषों का भी अत्यन्त विनाश हो जाने के कारण पश्चात्वर्ती सृष्टि के लिए पूर्ववर्ती वैदिकों के द्वारा वेद प्रचार असम्भव होने से प्रलयानन्तरकालिक सृष्टि में वेदप्रचार की धारा अविच्छिन्न नहीं रह पायेगी । अतः वेदगत उक्त प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यता का उपपादन संभव नहीं होगा । उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि वैदिक उपदेशों का मूल उपदेश परम्परा को नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्वा उस पूर्ववर्ती उपदेश को भी नियमतः किसी प्रमाण में ही विश्रान्त मानना पड़ेगा ।[4] अर्थात् प्राथमिक उपदेशकर्ता के द्वारा किये गये

1- सर्गप्रलयसम्भवेन वेदस्य नित्यत्वं महाजनपरिगृहीतत्वञ्चासिद्धम् ।

प्रकाश पृ0233

2- प्रवाहाविच्छेदरूपनित्यत्वमपि प्रलयसम्भवान्नास्तीति ।

विवृति पृ0 91

3- प्रलयोत्तरं पूर्ववेदनाशादुत्तरवेदस्य कथं प्रामाण्यं, महाजनपरिग्रहस्यापि तदाऽभावात् ।

वही पृ0 90

4- न चोपदेशस्योपदेशपारम्पर्यमात्रं मूलम् अवश्यमुपदेशरूप क्वचित् प्रमाणे विश्रान्तेरिति व्याप्तेः ।

आ0त0वि0पृ0430

साक्षात्कार को ही परवर्ती उपदेश के प्रामाण्य का मूल मानना पड़ेगा । उनका कहना है कि यह भी सम्भव नहीं है कि नित्य होने के कारण आगम किसी मूल की अपेक्षा किये बिना स्वयं ही प्रमाण होगा—क्योंकि वाक्य होने के कारण अन्य वाक्यों की तरह वह भी अनित्य ही है । इसलिए परिशेषात् यही सिद्ध होता है कि वेदादि का उपदेश किसी अतीन्द्रियार्थदर्शी के द्वारा ही व्यक्त किया गया है । अतएव वेदों का सर्वज्ञपूर्वकत्व सिद्ध होता है ।[1]

पूर्वपक्षियों द्वारा प्रलयविरोधी तर्कों का उपन्यास

मीमांसक मत में प्रलय की संभावना ही नहीं की जा सकती क्योंकि सृष्टि अनादिसिद्ध है । श्लोकवार्तिककार का कहना है कि सृष्टि के आदिस्वरूप काल को ही हम लोग स्वीकार नहीं करते क्योंकि सर्गादि में कोई क्रिया सम्भव नहीं है ।[2] यह सृष्टि अनादिकाल से यों ही चल रही है और अनन्तकाल तक इसी तरह चलती रहेगी । उनका कहना है कि प्रजापति के द्वारा सर्वविच्छेदात्मक प्रलय की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है एवं बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले आपके परमेश्वर से प्रलय जैसे अप्रयोजकीय कार्य करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।[3] क्योंकि

1- न च नित्यागमसम्भवो वाक्यत्वात् । तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शिपूर्वकोऽयमिति परिशेषः । तथा चानेन दृष्टान्तेन महाजनपरिगृहीतत्वाद् वेदाऽपि सर्वज्ञपूर्वका इत्युन्नीयते । वही पृ0 430-3।

2- सर्गादौ च क्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते ।
श्लो0वा0सम्ब0परि042

3- प्रलयेऽपि प्रमाणं न सर्वोच्छेदात्मके न हि ।
न च प्रयोजनं तेन स्यात् प्रजापतिकर्मणा ।।
वही 68

प्रयोजनहीन मन्दपुरुष भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते ।[1] अतः प्रलय को मानकर उसके आधार पर जो भी बातें कही जायेंगी उनमें से कोई भी समीचीन नहीं हो सकती । श्रीमदुदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों की ओर से प्रलयविरोधी कई तर्कों को उपस्थित किया है ।[2] उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षियों के प्रलयविरोधी अभिप्राय को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है -

(1) आजकल के अहोरात्र के प्रसङ्ग में यह देखा जाता है कि एक अहोरात्र के पूर्व भी अहोरात्र रहता है । इस दृष्टान्त से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कथित प्रलय के पश्चात् पहिला अहोरात्र भी चूँकि अहोरात्र ही है अतः उसे भी अहोरात्रपूर्वक होना चाहिए । इस विषय में बोधिनीकार ने मीमांसकों की ओर से अनुमानवाक्य प्रस्तुत किया है - "विप्रतिपन्नमहोरात्रमव्यवहिताहोरात्रपूर्वकं अहोरात्रत्वात्, अद्यतनाहोरात्रवत्, अन्यथाऽद्यतनमपि तथा न स्यात् नियामकाभावात् ।"[3] अतएव एतत्प्रकारक अहोरात्र की अविच्छिन्न धारा स्वीकार करनी होगी । श्लोकवार्तिककार का कहना है कि जिस प्रकार सम्प्रति जागतिक वस्तुओं का क्रमशः उत्पत्ति विनाश देखा जाता है, उसी प्रकार क्रमशः उत्पत्ति और विनाश का सिलसिला सभी

1- प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।।
श्लो०वा०सम्ब०परि०55

2- अहोरात्रस्याहोरात्रपूर्वकत्वनियमात्, कर्मणां विषमविपाकसमयतया युगपद् वृत्तिनिरोधानुपपत्तेर्वर्णादिव्यवस्थाऽनुपपत्तेः समयानुपलब्धौ शब्दव्यवहारविलोपप्रसङ्गाद् घटादिसम्प्रदायभङ्गप्रसङ्गाच्च कथमेवम् ?
न्या०कु०पृ०280

3- बोधिनी पृ० 280

समयों में जारी रहेगा । इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कभी समस्त विश्व की एक ही समय उत्पत्ति हुई होगी अथवा समस्त विश्व का एक ही समय कभी विनाश हो जायेगा ।[1] फिर यदि अहोरात्रत्व का नियम लागू होगा तो फिर सभी समयों में सूर्यादि ग्रहों की सत्ता सिद्ध हो जाने पर किसी काल को प्रलय कहना असंभव होगा-क्योंकि नैयायिक लोग उस काल को ही प्रलय कहते हैं जिसमें कोई उत्पत्तिशील द्रव्य न रहे । जब सभी समयों में सूर्यादिग्रहरूप द्रव्य हैं ही तो फिर किसी काल को प्रलय कहना सर्वथा असङ्गत है ।

{2} प्रलयविरोधी दूसरा तर्क यह है कि धर्माधर्मरूप कर्मों के विषमविपाक होते हैं। अतः एक कर्मी के द्वारा एक कर्म के फल को भोग लेने पर उस कर्म के नष्ट होने पर ही दूसरा कर्म अपना फल देने के लिए उपस्थित होता है । अतः जब एक कर्मी के सभी वृत्तियों का वृत्तिरोध युगपद् सम्भव नहीं है तो फिर अनन्त कर्मियों के अनन्त कर्मों का युगपन्निरोध कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि प्रत्येक समय में किसी न किसी कर्मी के किसी न किसी कर्म का विपाक अवश्य रहेगा । अतः यह अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि "विवादित कर्मों की वृत्तियों का युगपन्निरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे विषमविपाक समय वाले हैं, इस समय भुक्तभुज्यमान एवं भोज्यमान कर्मों के समान ।[2]" अर्थात् ऐसा कोई भी समय नहीं है कि जिस समय सारे

1- तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना।
समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिद्ध्यत्यप्रमाणिका।। श्लो०वा०सम्ब०परि० ।।3

2- कर्मणां धर्माधर्माणां विषमो ऽनेकः फलकालः तैनैकस्मिन् भुक्तफले कर्मणि भोज्यमाने कर्मान्तरमुपतिष्ठते फलान्तरोत्पादनेनैकैककर्मिणः कियन्त्यपि कर्माणि युगपन्निरुद्धवृत्तीनि न सम्भवन्तीति किमुतानन्तानां कर्मिणामनन्तानि कर्माणि, तदापि कस्यचित्कर्मणो विपाकावश्यम्भावात् ।प्रयोगश्च विवादाध्यासितानि कर्माणि न युगपन्निरुद्धवृत्तीनि विषमविपाकसमयत्वात् इदानीं भुक्तभुज्यमानभोक्ष्यमाण-कर्मवदिति । बोधिनी पृ०280-81

कर्म एक साथ अपना फल देकर क्षीयमाण हो जाँय, और अपना काम बन्द कर दें। अतः प्रलय की सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि किसी भी व्यक्ति का एक भी कर्म विपाकफल वाला है और उस कर्मजन्य वृत्ति का निरोध नहीं हुआ है तो उस समय को प्रलयावस्था नहीं कहा जा सकता। श्लोकवार्तिककार का कहना है कि किसी एक ही समय प्रजापति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हो, एवं एक ही समय सम्पूर्ण जगत् का विनाशरूप प्रलय हो-यह कल्पना सर्वजनविरुद्ध है, क्योंकि जिस प्रकार वर्तमान काल में क्रमशः ही वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है उसी तरह भूतकाल और भविष्यत् काल इन दोनों कालों में भी वस्तुओं की क्रमशः उत्पत्ति और विनाश को स्वीकार करना लोकमत के अनुकूल है।[1] उनका आगे कहना है कि ऐसा भी नहीं हो सकता कि सभी जीवों के सभी कर्म जिस समय निरुष्ट हो जाते हैं उसी समय प्रलय होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में अगली सृष्टि नहीं हो सकेगी। यदि यह माना जायेगा कि प्रलयकाल के बाद जब जीवों के कर्म फलोन्मुख होते हैं तो उन्हीं कर्मों से पुनः सृष्टि होती है-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उन कर्मों में फलोन्मुखता की उत्पत्ति में कोई विशेष कारण नहीं है।[2]

1- कर्तृसर्गविनाशानाम् अथानादित्व कल्पना।
सैवं युक्ता यथेदानीं भूतानां दृश्यते क्रमात्॥
श्लो0वा0सम्ब0परि0 67

2- अशेषकर्मनाशे वा पुनः सृष्टिर्नयुज्यते।
कर्मणां वाप्यभिव्यक्तौ किं निमित्तं तदा भवेत्॥
वही 71

{3} प्रलय की कल्पना इसलिए भी नहीं की जा सकती क्योंकि प्रलय के अनन्तर सर्गादि में जातिविशेष की व्यवस्था के उत्पादक जातिविशेष के अभाव होने से ब्राह्मणत्वादि वर्णव्यवस्था का लोप प्राप्त हो जायेगा । कारण कि ब्राह्मणजातीय माता-पिता से उत्पन्न बालक को ही ब्राह्मण कहा जाता है ।[1] अतएव प्रलयावस्था में सभी वर्णों का लोप प्राप्त हो जाने के कारण तदुत्तरवर्ती सृष्टि के समय वर्णव्यवस्था का नियामक कोई न रहेगा ।

{4} प्रलय की सत्ता इसलिए भी अस्वीकार की जाती है क्योंकि प्रलय के अनन्तर सर्गादि में सभी पुरुषों के अव्युत्पन्न होने से शक्तिग्रह अनुपपन्न हो जायेगा, फलस्वरूप शब्दव्यवहार का लोप हो जायेगा । आज जिस तरह से शब्द व्यवहार वृद्धव्यवहार-पूर्वक होता है वैसा सर्गादि में सम्भव नहीं होगा, क्योंकि उस समय वृद्ध पुरुषों अर्थात् व्युत्पन्न पुरुषों का अभाव रहेगा ।[2] श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि सृष्टि के आदि में किसी भी वस्तु के न रहने से न कोई ज्ञाता रहता है और न कोई ज्ञेय ही रहता है । फिर कौन किस वस्तु को दूसरों को समझायेगा ? ज्ञाता और ज्ञेय की उपलब्धि के बिना शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को कैसे जानाजा सकता है ?[3]

1- सर्गादिभुवां जातिविशेषव्यवस्थापकस्योत्पादकजाति विशेषस्याभावाद् ब्राह्मणत्वादिवर्णव्यवस्था न स्यात् । विप्रतिपन्ना ब्राह्मणा ब्राह्मणजन्मानः ब्राह्मत्वादद्यतनवत् । बोधिनी पृ० 28।

2- सर्गादौ सर्वेषामव्युत्पन्नत्वेन समयग्रहणानुपपत्तौ शब्दव्यवहारोऽपि लुप्येत । विप्रतिपन्नः शब्दव्यवहारः वृद्धव्यवहारपूर्वकः शब्दव्यवहारत्वात् अद्यतनवत्। बोधिनी पृ028।

3- ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति ।
उपलब्धैर्विना चेतत् कथमध्यवसीयताम् ।।
श्लो०वा०सम्ब०परि०46

(5) प्रलय की असत्ता को इसलिए भी स्वीकार किया जाता है क्योंकि प्रलय के पश्चात् सर्गादि में किसी आदर्शक के अभाव के कारण घटादि निर्माण का व्यवहार अनुपपन्न हो जायेगा क्योंकि घटादिनिर्माण घटनिर्माण-कार्य में कुशल व्यक्ति के ज्ञानपूर्वक होता है ।[1] श्रीमद्भगवद् गीता में भी कहा गया है कि जब जैसा आचरण श्रेष्ठ लोग करते हैं, उसी तरह का आचरण दूसरे लोग भी करते हैं । श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देते हैं - समस्त मनुष्य समुदाय उसी का अनुवर्तन करते हैं ।[2]

इस प्रकार से पांच तर्कों के आधार पर उदयनाचार्य ने पूर्वपक्षी मीमांसकों की ओर से प्रलय की सत्ता में आपत्ति प्रस्तुत की है । अतः यदि इस प्रकार से प्रलय का विरोध हो जायेगा तो फिर मीमांसकाभिमत वेद का सतत् अविच्छिन्नता रूप नैयत्य सिद्ध हो जायेगा तथा परम्परानुसार वेदविहित अनुष्ठानों के प्रति महाजनपरिग्रह का होना भी सिद्ध हो जायेगा । अतः मीमांसकों को अभिमत वेद का नित्यत्व बन जाने पर उसके नित्य होने से उनमें रागद्वेषादि दोषों एवं अक्तृत्वादि दोषाभाव में वेद का प्रामाण्य स्वीकार्य हो जायेगा । अतएव वेदप्रामाण्य के लिए नैयायिकाभिमत किसी सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना भी खण्डित हो जायेगी, तब फिर, नैयायिक वेदकर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकेंगे ।

1- तदानीं कस्यचिदादर्शकस्याभावाद् घटादिनिर्माणसम्प्रदायो न स्यात् विप्रतिपन्नं घटादिनिर्माणं तथाभूतादर्शकज्ञानपूर्वकं घटादिनिर्माणत्वादधुनातनवत् ।

बोधिनी पृ० 28 ।

2- यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

गी० 3/21

प्रलयाभाव समर्थक युक्तियों का खण्डन -

नैयायिक लोग सृष्टि और प्रलय दोनों कीसत्ता को स्वीकार करते हैं । अतः उदयनाचार्य ने अब अपनी तरफ से उक्त मान्यताओं के विरोध में प्रमाण देकर प्रलयाभाव का अभाव सिद्ध किया है । उन्होंने एक ही कारिका से मीमांसकोक्त उक्त पाँचों तर्कों के नैराश्य के लिए प्रयास किया है ।[1]

§1§ उन्होंने मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत प्रलयाभावसमर्थक तर्कों में से पहले का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि मीमांसकों को "विप्रतिपन्नमहोरात्रमव्यवहिताहोरात्रपूर्वकं अहोरात्रत्वात् अद्यतनाहोरात्रवत्" इस अनुमान वाक्य के द्वारा सर्गादि के प्रथम अहोरात्र का अहोरात्रपूर्वक होना अभीष्ट है तो फिर इनके इस मन्तव्य में उनके हेतु "अहोरात्र-त्वात्" में सिद्धसाधन दोष उपस्थित होगा क्योंकि हम नैयायिक लोग भी सर्गादि-कालिक प्रथम अहोरात्र से पूर्व उस पूर्व कालिक सृष्टि के अहोरात्र की सत्ता को स्वीकार करते हैं । परन्तु यदि मीमांसकों को अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व अभीष्ट होगा तो फिर उनका यह अहोरात्रत्व हेतु अप्रयोजक होगा । कारण कि कोई भी अहोरात्र इसलिए अहोरात्रपूर्वक नहीं होता है क्योंकि वह अहोरात्र है । जिस प्रकार वर्षा ऋतु का आदि दिन अव्यवहित वर्षाऋतुपूर्वक नहीं होता है, बल्कि यह ग्रीष्मऋतुपूर्वक होता है । वर्षाऋतु के आदि दिन के अतिरिक्त सारे वर्षाकालीन दिन अव्यवहित वर्षाऋतुपूर्वक होते हैं । इसी प्रकार अहोरात्राव्यवहितपूर्वकत्व का प्रयोजक अहोरात्रत्व

1- वर्षादिवदभवोपाधिर्विरोधः कुशिपत्ववत् ।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः ।।

न्या०कु० 2/5

नहीं हो सकता अपितु ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल रूप "भव" ही उसका प्रयोजक है, अतएव वह उपाधि है ।[1] चूंकि सृष्टिकालिक प्रथम दिन ब्रह्माण्ड का उत्पत्तिकाल है न कि स्थितिकाल । अतएव वह अहोरात्र अव्यवहितपूर्वक नहीं है । फिर उस ब्रह्माण्ड के अवयवी होने के कारण उसकी उत्पत्ति और विनाश इन दोनों में से किसी का भी खण्डन नहीं हो सकता ।[2] ऐसा ही मत प्रकाशकार ने भी व्यक्त किया है ।[3] हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि जैसे वर्षादिन के अव्यवहित वर्षादिन

1- न तावदहोरात्रपूर्वकत्वे अहोरात्रत्वं प्रयोजकं भवस्य ब्रह्माण्डस्थितेस्तत्रोपाधित्वात् । यथा वर्षादिदिनस्य तद्दिनपूर्वकत्वे तद्दिनत्वमप्रयोजकं राश्यादिसंसर्गोपाधित्वात् ।

बोधिनी पृ0 28।

2- तत्पूर्वकत्वमात्रे सिद्धसाधनाद्, अनन्तरतत्पूर्वकत्वे अप्रयोजकत्वाद् वर्षादिदिनपूर्वकतद्दिननियमभङ्गवदुपपत्तेः । राश्यादिभोगसंसर्गरूपकालोपाधिप्रयुक्तं हि तत् । तदभाव एव व्यावृत्तेः । तथेहापि सर्गानुवृत्तिनिमित्तब्रह्माण्डस्थितिरूपकालोपाधिनिबन्धनत्वात्तस्य तदभाव एव व्यावृत्तौ को दोषः । न च तदनुत्पन्नमनश्वरं वा अवयवित्वात् ।

न्या0कु0 पृ0 282-83

3- वर्षादौ वर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये यथा राश्यादिभोगसंसर्ग उपाधिः तथाऽहोरात्रपूर्वकत्वेऽहोरात्रस्य साध्ये भवो ब्रह्माण्डस्य स्थितिकालः स एवोपाधिरित्यर्थः ।

प्रकाश पृ0 28।

पूर्वकत्व सिद्ध करने में 'राशिविशेषावच्छिन्न रविकालपूर्वकत्व' उपाधि है, उसी प्रकार अहोरात्र के अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व सिद्ध करने में 'अव्यवहितसंसारपूर्वकत्व' उपाधि है ।[1] श्री नारायणतीर्थ ने कहा है कि अहोरात्र के अव्यवहित अहोरात्रपूर्वक होने में व्याप्तिसम्बन्ध नहीं है क्योंकि व्याप्तिसम्बन्ध का ग्रहण सहचारदर्शनमात्र के ग्रहण से ही स्वीकार किया जाता है । अतः जिस प्रकार वर्षादिन के अव्यवहित वर्षादिनपूर्वक इत्यादि के व्याप्ति के प्रसङ्ग में व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव है उसी प्रकार अहोरात्र के अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व में भी व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव है । जिस प्रकार वर्षादिन के अव्यवहित वर्षादिनपूर्वकत्व में कर्क एवं सिंह से भिन्न राशि में स्थित सूर्यसङ्क्रमसम्बन्धपूर्वकत्व उपाधि है अतः वहाँ व्याप्ति नहीं है, उसी प्रकार से प्रकृत में अर्थात् अहोरात्र के अहोरात्रपूर्वकत्व रूप साध्य में भी अव्यवहितसंसारपूर्वकत्वरूप उपाधि है । अतः उपाधि के रहने के कारण अहोरात्र को अव्यवहित अहोरात्रपूर्वक नहीं सिद्ध किया जा सकता ।[2]

1- यथा वर्षादिनस्याव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषावच्छिन्नरविकालपूर्वकत्वमुपाधिस्तथाहोरात्रस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वेऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वमुपाधिः ।

विवृति पृ० 95

2- यदहोरात्रं तदव्यवहिताहोरात्रपूर्वकमिति न व्याप्तिः । सहचारदर्शनमात्रेण व्याप्तिग्रहस्वीकारे "वर्षादिनमव्यवहितवर्षादिनपूर्वकम्" इत्यादिव्याप्त्याभासादेरपि प्रसङ्गात् । तत्र कर्कसिंहान्यतरावच्छिन्न रविसङ्क्रमसम्बन्धपूर्वकत्वमुपाधिरतो न तथा व्याप्तिरिति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यम्, अहोरात्रत्वेनाव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वे साध्येऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वरूपोपाधेः सत्त्वादित्यत आह "भवोपाधिरिति । तथा चोपाधिसत्त्वान्न तथाविधानुमानादहोरात्रेऽव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वं साधयितुं शक्यत इतिभावः ।

कु०का०व्या०पृ029-30

(2) उदयनाचार्य ने मीमांसकों के प्रलयविरोधी दूसरी आपत्ति का निवारण सुषुप्तावस्था का उदाहरण देकर करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार सुषुप्ति की स्थिति में प्राणियों के सम्पूर्ण अदृष्ट समसमय में ही स्वफलसम्पादनरूप कार्यजनन से विमुख हो जाते हैं। चाहे वे शीघ्रफलदायक अदृष्ट हों अथवा विलम्ब से फलदायक हों। उसी प्रकार से प्रलयावस्था में भी जीवों के सम्पूर्ण शीघ्रफलदायक एवं विलम्ब-फलदायक अदृष्ट स्वकार्यजनन से विमुख हो जाते हैं अर्थात् सुषुप्ति की अवस्था की तरह प्रलयावस्था में भी समस्त जीवों के समस्त अदृष्टों का वृत्तिनिरोध हो जाता है।[1]

यदि पूर्वपक्षी मीमांसक यह कहें कि एक काल में एक व्यक्ति की अथवा कुछ व्यक्तियों की ही सुषुप्ति सम्भव है, न कि सम्पूर्ण संसार की। इसी प्रकार से एक समय में सम्पूर्ण संसार के सारे जीवों के सारे अदृष्ट स्वकार्यजनन में अक्षम नहीं हो सकते।

इस पूर्व पक्ष का समाधान बोधिनीकार इस प्रकार से करते हैं कि अगर एक समय में एक जीव के सभी अदृष्ट सर्वथा वृत्तिरुद्ध होकर उस जीव के सुषुप्ति का सम्पादन कर सकते हैं, तो फिर सभी जीवों के सभी अदृष्ट एक ही समय वृत्तिरुद्ध होकर प्रलय का सम्पादन क्यों नहीं कर सकते? प्रायः सभी जीव सोते हैं, अतः एक ही समय में सभी जीवों का अदृष्टवृत्तिरोध भी सम्भव है।[2] प्रशस्तपाद ने कहा है

1- वृत्तिनिरोधस्यापि सुषुप्त्यवस्थावदुपपत्तेः।

न्या०कु०पृ०283

2- तत्र यथैकस्य सुषुप्तिदशायां तथाभूतानामेव कर्मणां युगपन्निरोधः सम्भवति। किमिति विश्वस्यायं न सम्भवेदिति। किन्च सुषुप्तिरपि सर्वस्य भवति न त्वेकस्यैवेत्याह।

बोधिनी पृ०284

कि ब्रह्मा के अपवर्गकाल में प्राणियों के जन्ममृत्युजनित खेद को मिटाने के लिए सभी भुवनों के अधिपति महेश्वर को संहार की इच्छा होती है। उसके बाद ही शरीर इन्द्रिय एवं और सभी महाभूतों के उत्पादक तथा सभी आत्माओं के सभी अदृष्टों के कार्यों के उत्पन्नकरने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है।[1] न्यायकन्दलीकार का कहना है कि प्रशस्तपादभाष्य के "अदृष्टानां वृत्तिप्रतिबन्धे" इस वाक्य से उक्त आपत्ति का समाधान हो जाता है क्योंकि ईश्वर की संहारेच्छा से सभी अदृष्टों की कार्यजननशक्ति एक ही समय में कुण्ठित हो जायेगी।[2] उनका कहना है कि जिस प्रकार रात में सोने पर प्राणियों के जाग्रदवस्था के सभी सुखदुःखादि नष्ट हो जाते हैं उसी तरह उस समय भी जीवों के सभी सुखदुःखादि नष्ट हो जाते हैं।[3] इसी प्रकार से न्यायमञ्जरीकार श्रीमज्जयन्तभट्ट ने भी कहा है कि ईश्वरेच्छा के प्रतिबन्धक होने से फल के प्रति कर्मों की शक्ति कुण्ठित हो जायेगी, क्योंकि उसकी इच्छा से प्रेरित कर्म ही फल को प्रसूत करते हैं एवं उसकी इच्छा के प्रतिबन्धक होने से ही कर्म, फलों की ओर से उदासीन भी होते हैं।[4] यदि यह कहा जाय कि यह कैसे

1- ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकाले संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानामदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति--।
प्रश०पा०भा०पृ०29-30

2- तदनेन परास्तम् - "अदृष्टानां वृत्तिप्रतिबन्धः" इति।
न्या०क०पृ० 26

3- तत्र सर्वप्राणिनां प्रबोधप्रत्यस्तमयसाधर्म्येणोपचारात्। महाभूतानामप्येवं विनाश इति। वही पृ०।26

4- ननु च युगपदेव सकलजगत्प्रलयकरणमनुपपन्नम्, अविनाशिनां कर्मणां फलोपभोगप्रतिबन्धासम्भवादितिचोदितम् ? न युक्तमेतत् ।ईश्वरेच्छाप्रतिबद्धानात् कर्मणामस्तमितशक्तीनामवस्थानात् ।तदिच्छाप्रेरितानि कर्माणि फलमादधाति, तदिच्छाप्रतिबद्धानि च तत्रोदासते।
न्या०म०भाग । पृ० 284

सम्भव है तो जयन्तभट्ट का कहना कि अचेतनों के चेतना से अनधिष्ठित होने पर स्वतः कार्यकारणभाव के न होने से यह सम्भव है ।[1] अतः पूर्वपक्षी मीमांसकों का प्रलय-विरोधी द्वितीय तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे इस तर्क के आधार पर भी प्रलय की असत्ता नहीं सिद्ध कर सकते ।

﴾3﴿ न्यायवैशेषिकानुयायी मीमांसकों के प्रलयविरोधी तीसरे तर्क का भी खण्डन करते हैं । उदयनाचार्य का कहना है कि विच्छू एवं चौराई की उत्पत्ति के समान वर्णादि व्यवस्था का भी सन्चालन सम्भव है । जिस प्रकार विच्छू की उत्पत्ति विच्छू पूर्वक होते हुए भी गोबर से भी होती है, एवं चौराई की उत्पत्ति चौराई के बीजपूर्वक होते हुए भी आद्य चौराई की उत्पत्ति तण्डुलकणों से ही होती है, अपि च वह्नि की उत्पत्ति वह्निपूर्वक होते हुए भी आद्य वह्नि की उत्पत्ति अरणि से ही हुई है । इसी प्रकार दुग्ध, दधि, घृत, तैल, कदलीकाण्ड के विषय में भी है । अतएव मनुष्य, पशु, गो, ब्राह्मणपूर्वक मनुष्य, पशु, गो एवं ब्राह्मण की उत्पत्ति होने पर भी प्राथमिक मनुष्य, पशु, गो, ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति तत्तद् शरीरों के उत्पादक विशेष प्रकार के भूतकणों के परिमाणों से ही हुई है ।[2] इसी तरह का मत

1- कस्मादेवमिति चेत् ? अचेतनानां चेतनाऽनधिष्ठितानां स्वतः कार्यकारणानुपलब्धेः ।
न्या०म०भाग । पृ० 284

2- वृश्चिकतण्डुलीयकादिवद् वर्णादिव्यवस्थाप्युपपद्यते । यथा हि वृश्चिकपूर्वकत्वेऽपि वृश्चिकस्य गोमयादाद्यः, तण्डुलीयकपूर्वकत्वेऽपि तण्डुलीयकस्य तण्डुलकणादाद्यो, वह्निपूर्वकत्वेऽपि वह्नेररणेराद्यः एवं क्षीरदधिघृततैलकदलीकाण्डादयः । तथा मानुष-पशुगोब्राह्मणपूर्वकत्वेऽपि तेषां प्राथमिकास्तत्तत्कर्मोपनिबद्धभूतभेदेभ्यो एव ।
न्या०कु०पृ०285

नारायणतीर्थ[1] एवं हरिदास भट्टाचार्य[2] ने भी प्रस्तुत किया है । प्रशस्तपाद ने कहा है कि विलक्षण ज्ञान, उत्कट वैराग्य और अभूतपूर्व ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं परमेश्वर के द्वारा नियुक्त ब्रह्मा प्राणियों के कर्म की परिणति समझकर कर्मों के अनुरूप ज्ञान, भोग और आयु से युक्त "सुत" अर्थात् प्रजापतियों की एवं "मानस" अर्थात् मनु, देवर्षि और पितृगणों की सृष्टि करते हैं । अपने मुँह से ब्राह्मणों को, बाहु से क्षत्रियों को जङ्घा से वैश्यों को और पैर से शूद्रों को उत्पन्न करते हैं । इसी प्रकार और भी छोटे-बड़े अनेक प्राणियों को उत्पन्न करके सभी को कर्मों के अनुरूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के साथ सम्बद्ध करते हैं ।[3] भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - इन चार वर्णों का समूह गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है ।[4] ईश्वर द्वारा चारों वर्णों की उत्पत्ति की पुष्टि पुरुष-सूक्त

1- यथोद्भिदाद्य: शाकविशेषतण्डुलकणेभ्यस्तथाविधशाकविशेषबीजेभ्यश्चोत्पद्यते, गोमयाच्च वृश्चिकोत्पत्ति:, तथा सर्गाद्यकाले केवलाददृष्टविशेषाद्, इदानीं च ब्राह्मणाद् ब्राह्मणस्योत्पत्तिरित्यर्थ: । कु0का0टी0व्या0पृ0 30

2- उद्भिद् शाकविशेष: तस्य यथा तण्डुलकणाद् शाकविशेषबीजाच्च उद्भव:, यथा वा वृश्चिकस्य गोमयाद् वृश्चिकाच्च उद्भव:, तथा कालविशेषे दृष्टविशेषात् केवलात् इदानीं च ब्राह्मणात् ब्राह्मणोत्पत्ति: । विवृति पृ0 96

3- स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मातिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्न: प्राणिनां कर्म्मविपाकं विदित्वा कर्म्मानुरूपज्ञानभोगायुष: सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णानन्यानि चोच्चावचानि भूतानि च सृष्ट्वाशयानुरूपैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यै: संयोजयतीति । प्र0पा0भा0पृ034

4- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश: ।
तस्य कर्तारमपि मां ------------- ।। गी04/13

सूक्त[1] एवं मनुस्मृति[2] के द्वारा भी होती है ।

अतएव सर्गादिकालिक ब्राह्मणादि जाति के शरीरों की अनुपपत्ति न होने से वर्णव्यवस्था के सञ्चालन में कोई व्यवधान नहीं होगा । अतएव मीमांसकाभिमत प्रलयानुपपत्ति ठीक नहीं है । अतः मीमांसकों का प्रलयाभावसमर्थक सिद्धान्त भी असङ्गत है ।

{4} मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत प्रलयाभावसमर्थक चतुर्थ विप्रतिपत्ति का निराकरण उदयनाचार्य इस प्रकार से करते हैं कि मायावी के समान व्युत्पाद्य और व्युत्पादकरूप से अवस्थित अनेक प्रकार के शरीर के अधिष्ठान के द्वारा समयरूप व्यवहार भी शुरू हो जाता है । जिस प्रकार सूत्रसञ्चार में बद्ध कठपुतलियों से मायावी पुरुष के द्वारा "इस वस्तु को ले आओ" ऐसा प्रयोग करने पर वह दारुपुत्र अर्थात् कठपुतली वैसा ही करती है, तब चेतन व्यवहार के समान किये जा रहे क्रीडा को देखकर अव्युत्पन्न बालक उस समयव्यवहार को समझ लेता है, उसी प्रकार सर्गादि में एक ही ईश्वर प्रयोज्य एवं प्रयोजक दोनों शरीरों को धारण कर शक्तिज्ञान के मार्ग को प्रशस्त

1- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

पुरुष सूक्त ।2

2- लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ।।

मनु0 1/31

कर देता है ।[1] शंकरमिश्र ने उपस्कार में कहा है कि भगवान के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ में सङ्केतित किया गया है वह शब्द उस अर्थ को प्रतिपादित करता है । शब्दार्थ का सम्बन्ध ईश्वरेच्छा से ही है, अतः शब्दसङ्केत ईश्वराधीन है ।[2] नारायणतीर्थ ने कहा है कि जिस प्रकार घटादि के आनयनादि व्यवहार के सम्पादक सूत्रसञ्चारित दारुपुत्र के प्रति "घट लाओ" ऐसा कहकर मायावी दूसरे को शक्तिग्रह करा देता है, उसी प्रकार सर्गादि में प्रयोज्य-प्रयोजकभाव से अवस्थित नाना शरीरों को धारण कर ईश्वर "घट लाओ" इत्यादि वाक्यों से दूसरों को शक्तिग्रह करा देता है ।[3] इसी प्रकार जयन्तभट्ट ने कहा है कि जिस ईश्वर ने अचिन्त्य रचनारूप जगत् की रचना अपनी इच्छामात्र से कर डाली, उसके सङ्केत तथा व्यवहार की रचना भी उसके इच्छा मात्र से हो जाती है ।[4] योग भाष्यकार पतञ्जलि ने भी ईश्वर के द्वारा शब्दसङ्केत को स्वीकार किया है । उनका कहना है कि ईश्वर का

1- समयोऽप्येकेनैव मायाविनेव व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावावस्थित नानाकायाधिष्ठानात् व्यवहारत एव कुरः । यथा हि मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठित दारुपुत्रकमिदमानयेति प्रयुङ्क्ते स च दारुपुत्रकस्तथा करोति तदा चेतनव्यवहारादिवत् तद्दर्शी बालो व्युत्पद्यते, तथेहापि स्यात् । न्या०कुसु०पृ०286

2- यः शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति, तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः । उप०7/2/20

3- घटानयनादिसम्पादकस्य सूत्रसञ्चारितदारुपुत्रं प्रति घटमानयेत्यादिवाक्यनियोगसहकारकात् मायाविनो यथेतरेषां शक्तिग्रहादयस्तथा सर्गादौ प्रयोज्यप्रयोजकभावावस्थितनानाशरीराधिष्ठितात् घटाद्यानयनसम्पादकघटमानयेत्यादिवाक्यनियोजकेश्वरादेवेतरेषां शक्तिग्रहादय इत्यर्थः । कुसु०कारि०व्या०पृ०30

4- नानाकर्मफलस्थानमिच्छयैवेदृशं जगत् ।
स्रष्टुं प्रभवतस्तस्य कौशलं को किमन्यथेव ।।

न्या०म०भाग । पृ० 345

सङ्केत स्थित अर्थ को प्रकाशित करता हूँ।[1] न्यायकन्दली में शब्दसङ्केत को भिन्न प्रकार से स्वीकार किया गया है। श्रीधरभट्ट का कहना है कि योनिज शरीरी के संस्कार गर्भवासादिजनित महान् दुःख के कारण विलुप्त हो जाते हैं, अतएव जन्मान्तर में उन्हें सभी बातों का स्मरण नहीं होता है। परन्तु ऋषि, प्रजापति, सर्व मनु के मानस होने के कारण उनके अदृष्ट योनिज शरीर वालों से विलक्षण हैं। वे सोकर उठे हुए व्यक्तियों की तरह दूसरे जन्मों में किये गये शब्दार्थ के व्यवहार को स्मरण कर इस जन्म में भी शब्द और अर्थ का व्यवहार करते हैं। उनके व्यवहार से ही अन्य सभी जीव शब्दार्थ के सङ्केत को ग्रहण करते हैं। व्यवहार की इस परम्परा से शब्द और अर्थ के सङ्केत का ग्रहण होता है।[2] अतएव प्रलय होने पर भी सङ्केतग्रह में कोई व्यवधान नहीं उपस्थित होता।

(5) मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत पन्चम प्रलयविरोधी तर्क का भी समाधान नैयायिक उपरोक्त चतुर्थ समाधान की तरह ही करते हैं। उदयनाचार्य का कहना है कि सृष्ट्यादि में सर्वशक्तिसम्पन्न परमेश्वर कुलालादिशरीरों को धारणकर लोगों

1- सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति।
यो भा० 1/27

2- योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादि दुःखप्रबन्धेन विलुप्तसंस्कारो जन्मान्तरानुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति। ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीरविशिष्टादृष्टसम्बन्धिनो दृष्टसंस्काराः कल्पान्तरानुभूतं सर्वमेव शब्दार्थव्यवहारं सुप्तप्रतिबुद्धवत् प्रतिसन्दधते, प्रतिसन्धानाश्च परस्परं बहवो व्यवहरन्ति। तेषां व्यवहारात् तत्कालवर्तिनां प्राणिनां व्युत्पत्तिः, तद्व्यवहाराच्चान्येषामित्युपपद्यते व्यवहारपरम्परया शब्दार्थव्युत्पत्तिरित्यर्थः।
न्या०क०पृ०133

को घटादिनिर्माण की शिक्षा देते हैं[1]। हरिदासभट्टाचार्य का कहना है कि वह ईश्वर घटादिनिर्माण के सम्प्रदाय को भी स्वयं करके सिखाता है।[2] ईश्वर के द्वारा कुछ व्यक्तियों को घटादि की शिक्षा दे देने के बाद उन शिक्षित व्यक्तियों से घटादि-निर्माण में समर्थ व्यक्तियों की परम्परा चल पड़ती है। अतः मीमांसकों के द्वारा प्रलयाभाव के समर्थन में दी गई पञ्चम युक्ति भी ठीक नहीं है।

इस प्रकार से नैयायिक मीमांसकों द्वारा स्थापित प्रलयविरोधी तर्कों का खण्डन कर देते हैं, जिससे प्रलय की सत्ता में जो आपत्तियाँ थीं वे दूर हो जाती हैं।

<u>नैयायिकों द्वारा प्रलयसमर्थक तर्कों का उपन्यास</u> -

प्रलयाभावसमर्थक युक्तियों का खण्डन कर देने के बाद भी मीमांसक यह कह सकते हैं कि केवल प्रलयाभावसाधक तर्कों का खण्डन कर देने मात्र से प्रलय की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः यदि प्रलय की सत्ता को स्वीकार करना है तो नैयायिकों को प्रलयसमर्थक तर्कों को भी प्रदर्शित करना चाहिए, जिससे प्रलय की सत्ता स्थापित हो सके।

1- क्रियाव्युत्पत्तिरपि तत एव कुलालकुविन्दादीनाम्।

न्या०कुसु० पृ० 286

2- एवं घटादिसम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिक्षयति।

विवृति पृ० 96

इस प्रकार की आशङ्का होने पर नैयायिक सृष्टि और प्रलय की सत्ता के साधन के लिए उनके साधक प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं। उदयनाचार्य अनुमान वाक्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह "विवसन्तान द्रव्यसन्तान से रहित समवाय के द्वारा उत्पन्न होता है, सन्तान होने से, आरणेय सन्तान के समान।"[1] बोधिनीकार श्री मदवरदराज का कहना है कि जितने भी जागतिक पदार्थ हैं वे उनके कारणस्वरूप द्रव्यकारणसन्तान से सम्बद्ध होते हुए तदारम्भक परमाणुओं से भी सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार सर्गादि के उत्तरकालिक संसार में घटाद्युत्पादक परमाणु भी हैं एवं द्रव्य घटकपालादि के सन्तान अर्थात् समूह भी हैं। अतएव सृष्ट्युत्तरकालीन घट तदारम्भक परमाणुओं से एवं कपालादि द्रव्यपदार्थों -दोनों से सम्बद्ध हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्ट्युत्तरकाल में जन्य घटादि द्रव्यों के कारण द्रव्य कपालादि सन्तान से युक्त परमाणु हैं। परन्तु सृष्टि के उत्तरकाल में जिन घटत्व जाति से युक्त घटोत्पत्ति द्रव्यसन्तान से युक्त परमाणुओं से होती है, उस घट वस्तु की उत्पत्ति सृष्टि के समय द्रव्यसन्तान से रहित केवल परमाणुओं से ही होती है। जैसे आद्य वह्न्युत्पत्ति अरणिकाष्ठ में संयुक्त तैजस परमाणुओं से ही होती है, क्योंकि सर्गादि के समय उसे स्थूलवह्नि का साहचर्य मिलना असम्भव है।[2] अतएव घटाद्युत्पादक

1- विवसन्तानोऽयं द्रव्यसन्तानाद्युन्यैः समवायिभिरारब्धः। सन्तानत्वादारणेय-सन्तानवत्। न्या०कु०पृ०286-90

2- यथा ह्यघत्वे घटादिकार्याणि तदारम्भकैः परमाणुभिः तदारम्भात् पूर्वद्रव्यमान-मृत्पिण्डादि कार्यसन्तानवद्भिरारभ्यन्ते, नैवं सर्वदापीति। कदाचिद् द्रव्य-सन्ताना ह्यन्यैरनारब्धसर्वकार्यैः स्वरूपेणावस्थितैरिति यावत्। परमाणुभिर्विवं कार्यमारभ्यते यथा ह्यरणिजनितोऽग्निः संताना न्तरशून्यैरेवारणिवर्तिभिरा-ग्नेयपरमाणुभिरारभ्यत इति।

बोधिनी पृ० 286

परमाणुसमूह जिस समय द्व्यणुसन्तान से विरहित होकर घटादि को उत्पन्न करते हैं वही काल सृष्टि का आदि काल है ।

अतः वर्तमान ब्रह्माण्ड जिस कर्ता के द्वारा जिन उत्पादक परमाणुओं से जन्य हैं उन सभी परमाणुओं के नित्य होने से और उनमें ब्रह्माण्डोत्पादिका शक्ति निहित होने से वे सभी अवश्य ही उस कर्ता के सहयोग से इस ब्रह्माण्ड के सजातीय दूसरे ब्रह्माण्डको भी उत्पन्न करते हैं, जैसे कि प्रदीपोत्पादक परमाणु प्रत्येक क्षण में अन्यान्य प्रदीपों को उत्पन्न करते हैं ।[1] आत्मतत्त्वविवेक में कहा गया है कि जो कर्ता जिस जाति के एक कार्य को करने या जानने में समर्थ रहता है वह उस जाति के समस्त कार्य को ही करने या जानने में समर्थ रहता है-यह नियम है ।[2]

ब्रह्माण्ड उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य भी है । अतएव ब्रह्माण्ड का नाश और उत्पत्ति दोनों सम्भव होने से प्रलय एवं सृष्टि को नकारा नहीं जा सकता । बोधिनीकार ने कहा है कि जिस प्रकार वर्तमान समय में तन्त्वादि अवयवों के संयोग-विभाग से पटादि की उत्पत्ति विनाश में भी सन्तान का अनुच्छेद अर्थात् नित्यत्व देखा जाता है वैसे ही इस उत्पत्ति-विनाश के नियम को सर्वदा स्वीकार करने पर कौन सी बाधा उपस्थित हो सकती है ?[3] यह अनुमान करना

1- वर्तमान ब्रह्माण्डपरमाणवः पूर्वमुत्पादितसजातीयसन्तानान्तराः, नित्यत्वे सति तदारम्भकत्वात् प्रदीपपरमाणुवदित्यादि । न्या०कु०पृ०29।

2- यश्च यज्जातीयमेकं कर्तुं ज्ञातुं वा समर्थः स तज्जातीयं सर्वमेवेति नियमः ।
आ०त०वि०पृ०423

3- यथा ह्यद्यत्वे तन्त्वाद्यवयवानां संयोगविभागाभ्यामेव पटादेरुत्पत्ति विनाशौ संतानानुच्छेदेन दृश्येते तथैव सर्वदापि तौ स्यातां, किमत्र बाधकमिति ।
बोधिनी पृ० 29।

सरल है कि जिन कार्यद्रव्यों की उत्पत्तिशील एवं विनाशशील जो परम्परायें हैं, उन परम्पराओं का भी कालान्तर में कभी न कभी विलोप होना अवश्यम्भावी है। चूंकि ब्रह्माण्ड भी उत्पत्तिशील और विनाशशील धर्म से युक्त है, अतः उसका भी अत्यन्त विनाश कभी न कभी अवश्य होगा। इससे यह अनुमान वाक्य फलित होता है कि "ब्रह्माण्डसन्ततिः अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवत्।"

इस प्रकार सृष्टि के साधक और प्रलय के साधक दोनों अनुमान निर्दोष हैं, क्योंकि कार्यों की स्थिति अनित्यकारणमूलक होने के कारण इस स्वभाव का अतिक्रमण भोग के उत्पादन में भी नहीं हो सकता। जिन पदार्थों में सन्तानत्व है उन सभी पदार्थों में अत्यन्त विनाश का प्रतियोगित्व रूप साध्य भी अवश्य ही होगा। अतः कथित अनुमान के हेतुओं में व्याप्ति की कोई अनुपपत्ति नहीं है। उदयनाचार्य ने कहा है कि जब ब्रह्माण्ड परमाणुसात् हो जायेगा अर्थात् उसका आपरमाण्वन्त विनाश हो जायेगा, उस समय परमाणु परस्पर असम्बद्ध हो जायेंगे, एवं वे कार्योत्पादन में अक्षम हो जायेंगे। उस समय ये प्राणिगण या गिरिसागरादि आधाराभाव में कहाँ रहेंगे ? [1] अतः यह अवश्य स्वीकरणीय होगा कि आश्रयाभाव में प्राणिगण या गिरिसागरादि भी विनष्ट हो जायेंगे। [2] उदयनाचार्य ने आधाराभाव में भी आश्रित

1- तथा च ब्रह्माण्डे परमाणुसाद्भवति परमाणुषु च स्वतन्त्रेषु पृथगासीनेषु तदन्तःपातिनः प्राणिगणाः क्व वर्तन्ताम् ? न्या०कु० पृ० 212

2- तत्तदभावे निराश्रयं किञ्चिदपि न स्यादिति।

किरणा० पृ० 300

पदार्थों की सत्ता को अस्वीकार करते हुए कहा है कि चौदह कोठों वाले भुवनरूपी महल के ध्वस्त हो जाने पर भी गांव की कुटिया एवं झोपड़ी में विहार करने वाले शरीरधारी जीव निर्भय ही हैं- यह पूर्वपक्षियों की अच्छी सूझ है ?[1]

नैयायिकों का कहना है कि अवयवों के परस्पर सम्बद्ध रहने पर ही अवयवी की सत्ता रहने के कारण अवयवी परम्परा का विनाश द्व्यणुक के विच्छेद तक पहुँच जाने पर उस समय अन्य किसी अवयवी की संभावना नहीं होगी । उदयना-चार्य ने प्रलय की सिद्धि के लिए तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं[2] जिनके आधार पर निम्नलिखित तीन अनुमान वाक्य प्रलय की सिद्धि में प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

§1§ प्राणियों का या गिरिसागरादि का भी अत्यन्त विनाश अवश्य होता है क्योंकि तदाश्रय विनष्ट हो चुके होते हैं । जैसे कि क्षुधा से क्रुद्ध वानर के मुँह में पड़े हुए गूलर के बीच रहने वाले कीड़ों का नाश गूलर के विनाश से हो जाता है ।

1- दिष्ट्या सप्तभौमभुवनप्रासादभङ्गेऽपि निर्भया एव ग्रामकुटीहट्टविहारिणः शरीरिण इति महती प्रेक्षा ।

आ०त०वि०पृ० 444-45

2- कुपितकपिकपोलान्तर्गतोदुम्बरमशकसमूहवद्, दवदहनदह्यमानदारुदरीकर्मिमान घुणसङ्घातवद्, प्रलयपवनोल्लासनीयोर्वानलनिपातितपोतसायात्रिकसार्थवद्वेति ।

न्या०कु०पृ०292

"प्राणिगणाः गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति द्रव्यान्तरेण सह,
विहन्यमानाधारत्वात् कुपितकपोलान्तर्गतोदुम्बरमशकसमूहवत्" ।

(ii) दूसरा अनुमान वाक्य है कि दावाग्नि से जलते हुए वृक्ष के कोटर में घूमता हुआ घुण (कीड़ों का समूह) जिस प्रकार महादहन से वृक्ष के विनष्ट होने पर विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रालेयाग्नि से प्राणियों का एवं गिरिसागरादि का विनाश अवश्य होता है । "प्राणिगणाः गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति महादहनदह्यमानाश्रयत्वात् दवदहनदह्यमानदारुदरविघूर्णमानघुणसङ्घातवत् ।"

(iii) तीसरा अनुमानवाक्य है कि जिस प्रकार प्रलयकालिक वायु से प्रज्वलित वड़वानल में गिरे हुए नाव के यात्री नाव के साथ ही विनष्ट हो जाते हैं, तद्वत् ब्रह्माण्ड के विनष्ट होने पर प्राणिगण एवं गिरिसागरादि भी विनष्ट हो जाते हैं । "प्राणिगणाः गिरिसागरादयो वा विनश्यन्ति महापवनक्षुभितसमुद्रविलीयमानाश्रयत्वात् प्रलयपवनोल्लासनीयोर्वानलनिपातितपोतसांयात्रिकसार्थवत् ।"

आत्मतत्त्वविवेक में कहा गया है कि जैसे भविष्य में वेदों का उच्छिन्न हो जाना अनुमान प्रमाण से सिद्ध है वैसे ही पर्वत भी चूर्ण हो जायेंगे, पार्थिव द्रव्य होने के कारण घट के समान । समुद्र भी सूख जायेंगे, जलाशय होने के कारण, पोखरों के समान । सूर्य भी बुझ जायेगा तैजस द्रव्य होने के कारण प्रदीप के समान तथा ब्रह्मा भी मरेंगे, शरीरधारी होने के कारण, हम लोगों के समान ।[1]

1- यथा चैतत् तथा पर्वता अपि चूर्णी भवन्ति, पार्थिवत्वात्, घटवत् । समुद्रा अपि शोषमेष्यन्ति जलाशयत्वात्, स्थलीपल्वलवत् । सूर्योऽपि निर्वास्यति तैजसत्वात् प्रदीपवत् । ब्रह्मापि प्रेष्यति शरीरित्वात् अस्मदादिवदिति ।

आ०त०वि०पृ०443

मैत्रायण्युपनिषद में भी सर्वविनाशत्व की चर्चा हुई है ।[1]

इस प्रकार से प्रलयसाधक अनुमानों के माध्यम से प्रलय की सत्ता सिद्ध हो जाती है । प्रशस्तपाद ने भी प्रलय का समर्थन करते हुए कहा है कि ब्राह्ममान से सौ वर्ष के अन्त में जब वर्तमान ब्रह्मा के मोक्ष का समय होता है, उस समय कुछ काल तक प्राणियों के खेद को मिटाने के लिए सभी भुवनों के अधिपति महेश्वर को संहार की इच्छा होती है । उसके बाद ही शरीर, इन्द्रिय एवं अन्य सभी महाभूतों के उत्पादक सभी आत्माओं के सभी अदृष्टों की कार्यजननशक्ति कुण्ठित हो जाती है । उसके बाद महेश्वर की इच्छा और आत्मा एवं परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न क्रियाके द्वारा शरीर और इन्द्रिय के उत्पादक परमाणुओं में विभाग उत्पन्न होता है । उन विभागों से शरीर और इन्द्रिय के आरम्भक परमाणुओं के संयोग का नाश होता है । तब शरीरादि कार्य-द्रव्यों का परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाता है । इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु इनमें आगे-आगे के रहते पहिले-पहिले का विनाश होता है, तदनन्तर उतने ही समय तक अपने में परस्पर असम्बद्ध परमाणु एवं धर्म-अधर्म और संस्कार से युक्त जीव ही रह जाते हैं ।[2] इसी प्रकार से अन्यान्य

1- अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनमस्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां ----------। मैत्रा० 1/7

2- ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्रह्मणोऽपवर्गकाले संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनां निशि विश्रामार्थं सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षा समकालं शरीरेन्द्रियमहाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानामदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यस्तत्संयोगनिवृत्तौ तेषामापरमाण्वन्तो विनाशः । तथा पृथिव्युदकज्वलनपवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य-पूर्वस्य विनाशः । ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते धर्माधर्मसंस्कारानुविद्धा आत्मानस्तावन्तमेव कालम् ।
प्रश०पा०भा०पृ०29-30

न्याय-वैशेषिकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रलय की सत्ता को सिद्ध किया है ।

इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि और विनाश का क्रम चलता रहता है । जिस प्रकार भावी प्रवाह से पूर्व प्रवाह का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार वर्तमान प्रवाह से पहिले भी दूसरे प्रवाह का उच्छेद अवश्य हुआ रहता है, क्योंकि यह प्रवाह भी प्रवाह ही है ।[1] अतः अनुमानवाक्य किया जाता है कि "अयं वर्तमानप्रवाहः उच्छेदपूर्वकः प्रवाहत्वात् भाविप्रवाहवत् ।" उदयनाचार्य ने कहा है कि उच्छेद के बाद पुनः सृष्टि होनी चाहिए, अन्यथा संसारियों के लिए कर्मों की हानि हो जायेगी । कारण कि वर्तमान सृष्टि में प्राणियों ने जो कर्म किये हैं वे भविष्य में सृष्टि न होने पर निष्फल हो जायेंगे । अतः वर्तमान सृष्टि के बाद प्रलय होने पर पुनः सृष्टि का होना अनिवार्य है । इसी प्रकार यह वर्तमान सृष्टि भी पूर्वप्रलय के बाद हुई है तथा उस प्रलय के पूर्व की सृष्टि भी उसके पूर्ववर्ती प्रलय के बाद हुई थी । यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायेगा तो विश्वनिर्माण के बिना भोग और ज्ञान दोनों के असंभव होने से कर्मप्रवाह का निरोध नहीं होगा, फलस्वरूप मुक्ति भी असंभव हो जायेगी ।[2]

1- तत्रापोच्छेदानन्तरं पुनः प्रवाहः तदनन्तरश्च पुनरुच्छेद इति सारस्वतमिव स्रोतः, अन्यथा कृतहानप्रसङ्गात् । तथा च भाविप्रवाहवद्भवन्नप्ययमुच्छेदपूर्वक इत्यनुमीयते । न्या०कु०पृ०30 ।

2- यत एव उच्छेदानन्तरं पुनः सर्गेण भाव्यम् । अन्यथा संसारिणां कृतहान प्रसङ्गात् । न हि विश्वनिर्माणमन्तरेण भोगज्ञानयोः संभवः । न च तेन बिना कर्मप्रवाहसंरोधः । ततो यथा भविष्यत् विश्वसर्गो उच्छेदपूर्वकस्तथाऽयमपीति ।

आ०त०वि०पृ०43-44

भगवद्गीता में स्पष्टरूप में कहा गया है कि सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म-शरीर में ही लीन हो जाते हैं। यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति के वश में होकर रात्रि के प्रवेशकाल में लीन होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है।[1] जयन्तभट्ट ने प्रलय का एवं सर्ग का समर्थन करते हुए कहा है कि उस ईश्वर की इच्छा से जब कर्म कार्यों के लिए प्रवृत्त होते हैं तब सर्ग उपपन्न होता है, और जब वे कर्म ईश्वर की इच्छा से कार्योत्पादन के प्रति उदासीन हो जाते हैं तब प्रलय उपपन्न होता है।[2] इन्होंने सर्ग एवं प्रलय का समर्थक एक आभाणक भी प्रस्तुत किया है।[3] श्री शंकराचार्य ने भी श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है कि सृष्टि काल

1- अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राव्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते ।

राव्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। गी0 8/18-19

2- तदिच्छया कर्माणि कार्येषु प्रवर्तन्ते इत्युपपन्नः सर्गः । तदिच्छाप्रतिबन्धात् स्तिमितशक्तीनि कर्माण्युदासते इत्युपपन्नः प्रलयः ।

न्या0म0भाग । पृ0 285

3- तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना ।

समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिद्ध्यत्यप्रमाणिका ।।

न्या0म0भाग । पृ0 285 में उद्धृत ।

में आकाशादि और पवनादि से लेकर यह सम्पूर्ण जगत् जिनसे उत्पन्न हुआ है, स्थिति के समय भी जो मधुसूदन अपने आनन्दांश से उसकी सर्वथा रक्षा करते हैं, एवं लय के समय जो लीलामात्र से उसे अपने में ही लीन कर लेते हैं वे विभु शरणागतवत्सल निखिल भुवनेश्वर श्री कृष्णचन्द्र मेरे नेत्रों के विषय हों[1] - इस कथन से भी सृष्टि और प्रलय की कल्पना प्रबल होती है। सृष्टि और प्रलय की धारा अनादि और अनन्त है- इस विषय की पुष्टि भगवान् श्रीकृष्ण के इन वचनों से भी होती है जिनमें कहा गया है कि-

(1) जब-जब यागादि धर्मों का ह्रास होता है एवं हिंसादि अधर्मों का उदय होता है, तभी मैं पुनः धर्मस्थापनार्थ एवं अधर्म के विनाशार्थ अवतार लेता हूँ।[2]

(2) सज्जनों की रक्षा के लिए एवं पापियों के विनाश के लिए युग-युग में मैं विशेष शरीर को धारण करता हूँ।[3]

1- यतः सर्वं जातं वियदनिलमुख्यं जगदिदं
स्थितौ निःशेषं यो वति निज सुखांशेन मधुहा।
लये सर्वं स्वस्मिन् हरति कलया यस्तु स विभुः
शरण्यो ------------------------।।

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत कृष्णाष्टकम्

2- यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। गी0 4/7

3- परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।। गी0 4/8

(3) दुर्गासप्तशती में भी कहा गया है कि जब-जब संसार में दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब-तब अवतार लेकर मैं शत्रुओं का संहार करूँगी ।[1]

इन श्लोकों के "यदा-यदा" एवं "युगे-युगे" तथा "तदा-तदा" इन वीप्साओं से सृष्टि और प्रलय की धारा का अनादित्व और अनन्तत्व अभिव्यक्त होता है । अतएव इस प्रकार से प्रलय एवं सर्ग की सिद्धि हो जाने पर भी यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो कथित रीति से सिद्ध प्रलय-काल में वेदादि का एवं सभी पुरुषों का नाश हो जाने पर फिर किसका परिग्रह किसके द्वारा होगा ? । अतएव अग्रिम सृष्टि में वेद की धारा का बना रहना असम्भव है, एवं शिष्ट महाजन के अभाव के कारण अग्रिम सृष्टि में वेद का प्रामाण्य भी नहीं निश्चित हो सकता । अतः "महाजनपरिग्रह" हेतु से सतत् प्रवाहाविच्छेद रूप में भी वेद का प्रामाण्य नहीं सिद्ध किया जा सकता ।

<u>प्रकारान्तर से वेद का प्रवाहाविच्छेदत्व सम्भव है</u> - पूर्वपक्ष

<u>पूर्वपक्ष</u> - सांख्यानुयायियों का कहना है कि सर्गादि में कपिलादि ऋषिगणों के द्वारा बीते हुए कल्प के वेदों को स्मरणकर उपदेश करना सम्भव है । जैसे कि सोकर उठे

1- प्रलयोत्तरं पूर्ववेदानाशादुत्तरवेदस्य कथं प्रामाण्यं, महाजनपरिग्रहस्यापि तथा अभावात् ।

विवृति पृ० १०

हुए पुरुष को पहिले दिन जाने गये विषयों का दूसरे दिन स्मरण होता है ।[1] ऐसा ही मन्तव्य व्यासभाष्य में भी उद्धृत किया गया है कि आवट्य और जैगीषव्य के संवाद में भगवान् जैगीषव्य ने दश महाकल्पों में होने वाले अपने जन्मों के स्मरण को कहा है ।[2] पतञ्जलि ने भी स्वीकार किया है कि संस्कारों में संयम करने के फलस्वरूप प्राप्त साक्षात्कार से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ।[3] व्यासदेव ने कहा है कि संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को पूर्वजन्मों का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।[4] राजमार्तण्डवृत्ति में कहा गया है कि जब संस्कारों में संयम करने से

1- आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः ।

सां० त०कौ०पृ०122

2- अत्रेदमाख्यानं श्रूयते-भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणात् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि ।"

यो०सू०के व्यासभाष्य 3/18में उद्धृत

3- संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् । यो०सू० 3/18

4- तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः ।

यो०भा० 3/18

संस्कारों का साक्षात्कार उदित होता है तब इस साक्षात्कार के फलस्वरूप योगियों को अपने पूर्वजन्मों का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है ।[1]

इस प्रकार से प्रलयवेला में वेदों का उच्छेद हो जाने पर भी कल्पान्तर रूप इस सर्ग में भी उसका स्मरण होना सम्भव हो सकता है । अतएव विनष्ट शब्द-राशिरूप वेदों के स्मरण में कोई अनुपपत्ति न होने से उनका सतत् प्रवाहाविच्छेदरूप नित्यत्व सम्भव है । अतः वेदादि के उपदेश के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है, क्योंकि कपिलादि ही कर्मयोगसिद्धि के बल पर धर्माधर्मादि अतीन्द्रियार्थों को समझकर वेदादि का उपदेश कर सकते हैं ।

उपर्युक्त मत भी समीचीन नहीं- सिद्धान्त पक्ष -

उपर्युक्त आक्षेप पर नैयायिकों का कहना है कि उस सर्वज्ञ ईश्वर से भिन्न अन्य असर्वज्ञ को वेदकर्ता मानने में उसके असर्वज्ञ होने से विश्वास ही नहीं होगा । यदि अणिमादि शक्तियों से सम्पन्न वेदोपदेश में समर्थ सर्वज्ञों को ही वेदनिर्माता स्वीकार करना है तो इस प्रकार का एक ही सर्वज्ञ मानना चाहिए । अनेक सर्वज्ञों को मानने में अव्यवस्था होगी । अतएव एक ही सर्वज्ञ का मानना उचित है, और वही ऐश्वर्यशाली ईश्वर है ।[2] योगसूत्र में भी कहा गया है कि उस ईश्वर में सर्वज्ञता

1- तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति ।

रा०मा०पृ०165

2- विश्वनिर्माणसमर्थो अणिमादिशक्तिसम्पन्ना यदि सर्वज्ञास्तदा लाघवादेक एव तादृशः स्वीक्रियतां स एव भगवानीश्वरः ।

विवृति पृ० 91

का बीज अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता है ।[1] योगभाष्य में कहा गया है कि अतीन्द्रियज्ञान जिसमें अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता है वह सर्वज्ञ है और वही ईश्वर है ।[2] राजमार्तण्डवृत्ति में भी ईश्वर की सर्वज्ञता का उल्लेख हुआ है ।[3] हरिदासभट्टाचार्य का कहना है कि यदि सर्वज्ञ को वेदकर्ता न मानें तो अनित्यज्ञान से युक्त असर्वज्ञ में विश्वास ही नहीं होगा । इसलिए वैदिक व्यवहार यागादि के अनुष्ठानादि का विलोप हो जायेगा । अतः वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के लिए और वेद के प्रामाण्य के लिए ईश्वर की स्वीकृति के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।[4]

जयन्तभट्ट का कहना है कि कपिलादि को सर्वज्ञ मानने में कोई प्रमाण ही नहीं है । यदि बिना प्रमाण के उनको सर्वज्ञ माना जायेगा तो फिर बुद्धादि को भी सर्वज्ञ मानना पड़ेगा । लेकिन ऐसा मानने पर फिर उन दोनों के मतों में मतभेद कैसे हो सकता है ?[5]

1- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । योo सूo 1/25

2- यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः । स च पुरुषविशेष इति ।
योoभाo1/25

3- तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्वञ्च मूलत्वा बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम् ।
राoमाoवृoपृo15

4- अनित्यासर्वविषयकज्ञानवति च विश्वास एव नास्तीति वैदिकव्यवहारविलोप इति न विधान्तरसम्भवः ईश्वरानङ्गीकर्तृनये इति ।
विवृति पृo 91

5- कपिलो यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का प्रमा ।
अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयोः कथम् ।।
न्याoमoभाग । पृo 383

इसके अतिरिक्त नैयायिकों का कहना है कि कपिलादि ऋषि जो ज्योतिष्टोमादि कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हुए, उनकी इन प्रवृत्तियों के लिए उपयुक्त दृष्टसाधनत्वयुक्त ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से हुई, क्योंकि इसके लिए वेदातिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है, जिसके द्वारा कर्म अथवा योग के हितसाधनत्व को समझा जा सके। अतः कपिलादि कर्मयोगसिद्ध थे इसलिए उन्होंने वेदों का उपदेश किया-यह बात भी वेदों को ईश्वरमूलक मानने से ही उपपन्न हो सकती है।[1]

तदतिरिक्त यह भी है कि सृष्टि होने तक ईश्वर के अतिरिक्त किसी महर्षि की भी तो सत्ता नहीं है क्योंकि उत्पत्तिशील किसी पदार्थ की सत्ता का न होना ही तो प्रलय है। प्रलयावस्था में केवल अव्यक्तरूप ईश्वर ही शेष रहता है जो इस संसार का आदि कारण है। जैसा कि गीता में कहा गया है कि मेरी उत्पत्ति को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।[2] आगे कहा गया है कि सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि तथा स्वयम्भू आदि चौदह मनु- ये मुझमें भाव वाले सबके सब मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण

1- किं च कर्मयोगयोरनुष्ठानेन हि कपिलादयः सिद्ध्यन्ति, तदनुष्ठानं च तयोर्हितसाधनत्वज्ञानाद् तज्ज्ञानोपायश्च तदानीं नास्तीति।

बोधिनी पृ0 306

2- न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ गी0 10/2

प्रजा है ।[1] पतञ्जलि ने भी उसके आदि कारणत्व को स्वीकार किया है । उनका कहना है कि काल से अवच्छिन्न न होने के कारण वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है।[2] ऐसी बहुत सी श्रुतियाँ भी ऐसा ही स्वीकार करती हैं कि वह परमेश्वर ही सृष्टि का कारण है । अतः इस दृष्टि से भी ईश्वर को स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

वेदों को कपिलादि के स्मरणरूप में इसलिए भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि जिस प्रकार एक जन्मावधिक जाग्रदवस्था में ही अधीत विषयों का स्मरण तज्जन्मावधिक दूसरी जाग्रदवस्था में ही हो सकता है, न कि दूसरे जन्मावधिक जाग्रदवस्था में तद्विषय का स्मरण संभव हो सकता है, उसी प्रकार प्रलय के पूर्व अधीत वेदों का स्मरण प्रलयानन्तर दूसरी सृष्टि में नहीं हो सकता ।[3] फिर यदि वेद को कपिलादि के स्मरणरूप में एक कल्प से दूसरे कल्प में अविच्छिन्नता को स्वीकार भी कर लें तो भी मूल में अर्थात् प्रथम सर्ग में वेद को ईश्वरकर्तृक ही मानना पड़ेगा, जिसको पढ़कर कपिलादि सर्गान्तर में स्मरण करेंगे । आत्मतत्त्व विवेक में विकल्प के रूप में कहा गया है कि सोकर उठे हुए व्यक्ति के समान मन्वादि भी पूर्वसृष्टि में गृहीत व्याप्ति का स्मरण कर पितृत्व हेतु से ईश्वर में अविप्रलम्भकत्व का अनुमान करते हैं ।

1- महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। गी0 10/6

2- पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । यो0सू0 1/26

3- एकजन्मप्रतिसन्धानवज्जन्मान्तरप्रतिसन्धाने प्रमाणाभावात् ।
न्या0कुसु0 पृ0 307

इस प्रकार अविप्रलम्भकत्व और सर्वज्ञत्व का अनुमान होने के बाद मन्वादिकों को ईश्वर में आप्तत्व का निश्चय होता है और वे ईश्वर प्रणीत वेदों का परिग्रह करते हैं ।[1]

वेदों को कपिलादि के स्मरणरूप में इसलिए भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि यदि किसी प्रकार उक्त रीति से वैदिक समाश्वास को स्वीकार भी कर लें तथापि सर्गादि काल में वेदविहित क्रियाओं का अनुष्ठान संभव नहीं होगा, क्योंकि "वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीनादधीत्" "ग्रीष्मे राजन्यम्" "शरदि वैश्यम्" इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित आधानादि क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए ब्राह्मणत्वादि जातियों का निर्णय आवश्यक है । किन्तु सर्गादिकाल में ऋषियों में ब्राह्मणत्वादि जातियों का अनुसंधान संभव नहीं है ।[2] यदि यह नियम रहता कि जो व्यक्ति एक जन्म में ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न हो वह बराबर ब्राह्मण माता-पिता से ही उत्पन्न होता रहे तो कदाचित् ब्राह्मणत्वादि जाति स्मरण कपिलादि ऋषियों को सर्गादि में संभव भी होता ।[3] किन्तु जिस प्रकार परमेश्वर को विशेष प्रकार के अदृष्ट

1- अथवा सर्गान्तरगृहीतव्याप्तिप्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पितृत्वेनाविप्रलम्भकत्व-मुच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमाय तत्त्वनिश्चयस्तस्य तेषाम् ।

आ०त०वि०पृ०446

2- कथं हि संस्कारोच्छेदकैर्मरणजननक्लेशैः कालविप्रकर्षेण चान्तरितं जन्मान्तरानुभूतं प्रतिसंधीयते इति । जन्मान्तरानुभूतं प्रतिसंधादिभिरपि कपिलादिभिः सर्गादिभुवां ब्राह्मणत्वादि वर्णविशेषस्याज्ञानादधिकारिविशेषेण धर्मविशेषानुष्ठानं न संभवति।

बोधिनी पृ0307

3- न हि तदानीं ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पत्तिरस्ति, न च पूर्वजन्मनि ब्राह्मणमातापित्रन्यत्वेन जन्मान्तरे ब्राह्मणत्वं भवति यत्तत्प्रतिसंधानेनेति निश्चीयते इति ।

बोधिनी पृ0307

से प्रेरित उन परमाणुओं का ज्ञान संभव है, जिनसे ब्राह्मणत्वादि जातियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है, उस प्रकार से उक्त परमाणुओं का ज्ञान कपिलादि ऋषियों को संभव नहीं है । अतः वेदोपदेश कदाचित् कपिलादि ऋषियों के द्वारा सर्गादि में सम्भव भी हो, तथापि वेदार्थानुष्ठान के अधिकारी पुरुषों की निर्णायिका ब्राह्मणत्वादि जातियों का ज्ञान सर्गादि में कपिलादि ऋषियों को संभव नहीं है । अतः वेदों का कोई सर्वज्ञ वक्ता पुरुष अवश्य होना चाहिए, जिसमें रहने वाले प्रमाज्ञान से वेदार्थविषयक शाब्दबोधात्मक प्रमा सम्भव हो सके । वेदों का यह वक्ता परम-आप्त परमेश्वर को छोड़कर और कोई दूसरा नहीं हो सकता ।[1]

निष्कर्ष -

इस प्रकार से वेदों का प्रामाण्य बिना किसी सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना किये निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि उनके नित्यता का खण्डन किया जा चुका है ।

वेदों में सतत् प्रवाहशीलस्वरूप से भी नित्यत्व सम्भव नहीं है क्योंकि प्रलयादि के सम्भव होने से उसकी निरन्तरता अवरुद्ध हो जाती है, एवं इसी कारण से उसका महाजनपरिग्रह भी संभव नहीं है । अतः जयन्तभट्ट ने वेद को ईश्वर की रचना बताते हुए कहा है कि जो इस सम्पूर्ण संसार के प्राणियों के चित्तवृत्तियों, कर्मादि

1- न च कपिलादिद्वारा सम्प्रदायसिद्धिः, ततः परमेश्वरादन्यस्मिन् कपिलादौ प्रमाणत्वेन विश्रम्भाभावात् । न हि योगबलप्रभाविता भावना प्रमात्मकमेव साक्षात्कारं करोतीति नियमः । ततो नित्यसर्वज्ञसिद्धिः इति ।

बोधिनी पृ० 210

के विचित्र परिपाक के ज्ञाता एवं संहारकर्ता हैं, वेद उसी ईश्वर की ही रचना है- यह निश्चित होता है ।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि जिस प्रकार पटादि रचना को देखकर उसके कर्ता कुविन्दादि का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार वेद की भी रचना को देखकर उसके कर्ता ईश्वर की कल्पना की जाती है ।[2] यदि वेद में पुरुषकर्तृता का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो फिर पटादि कार्य के प्रति परोक्ष कुवि-न्दादि की कर्तृता कैसे निश्चित की जा सकेगी ?[3] पुरुष सूक्त में भी वेद की उत्पत्ति शीलता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ।[4] बृहदारण्यक में वेद को परमेश्वर का निःश्वास कहा गया है ।[5] शङ्कराचार्य भी सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेदादि ईश्वर के निःश्वास हैं ।[6] ऐसा ही भामतीकार ने भी स्वीकार किया है ।[7] भगवान

1- कर्ता य एव जगतामखिलात्मकृत्स्नकर्मप्रपञ्चपरिपाकविचित्रितानः ।
   विश्वात्मना तदुपदेशपराः प्रणीताः तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत् ।।
   न्या०म०भाग । पृ० 338

2- पटादिरचनां दृष्ट्वा तस्य चेत् सानुमीयते ।
   वेदेऽपि रचनां दृष्ट्वा कर्तृत्वं तस्य गम्यताम् ।।
   न्या०म०भाग । पृ० 334

3- यत् पुनरवादि वेदेषु पुरुषस्य कर्तृत्वमशक्यं ग्रहीतुमिति तदप्यसाधु ।
   परोक्षस्य कुविन्दादेरपि अभिनवावरकपटादौ कार्ये कथं कर्तृताधिगम्यते ।
   न्या०म०भाग । पृ०334

4- तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ।। ऋग्वे०दशम मण्डल पु०सू० 90/9

5- अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदः । बृहदा० 2/4/10

6- अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेद इत्यादि श्रुतेः ।
   शारी०भा०1/1/3/3

7- अप्रयत्नेनास्य वेदकर्तृत्वे श्रुतिरुक्ता अस्य महतो भूतस्येति ।
   भामती ।

श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि ओम्, तत्, सत्-ऐसे ये तीन [illegible] सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के नाम हैं एवं उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये हैं।[1] दुर्गासप्तशती में भी इन्द्रादि देववृन्द महिषासुर का वध हो जाने पर उस वेदमाता, वेदाधिष्ठात्री महामाया की स्तुति में कहते हैं कि आप शब्दस्वरूपा हैं, एवं अत्यन्त निर्मल ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा उद्गीथ के मनोहर पदों के पाठ से युक्त सामवेद का आधार भी आप ही हैं।[2] सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है कि स्वयम्भू ने अथर्ववेद के उपाङ्ग आयुर्वेद का प्रणयन किया है।[3]

अतएव इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेद पुरुषविशेष ईश्वरकर्तृक हैं। न्यायमञ्जरीकार श्रीमज्जयन्तभट्ट ने तो निष्कर्षरूप में वेद का ईश्वर-पूर्वकत्व सिद्ध करते हुए मीमांसकों को धिक्कारते हुए कहा है कि मीमांसक लोग घृतपान करें अथवा दुग्धपान करें अथवा अपनी बुद्धिजाड्यता को दूर करने के लिए ब्राह्मीघृत का पान करें, परन्तु वेद पुरुषप्रणीत ही हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं है। कारण कि जिस प्रकार घटादि संस्थान से पर्वतादि के भिन्न होने पर भी संस्थानमात्र का कर्तृत्वमत्व सिद्ध है उसी प्रकार वेद भी पदादि का संस्थान होने से उसका रचनात्व

1- ओऽम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। गी० 17/23

2- शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान ।
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् । दुर्गा सप्तशती 4/10

3- इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्याय सहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः ।

सुश्रुतसंहिता अ० ।

सिद्ध है ।[1] वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि महाप्रलय में ईश्वर वेदों का प्रणयन करके सृष्टि के आदि में सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं ।[2] अतएव यह सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरकर्तृक है । अतः वेदकर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि होती है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर ने पहले पहल वेद की उत्पत्ति कैसे की होगी ? क्योंकि उस समय महाजनों के अभाव में वेदों का परिग्रह भी असंभव होगा । इस आशङ्का के उत्तर में उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि सृष्टि के आदि में वेदों के प्रणयनकाल में ही ईश्वर के द्वारा मनु आदि मानस महाजन भी उत्पन्न किये गये और उन्हीं के द्वारा पहले वेदों का परिग्रह हुआ, जो आज तक चला आ रहा है । अतः महाजन के अभाव में महाजन द्वारा परिग्रह का अवसर ही कहाँ है-इस दोष का भी अवकाश नहीं है ।[3] उनका कहना है कि जैसे आप्तोक्तत्व

1- मीमांसकाः वा पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्ध्याद्याशङ्कापनयनाय ब्रह्मौषधं वा पिबन्तु वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः ।

यथा घटादिसंस्थानाद् भिन्नमप्यचलादिषु ।
संस्थानं कर्तृमत् सिद्धं वेदेऽपि रचना तथा ।।

न्या०म०भाग । पृ० 332

2- महाप्रलये ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एव ।

न्या०वा०ता०टी०पृ०434; न्या०सू० 2/1/68;

3- तस्मात् सर्गादिमहाजनमन्वादिपरिग्रहपूर्वकोऽयमद्यापि वेदानुवर्तत इति नानवसर-दोषावकाशोऽपीति युक्तमुत्पश्यामः ।

आ०त०वि०पृ०445

के निश्चय से आजकल हम लोग आयुर्वेद का परिग्रह करते हैं वैसे ही उस समय मनु आदि ने वेदों में आप्तोक्तत्व का निश्चय करके उनका परिग्रह किया। उनके अतीन्द्रिय विषयों के द्रष्टा होने से उन्हें वेदों में आप्तोक्तत्व का परिग्रह प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।[1] उदयनाचार्य ने परिग्रह के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वेदार्थानुष्ठानरूप व्यवहार से हमारे पुत्रादि भी परिचित होकर वैसा अनुष्ठान करें एवं उनको देखकर अन्य लोग अनुष्ठान करें। इस प्रकार लोक में धार्मिक सम्प्रदाय चालू हो-ऐसी भूतानुकम्पा तथा अपने अधिकार का पालन ही उनका प्रयोजन था।[2] उदयनाचार्य महाजनों द्वारा वेदों में आप्तोक्तत्व का निश्चय इस ढंग से भी स्वीकार करते हैं कि सोकर उठे हुए व्यक्ति के समान मन्वादि भी पूर्वसृष्टि में गृहीत व्याप्ति का स्मरण कर पितृत्व हेतु से ईश्वर में अविप्रलम्भकत्व का अनुमान करते हैं, एवं अनेक प्रकार के प्राणियों की रचना देखकर उसमें सर्वज्ञत्व का भी अनुमान करते हैं। इस प्रकार अविप्रलम्भकत्व एवं सर्वज्ञत्व का अनुमान होने के बाद मन्वादिकों को ईश्वर में आप्तत्व का निश्चय होता है और वे ईश्वर प्रणीत वेदों का परिग्रह करते हैं।[3]

1- तदेव कथं मन्वादिभिः परिगृह्यन्तां वेदा इति चेत्, आयुर्वेदवदाप्तोक्तत्व-निश्चयात्। स एव कुत इति चेत्, अध्यक्षतः तेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वात्।

आ०त०वि०पृ०445

2- तादृशां तेषां तत्परिग्रहेण किं प्रयोजनमिति चेत्, अस्मद व्यवहारेणास्मदात्यादि व्युत्पद्यताम्, तथा च धर्मसम्प्रदायः प्रवर्ततामिति भूतदया स्वाधिकारसम्पादनं च।

वही पृ० 445

3- अथवा सर्गान्तरगृहीतव्याप्ति प्रादुर्भावे सुप्तप्रतिबुद्धवत् पितृत्वेनाविप्रलम्भकत्व-मुच्चावचभूतनिर्माणदर्शनेन सार्वज्ञ्यमनुमायाऽऽप्तत्वनिश्चयस्तस्य तेषाम्।

वही पृ० 446

परिग्रह के विषय में उदयनाचार्य की तीसरी सोच है कि स्वयं ईश्वर ही धर्मसम्प्रदाय के सन्चालनरूप व्यसन में व्यस्त होकर हजारों शरीरों को व्युत्पाद्य और व्युत्पादक (शिष्य-शिक्षक) के रूप में बनाकर सर्गादिकालीन मन्वादि महाजनों को वेदों का परिग्रह कराया । जिस प्रकार कोई नाट्यविद्या का आचार्य स्वयं नाट्य कर अन्यों को नाट्य की शिक्षा देता है ।[1]

इस प्रकार से उदयनाचार्य ने वेदपरिग्रह के विषय में तीन प्रकार के उपाय बताये हैं । इन तीनों ही पक्षों की पुष्टि स्मृतियों एवं पुराणों द्वारा भी होती है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि परमेश्वर पहले ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और बाद में उन्हीं को समस्त वेदों का उपदेश देते हैं ।[2] मुण्डकोपनिषद् में भी ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या प्रवर्तक सम्प्रदाय का क्रम वर्णित है ।[3] श्रीमद्भागवत् में वर्णित है कि ओंकार परमात्मा के हृदयाकाश में प्रकट होकर वेदरूपा वाणी को अभिव्यक्त करता है । ओंकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्म का साक्षात् वाचक है

1- यद्वा भगवानेव सम्प्रदायप्रवर्तनव्यसनव्यग्रः कायसहस्राणि व्युत्पाद्यव्युत्पादक-भावव्यवस्थितानि निर्माय तदातनं महाजनं परिग्राहितवान् नाटनोपाध्याय इव स्वयं नटित्वेति सर्वं सुस्थम् ।

वही पृ0 446

2- यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।। श्वेता0 6/18

3- मुण्डकोपनिषद् प्रथम खण्ड ।

और वही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदों का सनातन बीज है ।[1] आगे कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने अपने चार मुखों से होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों के कर्म बतलाने के लिए ओंकार और व्याहृतियों के सहित चार वेद प्रकट किये और अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदि को वेदाध्ययन में कुशल देखकर उन्हें वेदों की शिक्षा दी । वे सभी जब धर्म का उपदेश करने में निपुण हो गये तब उन्होंने अपने पुत्रों को उनका अध्ययन कराया । तदनन्तर उन्हीं लोगों के नैष्ठिक ब्रह्मचारी शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा चारों युगों में सम्प्रदाय के रूप में वेदों की रक्षा होती रही ।[2] एक बार ब्रह्मर्षियों ने ईश्वर से प्रेरित होकर उन वेदों का विभाजन भी किया था । तत्पश्चात् धर्म की स्थापना के लिए भगवान नारायण ने कृष्ण द्वैपायन के रूप में अवतार लेकर समस्त वेदों को चार भागों में विभाजित कर दिया ।[3] व्यासदेव ने पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु इन चार शिष्यों को यथाक्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद,

---

1- येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ।।
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ।। श्रीमद्भागवतपुराण 12/6/40-41

2- तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ।।
पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान् ।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ।।
ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः ।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ।। भाग० पु० 12/6/44-46

3- पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ।। भाग०पु० 12/6/49

सामवेद तथा अथर्ववेद का दान दिया ।[1] विष्णु पुराण में भी इस कथा की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है । गरुड़ पुराण में भी कहा गया है कि परमेश्वर ने स्वयं धन्वन्तरि रूप में अवतार लेकर सुश्रुत को आयुर्वेद का उपदेश दिया ।[2] बादरायण सूत्र के "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"[3] की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं कि ~~व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं कि~~ पूर्वकल्प में जो महर्षिगण तपोबल से सिद्ध हो चुके हैं उनमें से जो व्यक्ति तत्वज्ञान पाकर भी प्रारब्ध कर्मों का फलभोग समाप्त नहीं किये हैं,उन्हें विदेह कैवल्य प्राप्त नहीं होता है । वे लोग दूसरे कल्प के आरम्भ में परमेश्वर के द्वारा वेदप्रवर्तन आदि कार्य में नियुक्त होकर जब तक अधिकार रहता है तब तक रहते हैं ।[4]

1- भाग० पु० 12/6/50-53

2- इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्याय सहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः ।

सुश्रुत संहिता अध्याय ।

3- ब्रह्मसूत्र 3/3/32

4- तेषामपान्तरतमः प्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः । --------एवमपान्तरतमः प्रभृतयोऽपीश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः । सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते ।

शां०भा०3/3/32

इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर समस्त वेदों का आदि-कर्ता तथा आदिवक्ता है । किन्तु हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से लेकर मन्त्रद्रष्टा ऋषिपर्यन्त तपोबल से तथा परमेश्वर की दया पाकर वेद को प्राप्त करते हैं तथा समय-समय पर उसका ज्यों का त्यों स्मरण करके अविकलरूप में उच्चारण करते हैं । वात्स्यायन आदि प्राचीन आचार्यगण इसी तात्पर्य से वेद को ऋषिवाक्य कहते हैं । किन्तु वे लोग भी वेद के आदिकर्तारूप में इन ऋषियों का नाम नहीं लेते हैं, क्योंकि परमेश्वर को छोड़कर दूसरा कोई भी वेद का आदिकर्ता नहीं हो सकता है । ईश्वर के उपदेश के बिना वेद का अथवा वेदार्थविषयक किसी भी तरह का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता है । वेदरचना से पहले किसी को भी वेदार्थ का ज्ञान या ऋषित्व प्राप्त होने का कोई उपाय नहीं था । इसी उद्देश्य से योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु स्वीकार किया है क्योंकि वह समय से परिच्छिन्न नहीं है । वह ब्रह्मा से भी पूर्ववर्ती है अतएव उसे चिरविद्यमान कहा जा सकता है । वह अनादि तथा अनन्त है । अतएव इस विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि उसी परमेश्वर ने वेद का सर्वप्रथम उपदेश दिया है, एवं वेदार्थों की सर्वप्रथम व्याख्या की है । गीता में भी कहा गया है कि जानने योग्य पवित्र ओङ्कार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ ।[1] आगे कहा गया है कि मैं ही सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है,

---

1- वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ।

भ०गी०9/17

एवं सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूं तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूं ।[1] इस श्लोक की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती ने वेदव्यास के रूप में वेदार्थसम्प्रदाय का प्रवर्तक एवं कर्मकाण्डात्मक, उपासना काण्डात्मक, ज्ञान-काण्डात्मक तथा मन्त्र ब्राह्मणात्मक सर्ववेदार्थवित् ईश्वर को स्वीकार करते हुए उसे ब्राह्मण कहा है ।[2] इस प्रकार से वेदों के कर्तारूप में ईश्वर की सिद्धि होती है ।

अन्योन्याश्रय दोष की परिकल्पना एवं उसका परिहार

अब पूर्वपक्षी यह आशङ्का कर सकते हैं कि इस प्रकार से आगम प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सिद्धि एवं आगम को ईश्वरकर्तृक मानने पर ईश्वर और आगम में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जायेगा । अतएव उसका निराकरण (करना) कठिन होने से आगम के आधार पर ईश्वर की सिद्धि अथवा ईश्वर द्वारा आगम की रचना को स्वीकार करना असम्भव है ।

1- सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।। भा०गी०15/15

2- "वेदान्तकृद्" वेदान्तार्थसम्प्रदायप्रवर्तको वेदव्यासादिरूपेण । न केवलमेतावदेव, "वेदविदेव चाहम्" कर्मकाण्डोपासनाकाण्ड-ज्ञानकाण्डात्मकमन्त्रब्राह्मणात्मक सर्ववेदार्थविच्चाहमेव । अतः साधूक्तं ब्रह्मणोऽहि प्रतिष्ठाहमित्यादि ।

भा०भी०गूढार्थदीपिका 15/15

परन्तु इस दोष के निराकरण में माधवाचार्य का कहना है कि पूर्वपक्षी इस अन्योन्याश्रय दोष की परिकल्पना इन दोनों अर्थात् आगम और ईश्वर की उत्पत्ति के विषय में मानते हैं अथवा ज्ञप्ति के विषय में। यदि पूर्वपक्षी इस दोष को उत्पत्ति के विषय में मानते हैं तो फिर दोष ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि आगम ईश्वर के अधीन उत्पन्न हुआ है तथापि परमेश्वर के नित्य होने से इस दोष की सम्भावना नहीं है[1]। ईश्वर अपने आप में प्रमाण है, उसकी उत्पत्ति आगम से नहीं हुई है। जब कि आगम की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा हुई है।

यदि पूर्वपक्षी इन दोनों के ज्ञप्ति के विषय में अन्योन्याश्रय दोष मानें तो भी ठीक नहीं है क्योंकि परमेश्वर का ज्ञान आगम पर निर्भर करता है परन्तु आगम का ज्ञान दूसरे स्थानों अर्थात् गुरु की परम्परा आदि से होता है न कि ईश्वर के द्वारा।[2] जिस प्रकार उत्पत्ति के लिए घटादि कुम्भकार पर निर्भर होता है परन्तु उसके ज्ञान के लिए कुम्भकारादि की आवश्यकता नहीं है अपितु उसका ज्ञान प्रकाश आदि के द्वारा ही होता है। उसी प्रकार आगम की उत्पत्ति तो ईश्वराधीन है परन्तु उसका ज्ञान ईश्वराधीन न होकर गुरु के अधीन है। जिस प्रकार जमीन पर नाव को ले जाने में बैलगाड़ी की आवश्यकता होती है एवं पानी में बैलगाड़ी को ले जाने में नाव की आवश्यकता होती है, फिर भी आधार-भेद होने से अन्योन्याश्रय

1- किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा। नाद्यः। आगमस्येश्वराधीनो-त्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः।

स0द0सं0 नकुलीशपाशुपतदर्शनम् पृ0 437

2- नापि ज्ञप्तौ। परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्।

दोष नहीं होता है, उसी प्रकार आगम की उत्पत्ति ईश्वराधीन होने पर उसके ज्ञान के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान के लिए आगम की अपेक्षा होने पर भी तदुत्पत्ति के लिए आगम की अपेक्षा नहीं है। अतः विषयभेद के कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

पञ्चम अध्याय

धर्माधर्म के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि

॥ पन्चम अध्याय ॥

धर्माधर्म के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि

न्याय-वैशेषिक मत के अनुयायी अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करते हैं । वे मुख्यरूप से ईश्वर की सत्ता को तीन कारणों से स्वीकार करते हैं । इस विषय में न्याय-वैशेषिक के सभी आचार्य एकमत हैं। जिन तीन कारणों के आधार पर वे लोग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं उनमें प्रथम प्रकार है-जगत्कर्ता के रूप में,जिसकी चर्चा वृहद् रूप से तृतीय अध्याय में की गई है । ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाला द्वितीय हेतु है-सर्गादि में वेदोपदेष्टा के रूप में, जिसकी विस्तृत आलोचना चतुर्थ अध्याय में दी गई है । उसकी सत्ता के विषय में जो तीसरा तर्क है,वह है जीवात्मा के कर्मानुसार अथवा तज्जन्य धर्माधर्मरूप अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में । अतएव इस पन्चम अध्याय में ईश्वर की सत्ता की स्थापना इसी तृतीय तर्क के आधार पर करने का उपक्रम किया जा रहा है।

नैयायिकों के इस तृतीय तर्क के मूल में एक प्रश्न छिपा है कि इस संसार में रह रहे अनगिनत मनुष्यों के भाग्य में अन्तर क्यों देखने को मिलता है ? उस भाग्य-वैचित्र्य का कारण क्या है ? कुछ लोग सुखी दिखते हैं तो कुछ लोग दुःखी दिखते हैं, कुछ लोग मूर्ख होते हैं तो कुछ लोग विद्वान् होते हैं । इसी प्रकार से सभी क्षेत्रों में सभी लोगों में सुख,दुःख, मूर्खता विद्वता एवं अन्यान्य गुणों में अन्तर एवं तारतम्य देखने को मिलता है । इसी प्रकार का वैसादृश्य मनुष्येतर जीवों में भी देखने को

प्राप्त होता है । उदाहरण स्वरूप सबसे ऊँचा जीवनस्तर देवलोकवासियों का, उससे नीचे मनुष्यों का, फिर पशुओं का एवं उससे भी कम कीड़े मकोड़ों का देखने को मिलता है । इसी प्रकार से बौद्धिकता की दृष्टि से भी देखा जा सकता है कि सबसे अधिक बौद्धिक प्राणी देवता होते हैं तदनन्तर मनुष्य, फिर पशु-पक्षी होते हैं । वनस्पतियों एवं पाषाण इत्यादि में तो बुद्धिकौशल का भी अभाव देखा जाता है ।

इन सभी बातों को देखने के पश्चात् हम यह नहीं कह सकते कि ये विभिन्नताएं एवं तद्गत वैचित्र्य तारतम्य अकारण हैं, क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता । संसार में जितने भी कार्य प्रत्यक्ष होते हैं उन सबका अपना-अपना कारण होता है । अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अस्मदादिगत सुख-दुःख इत्यादि का जो वैषम्य एवं तारतम्य है, उसका कारण अस्मदादिकों के द्वारा किये गये इस जीवन के अथवा पूर्वजीवन के शुभाशुभ कर्म हैं । हमारे सुकर्मों से हमें सुख प्राप्त होता है एवं दुष्कर्मों से दुःख प्राप्त होता है । अतः हमारे जीवन में घटित होने वाले सुख और दुःख की व्यवस्था के नियामक अस्मदादिकों के पूर्वकृत कर्म ही है । कर्मफल के नियमानुसार प्रत्येक जीव अपने द्वारा किये गये सुकृत एवं दुष्कृत कर्मों का फल अवश्य पाता है, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । जैन-दर्शनानुयायी हेमचन्द्र ने वीतराग स्तुति में कहा है कि किये गये कर्म का नाश {कृतप्रणाश}, नहीं किये हुए कर्म का फलभोग {अकृताभ्यागम}, संसार का विनाश, मोक्ष का विनाश एवं स्मरणशक्ति का भङ्ग हो जाना-इन दोषों की साक्षात् उपेक्षा करके जो क्षणभङ्गवादी क्षणभङ्ग की इच्छा करता है वह विपक्षी वास्तव में बड़ा साहसी है ।[1] अतः दार्शनिकों की यह कर्मफल सिद्धान्त की मान्यता कार्य-कारण

1- कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्ग दोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ ।।
वी० स्तु० 18

सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है । इस सिद्धान्त के अनुसार सभी कारण किसी न किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं एवं प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण से अवश्य ही उत्पन्न होते हैं ।

कारण कार्य के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला प्रत्येक विचारक यह अवश्य स्वीकार करेगा कि जिस प्रकार से बाह्य भौतिक घटनायें कारण-कार्य के आधार पर ही घटित होती हैं, उसी प्रकार अस्मदादिगत सुख दुःखरूपी कार्य भी हमारे द्वारा किये गये कर्मरूपी कारण से ही सम्भव हैं । अतः यह सिद्धान्त सहज रूप से स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि हमारे सुख या दुःख का कारण हमारे द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्म ही हैं ।

सभी ईश्वरानुयायी विशेषरूप से न्याय-वैशेषिक विचित्र जगत् की सृष्टि ईश्वर द्वारा मानते हैं, जो ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है । यह ईश्वर जगत् का स्रष्टा होने के साथ-साथ धर्म-व्यवस्थापक भी है । अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह हमारे विचित्र कर्मों के अनुसार ही हमें अनेक प्रकार से पुरस्कृत और दण्डित भी करेगा । अतएव वह हमें हमारे अच्छे कर्मों के अनुसार हमें पुरस्कारस्वरूप अच्छे फल एवं बुरे कर्मों के अनुसार बुरे फल प्रदान करेगा, क्योंकि अच्छे कर्मों का फल अच्छा एवं बुरे कर्मों का फल बुरा होता है । अच्छे-बुरे कर्मों के अच्छे बुरे फलों का सम्बन्ध हम लोग अपने जीवन में देख ही सकते हैं ।

परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कर्म और उसके फल के मध्य समय का बहुत बड़ा अन्तराल देखने को मिलता है । कुछ कर्म तो अपना फल तत्काल दे देते हैं । फिर भी बहुत सारे कर्म ऐसे भी हैं जो कि अपना फल

जन्मान्तर में भी प्रदान करते हैं । हम लोग स्वभुक्त अथवा अन्य किसी के द्वारा भोगते हुए ऐसे दुःख देखते हैं, जिन दुःखों का कारण हमारे अथवा भोक्ता पुरुष के इस जीवन में नहीं पाया जाता है । प्रायः ऐसा देखा जाता है कि हम इस जीवन में सतत् रूप से अच्छे कर्म ही करते हैं, परन्तु भोगते दुःख ही हैं । साथ ही कुछ ऐसे भी दुःख होते हैं जो हमारे वर्तमान जीवन के कर्मों के कारण ही होते हैं । फिर भी उन कर्मों और फलों के बीच काफी अन्तराल होता है । दुष्कर्म युवावस्था में किये जाते हैं परन्तु उनका फल वृद्धावस्था में भोगना पड़ता है । अतः कर्म-फल के बीच जो कारण-कार्य सम्बन्ध है वह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कार्य वही है जो कारण से अव्यवहित पश्चादवर्ती हो । परन्तु कर्म फल के बीच ऐसा नहीं देखा जाता कि शुभ अथवा अशुभ कार्य के करने के तत्काल पश्चात् ही उस कर्म का सुख अथवा दुःख रूप कार्य उपस्थित हो जाय ।

कारण-कार्य के सम्बन्ध को अर्थात् कर्म-फल के सम्बन्ध को मानने वाले लोगों ने उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के लिए ही अदृष्ट की कल्पना की है । इस अदृष्ट का आशय यह है कि हमारे आत्माओं में अच्छे कर्म पुण्य का और बुरे कर्म पाप का सृजन करते हैं । ये पुण्य और पाप, कर्मों के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा में रह जाते हैं, जो कालान्तर में अपने-अपने फलों को प्रदान करते हैं । मीमांसक लोग इसी "अदृष्ट" को "अपूर्व" नाम की संज्ञा देते हैं । उनका मन्तव्य है कि अपूर्व की सत्ता में यही प्रमाण है कि स्वर्ग के साधनरूप से सिद्ध यागादि क्रियाएँ क्षणमात्र-स्थायिनी हैं, जब कि उनके फल स्वर्गादि उनसे बहुत समय बाद-यहाँ तक कि प्रायः दूसरे जन्म में उत्पन्न होने वाले हैं । अतः स्वर्गादि फलों के अव्यवहित पूर्वक्षण में

यागादि साधनों की सत्ता नहीं रह सकती, फलतः यागादि में स्वर्गादि फलों की साधकता ही विपन्न हो जाती है । अतएव यागादि से एक विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति मानी जाती है, जो स्वर्गादि फलों के अव्यवहित पूर्वक्षण तक रहकर स्वर्ग का सम्पादन कर सके । फलतः यागादिऔर स्वर्गादि में अपूर्व के कारण ही कारण कार्य सम्बन्ध की स्थापना की जा सकती है ।

इस अदृष्ट अथवा अपूर्व की परिकल्पना को अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो देखा ही जाता है कि सत्कर्मों का मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है जब कि दुष्कर्मों का दूषित प्रभाव पड़ता है । उदाहरणस्वरूप धर्माचरण से मनुष्य में निर्भयता, प्रसन्नता एवं शान्ति आदि सुखों का प्रादुर्भाव होता है, जब कि अधर्माचरण से मन में शङ्का, चंचलता एवं अशान्ति आदि दुःखों की वृद्धि होती है । अतएव हमारे एतद् जन्मावधिक सुख-दुःखों का कारण अदृष्ट ही है जो कि पूर्व कर्मों से उत्पन्न पाप और पुण्य से सुख दुःख को उत्पन्न करते हैं ।

लेकिन यहाँ पर पुनः एक प्रश्न उठ सकता है कि अदृष्ट कर्म-फल की व्यवस्था को कैसे संपादित कर सकता है ? अदृष्ट के सर्वथा अचेतन होने से वह किसी चीज का सन्चालन नहीं कर सकता है । फिर कर्म-फल के सम्बन्ध को समझने के लिए बुद्धि को होना परम आवश्यक है, क्यों कि बिना उस सम्बन्ध के जाने-समझे किस अदृष्ट को कितना और किस तरह का सुख तथा दुःख प्रदान करना चाहिए इसका ज्ञान होना असम्भव है । इन दोनों अर्थात् कारण और कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान हुए बिना उनका समुचितरूप से सन्चालनत्व भी सम्भव नहीं होगा । अतः अदृष्टरूप अचेतन कर्म-फल के सम्बन्ध को लागू करने में असमर्थ है । अतः अदृष्ट के परिचालन के लिए एक बुद्धिमान सन्चालक की परम आवश्यकता है ।

अदृष्ट का सन्चालनत्व जीवात्मा रूप चेतन में माना नहीं जा सकता, क्योंकि जीवात्मा अपने अदृष्ट के सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं जानता, तो फिर दूसरों के विषय में वह क्या जानेगा ? ऐसा उसके असर्वज्ञ होने के कारण है । अतः अदृष्ट का सन्चालकत्व किसी नित्य, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं सर्वज्ञ परमात्मा में ही संभव हो सकता है । अतः ईश्वर ही पुण्य के साथ सुख एवं पाप के साथ दुःख का संयोग करता है । जिस प्रकार से कोई शक्तिशाली राजा अपनी प्रजाओं को उनके कर्मानुसार अच्छे कर्म के लिए पुरस्कार तथा बुरे कर्म के लिए दण्ड का विधान करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी भूमिका अदा करता है । अतः जीवों के अदृष्टों के अधिष्ठाता के रूप में सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ एवं नित्य ईश्वर की सत्ता का ज्ञान होता है ।

अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में की गई ईश्वर सिद्धि पर आक्षेप

न्याय-वैशेषिकों के द्वारा उपर्युक्त विधि से ईश्वर की सिद्ध करने पर पूर्वपक्षी चार्वाकों का कहना है कि हम लोग केवल प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओं की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं । चार्वाकों की दृष्टि में अप्रत्यक्ष वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है । चूंकि न्याय-वैशेषिक अदृष्ट अर्थात् अपूर्व को अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं ।[1] अतः उनका प्रत्यक्ष संभव न होने से चार्वाकों की दृष्टि में उनकी कोई सत्ता नहीं है ।[2] अतः धर्म-अधर्म का अस्तित्व ही असिद्ध होने से उनके नियामक

1- केनचिदिन्द्रियेणायोगिभिर्न गृह्यत इत्यतीन्द्रियो धर्मः । न्या०क०पृ०664

2- प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात् ।
स०द०सं०चार्वाक तत्वमीमांसा पृ04

रूप में न्याय-वैशेषिकों के द्वारा जो ईश्वरसत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है वह ठीक नहीं है।

कार्य-कारणभाव पर आक्षेप करते हुए स्वभाववाद की स्थापना-पूर्वपक्ष

नैयायिकों के द्वारा चूंकि सभी कार्यों की उत्पत्ति सकारण बताई गयी है। अतः इस आधार पर संसार की उत्पत्ति को एवं उनमें रहने वाले प्राणियों में सुख-दुःख के न्यूनातिरेक को उनके कार्य-कारण के आधार पर स्वीकार किया गया है। परन्तु चार्वाक लोग नैयायिकों के उक्त कार्य-कारण भाव की मान्यता को भी निरस्त करते हुए कहते हैं कि संसार में कोई किसी का कारण नहीं है, अपितु सारे कार्य स्वयमेव स्वभावतः[1] ही उत्पन्न होते हैं। अतएव इस आधार पर जगत् रूप कार्य का भी कोई कारण नहीं है अपितु वह भी स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है। चार्वाकों का कहना है कि नैयायिकों के द्वारा जो स्वर्ग, मोक्ष, परलोक एवं आत्मा आदि की कल्पना की गई है उन सबकी न तो सत्ता ही है और न ही उनको उत्पन्न करने वाले किसी अदृष्ट कारण की ही सत्ता है। उनके अनुसार वर्ण आश्रम आदि की क्रियाएं भी स्वर्गरूप फल देने वाली नहीं है।[2] अतः चार्वाकों के

1- एकनियतो धर्मः स्वभाव इत्युच्यते। प्रकाश पृ० 59

2- न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
सर्व०द०सं०चार्वाकदर्शनम् ।2

अनुसार इन सबकी सत्ता ही विघटित कर दी जाती है । कार्य-कारणवाद के खण्डन में उनका कहना है कि सुख दुःख के कारणरूप में अदृष्ट की सत्ता को नहीं स्वीकार किया जा सकता ।[1] उनका कहना है कि किसी भी प्रत्यक्ष कार्य की उत्पत्ति स्वभावतः ही हो जाती है ।[2] संसारगत जो वैचित्र्य देखा जाता है वह भी अदृष्ट के कारण नहीं है अपितु स्वभावतः ही है । जिस प्रकार कि अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, वायु की समशीतोष्णता यह सब विचित्रता प्रकृति से स्वयमेव ही व्यवस्थित हुई है,[3] उनमें वैचित्र्य उत्पन्न करने वाला कोई नही है। चार्वाकों के स्वभाववाद की कल्पना की पुष्टि श्रीमद्भगवद् गीता के एक श्लोक से भी होती है ।[4] अतएव न्यायवैशेषिकाभिमत अदृष्ट की सत्ता खण्डित हो जाने के कारण तदाधारतया जो ईश्वर की सिद्धि की जाती है, वह भी निराकृत हो जाती है ।

1- अतस्तत्साधयमदृष्टादिकमपि नास्ति ।

सर्व0द0सं0चार्वाकदर्शनम् ।2

2- स्वभावादेव तदुपपत्तेः ।   वही पृ0 ।9

3- अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।

केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ।।

वही ।।

4- न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। गी05/ ।4

चार्वाकों के स्वभाववाद का खण्डन -

चार्वाकों ने जिस स्वभाववाद के आधार पर कारणकार्यवाद का खण्डन करते हुए जगत् के वैचित्र्य एवं स्वर्गनरकादि के कारणरूप अदृष्ट की सत्ता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है, उस स्वभाववाद का खण्डन नैयायिकों ने किया है । उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि में एक कारिका स्वभाववाद के खण्डन में ही प्रस्तुत किया है ।[1] उन्होंने "अकस्मात्" पद की पाँच प्रकार से व्याख्या में पाँच सम्भावनायें प्रस्तुत की हैं । हरिदास भट्टाचार्य ने विवृति में स्वभाववाद के इन पाँचों तात्पर्यों को उद्धृत किया है ।[2]

उदयनाचार्य का कहना है कि "अकस्मात्" पद के इन पाँच तात्पर्यों में से किसी के आधार पर भी स्वभाववाद की स्थापना नहीं की जा सकती । उन्होंने स्वभाववाद के पाँचों तात्पर्यों का निम्न प्रकार से खण्डन किया है ।

§1§ उदयनाचार्य का कहना है कि यदि चार्वाक "अकस्मात्" पद से हेतु का निषेध करना चाहें तो वह असम्भव है क्योंकि यदि सभी कारणों को अस्वीकार कर दिया जायेगा तो फिर कार्योत्पत्ति में किसी वस्तु की कोई अपेक्षा नहीं रह जायेगी,

---

1- हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ।। न्या०कु० 1/5

2- अकस्मादिति किं हेतुनिषेधपरं, भवननिषेधपरं वा, स्वातिरिक्तहेतुनिषेधपरं पारमार्थिकहेतुनिषेधपरं वा । ------स्वभावादित्यर्थपरं वा ।

विवृति पृ० 33

फलस्वरूप सभी कार्यों की उत्पत्ति सर्वकालिक होने लगेगी । कारण कि कार्योत्पत्ति को रोकने में किसी कारण की उपादेयता नहीं रहेगी । साथ ही जिस समय कार्योत्पत्ति होती है एवं जिस समय कार्योत्पत्ति नहीं होती है इन दोनों समयों में कोई विशेष नहीं रहेगा । अतः सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सदा सर्वदा होती रहेगी ।[1]

{2} यदि कार्योत्पत्ति का ही निषेध कर दिया जाय तो यह पक्ष भी संगत नहीं हो सकेगा । यदि इस स्थिति को स्वीकार करेंगे तो फिर जिस प्रकार कारणों के एकत्र होने के पहले कार्योत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार सभी कारणों के उपस्थित होने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं होनी चाहिए । कारण कि कारणों को अस्वीकार करने पर इन दोनों स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है ।[2] परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, क्योंकि जिस समय किसी कार्य के प्रति होने वाले सभी कारणों का संवलन होता है, उसके अव्यवहितोत्तरक्षण में ही कार्योत्पत्ति देखी जाती है ।

{3} यदि यह स्वीकार किया जाय कि सभी कार्य स्वयं अपने द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, तो ऐसा होना भी असम्भव है । क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पहले किसी की सत्ता नहीं हो सकती, जो कि बाद में "स्व" रूप कार्य की उत्पत्ति करे । जिस समय जिस वस्तु की अपनी ही सत्ता नहीं है, वह आगे के क्षणों में

1- हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन सर्वदा भवनमविशेषात् ।

न्या०कुसु० पृ० 5।

2- भवनप्रतिषेधे प्रागिव पश्चादप्यभवनमविशेषात् ।

वही पृ० 5।

"स्व" रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकते ।[1]

4- यदि "अकस्मात्" पद का चतुर्थ तात्पर्य अर्थात् अनुपाख्य गगन-कुसुमादि की तरह अप्रसिद्ध वस्तु से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति माना जाय तो फिर जिस समय जिसकी उत्पत्ति नियमित है उससे पहले भी सभी समयों में कार्योत्पत्ति माननी पड़ेगी । जिससे कार्यों में नित्यत्व की आपत्ति होगी ।[2] फलतः कार्यों का कादाचित्कत्व अनुपपन्न हो जायेगा ।

5- यदि पूर्वपक्षी यह मानें कि सभी कार्यों का यह स्वभाव ही है कि वे नियत देश की तरह नियतकाल में ही उत्पन्न हों, तो ऐसा भी नहीं माना जा सकता । कार्यों को यदि बिना किसी कारण के मानें अथवा अनियत कारणों से मानें, दोनों ही स्थितियों में कार्य के कादाचित्कत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती । कारण कि निरवधित्व और अनियतावधित्व इन दोनों ही के साथ कादाचित्कत्व का विरोध है । "कार्यों की कोई अवधि है" इस वाक्य का इतना ही अर्थ नहीं है कि कारणों के एकत्र होने के बाद कार्य की सत्ता होती है किन्तु इस वाक्य का यह भी अर्थ है कि जो कारणों से एकत्र होने के पहिले न रहे और कारणों के एकत्र होने के बाद रहे इस प्रकार कादाचित्कत्व हेतु के द्वारा कार्यों में सावधिकत्व की सिद्धि होती है । कार्यों के पहले अवश्य रहने वाली यह "अवधि" ही "कारण कहलाती है ।[3]

1- उत्पत्तेः पूर्वं स्वयमसतः स्वोत्पत्तावप्रभुत्वेन स्वस्मादिति पक्षानुपपत्तेः। पौर्वापर्यनियमश्च कार्य-कारणभावः। न्या0कु0 पृ0 51

2- अनुपाख्यस्य हेतुत्वे प्रागपि सत्वप्रसक्तौ पुनः सदातनत्वापत्तेः। वही पृ052

3- निरवधित्वे अनियतावधित्वे वा कादाचित्कत्वव्याघातात् । न ह्युत्तर-कालसिद्धत्वमात्रं कादाचित्कत्वम्, किन्तु प्रागसत्वे सति ।सावधित्वे तु स एव प्राच्यो हेतुरित्युच्यते । वही पृ0 53-54

अतः इस प्रकार के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि चार्वाकों का स्वभाववाद असिद्ध है । स्वभाववाद के असिद्ध हो जाने पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि कोई भी कार्य अकारण नहीं होता अपितु समस्त कार्यों के अपने अपने कारण होते हैं जिनके एक साथ सम्मिलन होने पर सम्बन्धित कार्य की उत्पत्ति होती है । यदि सम्बन्धित कार्यों के प्रति सम्बन्धित कारणों की उपयोगिता को नहीं स्वीकार किया जायेगा, तो कार्यों के स्वाभाविक हो जाने पर उपर्युक्त दोषों की प्रसक्ति अवश्य होगी ।

अदृष्टसिद्धि की अनिवार्यता-सिद्धान्त पक्ष -

चार्वाकों के द्वारा कल्पित स्वभाववाद का नैयायिकों के द्वारा खण्डन कर देने पर अब उनके द्वारा अदृष्ट की सत्ता एवं कारण-कार्य सम्बन्ध को स्थापित करना परम आवश्यक हो जाता है । नैयायिकों के द्वारा अदृष्ट की सिद्धि कर देने पर उसके अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वयं निश्चित हो जायेगी । लेकिन नैयायिक तब तक अदृष्ट की सत्ता नहीं सुनिश्चित कर सकते जब तक कि परलोकादि अथवा संसार में उपस्थित सुख दुःख के वैचित्र्योपपादन में कारणसामान्य की सिद्धि नहीं कर लेते । अतः नैयायिक अदृष्ट की सिद्धि के लिए पहले कारण-कार्य के सम्बन्ध को सुनिश्चित करते हैं । उदयनाचार्य ने परलोक के साधनभूत अदृष्ट की सिद्धि के लिए

न्याय-कुसुमान्जलि में कुछ हेतुओं को उपस्थित किया है[1] जिनके आधार पर कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित होता है । प्रत्येक कार्य की सहेतुकता के सुनिश्चित हो जाने पर उसके कारणरूप में अदृष्ट की भी सिद्धि हो जायेगी ।

"सापेक्षत्वाद" हेतु के आधार पर कार्य-कारण भाव की सिद्धि

न्याय-वैशेषिकानुयायियों के अनुसार संसार के सारे भोगों का अथवा परलोकादिरूप स्वर्ग नरकादि का हेतु अतीन्द्रिय अदृष्ट अर्थात् धर्म अधर्म ही हैं । कणाद ने कहा है कि जिससे निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है ।[1] इसी प्रकार न्यायकन्दलीकार का कहना है कि पदार्थों के साधर्म्यादिरूप तत्त्वविषयक ज्ञान के साथ मिलकर ही धर्म में मोक्ष की साधकता है ।[2] इसीलिए यह सिद्ध होता है कि स्वर्गादिरूप कार्य सहेतुक है ।

परन्तु परलोक की सहेतुकता की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम उदयनाचार्य के द्वारा कारणसामान्य की सिद्धि के लिए उसके हेतुरूप में "सापेक्षत्वाद" हेतु को प्रस्तुत किया है । विभिन्न नैयायिकों के द्वारा इस "सापेक्षत्वाद" का कादाचित्कत्वात्" अर्थ किया गया है ।[3] इस कादाचित्कत्वात्" हेतु के आधार पर हरिदास

1- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । वै०सू० 1/1/1

2- तत्त्वेति चकारो द्रव्यादिसाधर्म्यज्ञानेन सह धर्मस्य निःश्रेयसहेतुत्वं समुच्चिनोति
न्या०क०पृ०19

3-[क] सापेक्षत्वं कादाचित्कत्वम् । विवृति पृ027
[ख] सदापेक्षया वर्तमानत्वात् कादाचित्कत्वादित्यर्थः ।
प्रकाश पृ042 ।

भट्टाचार्य ने कारणत्वसाधक अनुमानवाक्य इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि "कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वात् भोजनजन्यतृप्तिवत्" अर्थात् कार्य सहेतुक है कादाचित्क होने से भोजनजन्य तृप्ति के समान ।[1]

कादाचित्क का अर्थ होता है जिसकी सत्ता सर्वदा न रहे अर्थात् जो अनित्य हो । चूंकि सभी कार्य अनित्य ही होते हैं अतएव वे सभी कादाचित्क होते हैं । अतः कार्यों के अनित्य होने के कारण उनका सहेतुकत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है । बोधिनीकार ने कहा है कि कादाचित्क के द्वारा सापेक्षत्व का साधन किया जा सकता है ।[2] उन्होंने इस विषय में कीर्ति का भी कथन उद्धृत किया है जिसमें कार्य के कादाचित्क होने से उसकी सहेतुकता को स्वीकार किया गया है ।[3] प्रकाशकार ने कहा है कि यदि कार्य निरपेक्ष होने लगेंगे तो फिर वे कार्य न होकर नित्य ही होंगे जैसे कि आकाश नित्य होता है ।[4] अतः कादाचित्क एवं सहेतुकत्व के बीच व्याप्ति सम्बन्ध है । "यत्र-यत्र कादाचित्कत्वं तत्र-तत्र सहेतुकत्वम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ कादाचित्कत्व अर्थात् अनित्यत्व होता है वहाँ सहेतुकत्व अवश्य वर्तमान रहता है । इस व्याप्ति सम्बन्ध को भोजनजन्य तृप्ति में देखा जा सकता है क्योंकि भोजनजन्य तृप्ति अनित्य होने से कादाचित्क भी है, इसी लिए सहेतुक

1- विवृति पृ० 27

2- कादाचित्कत्वेन सापेक्षत्वं साधितमिति । बोधिनी पृ० 46

3- नित्यं सत्वमसत्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ।।
बोधिनी पृ०46 में उद्धृत

4- यद्वा कार्यं यदि निरपेक्षं स्यात् नित्यं स्यादाकाशवदिति ।
प्रकाश पृ० 45

भी है । उसको स्वोत्पत्ति के लिए भोजन के प्रति सापेक्ष अवश्य रहना पड़ता है । अतः भोजन में तज्जन्य तृप्ति के प्रति कारणता वर्तमान है । जिस प्रकार भोजनजन्य तृप्ति सदा सर्वदा नहीं रहती अपितु वह भोजन करने पर ही उत्पन्न होती है । परन्तु जब वह किया हुआ भोजन पच जाता है तो वह भोजनजन्य तृप्ति भी विनष्ट हो जाती है । अतः वह अनित्य होने से कादाचित्क है अतएव सहेतुक है । वह तृप्ति स्वयमेव नहीं उत्पन्न हो सकती, अपितु उसके कारणस्वरूप भोजन के करने पर ही उत्पन्न होती है । बौद्धों ने भी कार्य-कारणवाद को स्वीकार किया है । धर्मकीर्ति ने कहा है कि कार्य-कारण के सम्बन्ध से अथवा नियम रखने वाले स्वभाव के द्वारा अविनाभाव का अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक का निर्णय होता है, अदर्शन या दर्शन से नहीं ।[1]

चूंकि स्वर्गादि अथवा भौतिक सुख- दुःखादि भी भोजनजन्य तृप्ति के समान कादाचित्क हैं अतः उनकी भी सहेतुकता निश्चित होती है । श्री नारायण तीर्थ ने कहा है कि परलोक हेतुमान है सापेक्ष होने से घट के समान ।[2] युक्तिकार ने कहा है कि ईश्वर से उपदेशित वेद के द्वारा प्रतिपादित धर्म भी निःश्रेयस् का हेतु है ।[3] ऐसा ही सेतुकार ने भी कहा है कि अपरोक्ष मिथ्याज्ञान के उन्मूलन में

1- कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ।। प्र0वा01/33

2- परलोको हेतुमान् सापेक्षत्वात् घटादिवत् । निवृत्ति पृ0 5

3- तथा च ईश्वरदेशनया वेदेनाभिव्यक्तात् प्रतिपादितादात्मधार्मिक, श्रवणमननात्मकात्मक धर्मोऽपि निःश्रेयसमित्यर्थः । युक्ति पृ0 20

समर्थ तत्त्वसाक्षात्काररूप तत्त्वज्ञान अर्थात् मोक्ष धर्म से भी होता है ।[1] इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि धर्माधर्मरूप अदृष्ट ही स्वर्ग नरकादि की प्राप्ति का साधन होता है ।

कार्य-कारणभाव में अनवस्था दोष की आपत्ति का स्थापन-पूर्वपक्ष

चार्वाकों का मानना है कि यदि कार्य कारणभाव को मानने वाले, किसी कार्य को सहेतुक मानते हैं फिर वे लोग उस कारण को नित्य मानेंगे है अथवा अनित्य ? वे किसी भी कार्य के कारण को नित्य नहीं मान सकते क्योंकि कारण के नित्य स्वीकार करने पर तज्जन्य कार्य में भी नित्यत्व की प्रसक्ति होगी । अतः ऐसा मानने पर कार्यमेंजो अनित्यत्व प्रत्यक्षसिद्ध है उसकी हानि होने लगेगी । फिर कोई भी कार्य कारण को मानने वाले विचारक कार्य को नित्य नहीं स्वीकार करते, अतएव कारण के नित्यत्व पक्ष में कार्य के भी नित्य होने से उनको अनिष्टापत्ति भी होगी । अतएव किसी भी कार्यके कारण को अनित्य ही स्वीकार करना पड़ेगा ।

परन्तु कार्य के कारण को अनित्य स्वीकार करने पर उनके इस कार्य-कारण सिद्धान्त में अनवस्था दोष की प्रसक्ति होने लगेगी, क्योंकि कारण को अनित्य स्वीकार करने पर वह कारण भी किसीकारण से जन्य ही होगा । कारण कि प्रत्येक अनित्य वस्तु किसी न किसी कारण से अवश्य ही जन्य होती है, तभी तो वह कार्य होने से अनित्य होती है । इसी प्रकार उस जन्य कारण के भी कारण के विषय में

1- एवन्चापरोक्षमिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमं तत्त्वसाक्षात्काररूपं तत्त्वज्ञानं धर्मादपि भवतीत्यर्थः । सेतु पृ0 20

यही आशङ्का होगी कि वह कारण नित्य होगा अथवा अनित्य ? इस प्रकार से कारण को अनित्य स्वीकार करने पर अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होने लगेगा, क्योंकि उस दूसरे कारण की भी उत्पत्ति तीसरे कारण से एवं तीसरे कारण की उत्पत्ति चतुर्थ कारण से स्वीकार करनी पड़ेगी । अतः अनवस्था दोष के उपस्थित हो जाने के कारण कार्य के सहेतुकत्व की सिद्धि संभव नहीं है ।

"अनादित्व" हेतु से कार्य-कारणवाद की सिद्धि-सिद्धान्त पक्ष

चार्वाकों द्वारा उपस्थित किया गया कार्य-कारण विषयक अनवस्था दोष का समाधान उदयनाचार्य द्वारा किये गये "अनादित्व" हेतु से हो जाता है । इस अनादित्व हेतु से उदयनाचार्य का यह अभिप्राय है कि अनवस्था सर्वत्र दोषाधायक नहीं होती है, क्योंकि बीजाङ्कुर स्थल में अनवस्था प्रामाणिक मानी जाती है । बीजाङ्कुर स्थल में यह निश्चित नहीं हो पाता है कि बीज अङ्कुर का कारण है अथवा अङ्कुर बीज का कारण है । लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति एवं अङ्कुर से बीज की उत्पत्ति होती है । यदि बीज को अङ्कुर का कारण माना जाय तो फिर उस बीज का भी कारण दूसरा अंकुर ही है । अतएव यह अनवस्था दोष बीजाङ्कुर स्थल में भी है । यदि इस अनवस्था दोष के कारण बीज को अंकुर का अथवा अंकुर को बीज का कारण नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर बीज से अङ्कुर अथवा अङ्कुर से बीज की जो उत्पत्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है वह नहीं होनी चाहिए । अतएव यहाँ अनवस्था होते हुए भी उसके अनादि होने से उस अनवस्था को दोषाधायक नहीं माना जाता है । इसी प्रकार कार्य-कारण में जो अनवस्था चार्वाकों के द्वारा दिखाई गई है, वह भी

कार्य-कारण भाव के अनादि होने से प्रामाणिक अनवस्था है । नारायण तीर्थ ने भी इस अनवस्था को दोषाधायक नहीं माना है । उनका कहना है कि बीजाङ्कुरादि के समान अनादि अनवस्था के निर्दोष होने से कार्य-कारण भाव को परम्परा के रूप में स्वीकार करने पर भी कोई क्षति नहीं है ।[1]

इस प्रकार के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक कार्य सहेतुक है । कार्य कारण की यह परम्परा अनादिकाल से निरन्तर चली आ रही है । अतः जो भी कार्य होगा उसका कारण अवश्य होगा क्योंकि बिना अपने कारण के कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता ।

अतः कार्य-कारण के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि स्वर्गादि रूप निःश्रेयस् अथवा संसार में रहने वाले अनेकानेक प्रकारक शरीरियों के शरीर, सुख-दुःख इत्यादि में जो वैचित्र्य अथवा एक दूसरे की अपेक्षा उनमें किसी प्रकार के न्यूनातिरेक की जो उपलब्धि होती है वह भी सहेतुक ही होगी क्योंकि उनमें कार्यत्व की उपलब्धि होती है । अतः उनके कारणरूप में अदृष्ट की ही कल्पना की जा सकती है जो कि प्राणियों की आत्मा में रहकर सभी जीवों को अलग-अलग प्रकार के तथा न्यूनाधिक रूप से सुख-दुःख अथवा अन्यान्य गुणों को प्रस्तुत करता है । वही अदृष्ट प्राणियों को स्वर्ग अथवा नरक भी प्रदान करता है ।

1- तथा च बीजाङ्कुरादिवदनाद्यनवस्थाया अदोषत्वेन न तदकृपयवधिपरम्परा-स्वीकारे क्षतिरिति भावः ।

कुसु० का० व्या० पृ० 8

अदृष्ट के विरुद्ध पुनः पूर्वपक्ष -

अब पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि कार्य-कारणभाव को स्वीकार करने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उन सभी कार्यों के कारणरूप में अदृष्ट की ही कल्पना की जाय । उनका कहना है कि यदि प्रत्येक कार्य का कारण स्वीकार ही करना है तो फिर वेदान्ताभिमत एक ब्रह्म को ही समस्त कार्यों का कारण क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? वेदान्ती लोग एक ही ब्रह्म से इस समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार भू, भुवः, स्वः, महः जनः, तपः, सत्यम्, ये सात भुवन ऊपर के एवं अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल एवं पाताल ये सातों भुवन क्रमशः नीचे के अर्थात् इन चौदह भुवनों तथा उनमें रहने वाले समस्त योनिज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज रूप चराचर ये समस्त एक ही ब्रह्म के व्यावर्त्य हैं एवं उनमें स्थित सुख दुःखादि का न्यूनातिरेक अविद्याजन्य है क्योंकि वास्तव में उनकी कोई सत्ता नहीं है । अविद्या भी ब्रह्म की ही शक्ति है । अतः सभी कार्यों का एक ही कारण ब्रह्म को स्वीकार कर लेना चाहिए । समस्त कार्यों का कारण यदि एक ही ब्रह्म को स्वीकार कर लिया जायेगा तो फिर कार्य कारण-वाद का सम्बन्ध भी बन जायेगा एवं सभी कार्यों के लिए उनके अलग-अलग बहुत से कारणों की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी । अतएव अदृष्टरूप विभिन्न प्रकारक बहुत से कारणों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? अतः अदृष्टवादियों की अदृष्ट के रूप में की गई कल्पना निराधार एवं अनावश्यक है ।

"वैचित्र्यात्" हेतु से ब्रह्मकारणवाद के खण्डन पूर्वक अदृष्टसिद्धि

उपर्युक्त पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर नैयायिकों का कहना है कि ब्रह्मस्वरूप एक कारण को सभी कार्यों का अभिन्ननिमित्तोपादान रूप सभी कारणों के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि कार्यों में वैचित्र्य देखा जाता है । विचित्र कार्यों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि उनके कारणों में भी वैचित्र्य हो, क्योंकि विचित्र कारणों से ही विचित्र कार्यों की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है । परन्तु कारणगत यह वैचित्र्य एक से भिन्न अनेक कारणों को स्वीकार करने पर ही सम्भव है, क्योंकि विचित्रता एक-दूसरे की विरोधी होती है जब कि विरोधी दो या दो से अधिक धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते । यदि सभी कार्यों का एक ही कारण माना जायेगा तो वे सारे कार्य स्वकारण के समान एक ही तरह के उत्पन्न होने लगेंगे और उन कार्यों में विचित्रता का अभाव रहेगा । नारायणतीर्थ का कहना है कि वेदान्तवादियों के अनुसार "एकमेवाऽद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म में सजातीय विजातीय एवं स्वगतभेद का अभाव ज्ञात होता है, जब कि उत्पन्न भूतों में प्रत्यक्ष से ही वैचित्र्य का ज्ञान होता है । परन्तु अविचित्र कारण से कार्यों का वैचित्र्य सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित होने लगेगा, और प्रत्येक कारण से प्रत्येक प्रकार के कार्य उत्पन्न होने लगेंगे ।[1] इसी प्रकार से प्रकाशकार ने भी कहा है कि भिन्न-जातीय अनेक कारणों से भिन्न

1- न च "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मणः सजातीयविजातीय-स्वगतभेदशून्यत्वमवगम्यते, सृष्टव्यभूतानां तु प्रत्यक्षादिभिर्वैचित्र्यमवगम्यते, न चाविचित्रे कारणे कार्यवैचित्र्यं सम्भवति अतिप्रसंगात् ।

कुसु0का0व्या0 पृ0 9

प्रकार के कार्यों का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष ही है । इस लिए यह अनुमान होता है कि विचित्र कार्यों के कारण भी विचित्र होते हैं । अतः कार्यों का वैचित्र्य कारणगत वैचित्र्य का साधक लिङ्ग है । "यदि भिन्न-अभिन्न उभय जातीय कारणों से भिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति स्वीकार की जायेगी तो फिर कार्यों में आकस्मिकता उपस्थित हो जायेगी" यह तर्क भी इस बात की पुष्टि में सहकारी है कि विचित्र कार्यों की उत्पत्ति विचित्र कारणों से ही होती है ।[1] न्यायमञ्जरीकार श्री भज्जयन्त भट्ट ने भी कहा है कि विभिन्न प्रकारक कर्मों को स्वीकार किये बिना जगत् में वैचित्र्य का उपपादन सम्भव नहीं है ।[2]

नैयायिक ब्रह्मकारणवाद के विरोध में दूसरा तर्क भी उपस्थित करते हैं । उनका कहना है कि यदि वेदान्तियों को अभिमत एक ही ब्रह्म को समस्त कार्यों का कारण स्वीकार किया जायेगा, तो फिर तज्जन्य कार्यों में क्रमिकत्व का सम्पादन भी असंभव होगा । बोधिनीकार ने कहा है कि एक ही कारण को समस्त कार्यों का कारण नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि एक ही कारण में क्रमिकत्व न बनने से तज्जन्य कार्यों में क्रमिकत्व नहीं बन पायेगा ।[3] ऐसा ही प्रकाशकार ने

1- भिन्नजातीय कारणानन्तरं तथाभूतकार्यविषयकं प्रत्यक्षमेव विचित्रे साधने मानमुपन्यस्तम् । यद्वा वैचित्र्यं कार्यस्य विचित्रहेतुकत्वे लिङ्गमेव ।उभयत्राप्यभिन्नत्वाभिन्नजातीयत्वयोर्हेतोः कार्यस्य भेदविजातीयत्वे आकस्मिके स्यातामिति तर्कः सहकारीति ।   प्रकाश पृ0 44

2- मैवम् । कर्मभिर्विना जगद्वैचित्र्यानुपपत्तेः ।

न्या0म0भाग । पृ0286

3- न तावदेकमेव कारणम्,एकस्याक्रमत्वेन कार्यक्रमानुपपत्तेः ।

बोधिनी पृ092

भी कहा है ।[1] नारायणतीर्थ ने कहा है कि अनेक कार्यों की उत्पत्ति में क्रमिकत्व की सिद्धि अद्वितीय ब्रह्म से संभव नहीं है ।[2] ऐसा ही हरिदास भट्टाचार्य ने भी कहा है कि कार्यों में क्रम का नियमन एक कारण से सम्भव नहीं है ।[3]

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि एक ही ब्रह्म से समस्त जागतिक कार्यों में वैचित्र्य का उपपादन संभव हो सकता है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि एक ही कारण स्वरूप दीपक अनेक प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करता है । वह अन्धकार का अपहरण करता है, वर्तिका में विकार को भी उत्पन्न करता है एवं घटादि द्रव्यों को प्रकाशित भी करता है । यह दीपक का स्वभाव ही होता है कि वह एक साथ अनेक कार्यों का संपादन करें । इसी प्रकार से ब्रह्म कारणवाद के आधार पर भी यह ब्रह्म का स्वभाव मान लिया जाय कि वह एक साथ विचित्र कार्यों का उत्पादन कर सकता है । अतः नैयायिकों का अदृष्ट कारणवाद ठीक नहीं है ।

इस विपक्षी सिद्धान्त के विरोध में उदयनाचार्य का कहना है कि इस सिद्धान्त को तो क्षणभङ्गवादी बौद्धों की दृष्टि से ही उचित ठहराया जा सकता है परन्तु हम सहकारवादियों की दृष्टि में ऐसा सम्भव नहीं है ।[4] अतः

1- एकस्य कारणस्य सम्बन्धी न क्रमः कार्याणाम् । समस्यैकजातीयस्य च कारणस्य सम्बन्धि न वैचित्र्यं कार्याणाम् । प्रकाश पृ० 92

2- तस्मादनेक कार्याणां क्रमेण जन्माद्वितीय ब्रह्मतो न सम्भवतीति वाच्यम् । कुसु०कारि० व्या०पृ० 9

3- एकस्य कारणस्य नियम्यो न कार्याणां क्रमः । विवृति पृ042

4- अयमपि क्षणभङ्गपरिहारो न तु सहकारिवादे ।
न्या०कुसु०पृ093

ब्रह्मकारणवाद के आधार पर वैचित्र्य की उपपत्ति संभव न होने के कारण अनेक विचित्र कार्यों की उत्पत्ति हेतु अनेक विचित्र कारणों को स्वीकार करना आवश्यक है । अतः नैयायिकों के अदृष्टविषयक परिकल्पना को ठुकराया नहीं जा सकता ।

यदि सांख्यानुयायी यह कहें कि ब्रह्मकारणवाद के आधार पर कार्यों में वैचित्र्य का उपपादन भले ही सम्भव न हो । परन्तु कार्यों में विचित्रता की उपपत्ति एकमात्र प्रकृति को कारण मानकर की जा सकती है, क्योंकि प्रकृति एकजातीय होते हुए भी अनेक प्रकारक है । सांख्यों का मानना है कि सत्व, रजस् और तमस् इन तीन स्वभावों वाली एक ही प्रकृति से इस सुख दुःख एवं मोहात्मक संसार की उत्पत्ति संभव है ।[1]

परन्तु नैयायिक प्रकृतिकारणवाद का भी खण्डन करते हैं । उनका मन्तव्य है कि यदि सभी कार्यों की उत्पत्ति अनेक कारणों से स्वीकार करेंगे तो भी उन कारणों को एक जातीय मानने पर कार्यों में जो विचित्रता है उसकी उपपत्ति दुर्घट ही रहेगी । क्योंकि वह्न्युत्पत्ति के लिए जितने भी अपेक्षित कारण होते हैं उतने ही कारणों से यदि वह्निभिन्न घटादि कार्यों की उत्पत्ति को स्वीकार किया जायेगा तो फिर वह्निकार्य और घट कार्य में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा, क्योंकि दोनों कार्य समान कारण वाले हैं ।

1- कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।।
सा०का० 16

इसी प्रकार वह्नीतर घटादि कार्यों के लिए अपेक्षित कारणों से ही बिना न्यूनाधिक संख्या वाले कारणों से ही अग्नि की उत्पत्ति मानी जायेगी तो फिर वह्निरूप कार्य वह्निरूप न होकर वह्निभिन्न घटस्वरूप ही होगा ।

इसी प्रकार से पूर्वपक्षी एक जातीय विभिन्न कारणों में विभिन्न जातीय कार्यों को उत्पन्न करने के लिए विभिन्न शक्तियों की परिकल्पना करके भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते, क्योंकि एकजातीय उन विविध कारणों में विविध प्रकार के कार्योत्पत्ति के अनुकूल विशेष प्रकार की शक्तियों को यदि स्वाश्रयीभूत कारणों से भिन्न मानेंगे तो फिर "एक जाति के कारणों से ही विभिन्न जाति के कार्यों की उत्पत्ति होती है" यह सिद्धान्त ही व्याहत हो जायेगा । कारण कि उस कारण से भिन्न रूप में ही शक्तियों को कार्यों की विचित्रता का प्रयोजक माना गया है । फिर यदि उक्त शक्तियों को उनके आश्रयीभूत कारणों से अभिन्न मानें तो फिर इन शक्तियों को मान लेने से भी कोई अन्तर आने वाला नहीं है । अतः इस पक्ष में भी कार्यों की विचित्रता की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों है । प्रकाशकार ने कहा है कि शक्तिविशेष कार्यवैचित्र्य का हेतु नहीं हो सकता ।[1]

नैयायिकों का मत है कि पूर्वपक्षी एक ही जाति के कारणों में वह्निरूप कार्य एवं वह्निभिन्न कार्य को उत्पन्न करने वाले परस्पर निरपेक्ष अनेक स्वभावों को स्वीकार करके भी विचित्र कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकते । क्योंकि घटादि

1- शक्तिविशेषो न कार्यवैचित्र्य हेतुः । प्रकाश पृ० 92

पदार्थ वह्नीतर इसलिए हैं, क्योंकि वे वह्नीतर कार्यों को उत्पन्न करने वाले स्वभाव से युक्त कारणों से जन्य हैं। यदि उन्हीं कारणों को ही वह्न्युत्पादक स्वभाव वाला भी मान लिया जायेगा तो फिर वह्नीतर कार्यों में वह्न्यापत्ति को किसी भी प्रकार से दूर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि वह्नि कार्य के उत्पादन हेतु केवल इतना ही आवश्यक है कि वह वह्नि कार्य वह्न्युत्पादक स्वभाव से युक्त कारणों से उत्पन्न हो। यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि वह्नीतर कार्यों के उन एक जातीय कारणों में वह्न्युत्पादक स्वभाव का अभाव रहता है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर पूर्वपक्षियों की उस कल्पना का ही खण्डन हो जायेगा जिसमें कि एक कारण गत अनेक प्रकारक कार्यों के उत्पादन का स्वभाव माना गया है।

यदि एक कारण में विचित्र प्रकार के अनेक कार्य उत्पन्न करने का स्वभाव मान भी लें तो फिर जिस समय वह कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है, उसी समय उस कारण में दूसरे कार्यों को उत्पन्न करने का भी स्वभाव बना ही रहेगा। अतः स्वभाव का अतिक्रमण कभी न किये जाने से हमेशा अनेक प्रकार के कार्यों को उत्पन्न होते रहना चाहिए। बोधिनीकार ने कहा है कि जो स्वभाव एक कार्य को उत्पन्न करते समय रहेगा वह स्वभाव दूसरे कार्य को उत्पन्न करते समय भी रहेगा क्योंकि स्वभाव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अतः अभिन्न स्वभाव वाला कारण विलक्षण कार्य को कैसे उत्पन्न कर सकता है?[1] हरिदास भट्टाचार्य ने भी

1- य एवास्यैकस्मिन् जनयितव्ये स्वभावः स एवान्यस्मिन् जनयितव्येऽपि, स्वभावस्य दुर्लङ्घ्यत्वात्। ततश्चाभिन्न स्वभावस्य कथं विलक्षणकार्यनिर्माणमिति।

बोधिनी पृ० 92

कहा है कि एक कार्य को उत्पन्न करते समय कारण का जो स्वभाव है कार्यान्तर जनन काल में भी कारण में उसी स्वभाव की अनुवृत्ति होने से अग्नि कार्य का भी जलादित्व प्राप्त होगा, क्योंकि स्वभाव को हटाया नहीं जा सकता।[1] नारायण-तीर्थ ने कहा है कि कारण के जिस स्वभाव से अवच्छिन्न जनकता पूर्व कार्य के प्रति है उसी स्वभाव से अवच्छिन्न उत्तरकालिक कार्यजनन में भी है। अतः पूर्वकालिक कार्य में उत्तरकालिक कार्य की एवं उत्तरकालिक कार्य में पूर्वकालिक कार्य की उत्पत्ति की आपत्ति होगी।[2]

अतः यही कहा जा सकता है कि कार्यों में वैचित्र्य के लिए एवं उनमें क्रमिकत्व के संपादन के लिए कारणगत जातियों में भी वैचित्र्य की एवं क्रमिकत्व की कल्पना करना आवश्यक है। हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि क्रमिक कार्य की उत्पत्ति के निर्वाह के लिए क्रमिक कारण की सिद्धि एवं विचित्र कार्यों के जनक रूप में विचित्र कारणों की सिद्धि होती है।[3] नारायण तीर्थ ने भी कहा है कि क्रमिक और विजातीय कार्यों की उत्पत्ति के लिए तादृश कारणों के रूप में अदृष्ट

1- एकस्मिन् कार्ये जनयितव्ये यः स्वभावः कार्यान्तरजननकाले तस्यानुवृत्तौ दहनस्यापि जलादित्वं स्यात्, स्वभावस्य दुरपह्नवत्वादित्यर्थः।

विवृति पृ० 43

2- यत्स्वभावाच्छिन्नस्य पूर्वकार्यजनकत्वं तत्स्वभावावच्छिन्नस्यैवोत्तरकार्यजनकत्वे पूर्वकालोत्पादापत्तिः, उत्तरकार्यकाले च पूर्वकार्योत्पादापत्तिः।

कु०का०व्या०पृ०10

3- तथा च क्रमिककार्यनिर्वाहकतया क्रमिककारणसिद्धिः, विजातीयकार्यजनकतया च विचित्रहेतुसिद्धिरित्यर्थः। विवृति पृ० 42

को मानना आवश्यक है ।[1]

विश्ववृत्तितः हेत्वाधारतया अदृष्टसिद्धि -

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि विविध कार्यों के उत्पादक विविध कारणों को स्वीकार भी कर लिया जाय तो ऐसे कारण लौकिक ही स्वीकार किये जाने चाहिए, क्योंकि सारे लौकिक कार्यों की उत्पत्ति लौकिक कारणों से ही हो जायेगी । अतः यागादिजन्य अदृष्ट कारण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी । इसलिए लौकिक वस्तुओं में ही सभी कार्यों की कारणता निश्चित हो जाने से अलौकिक अदृष्ट की कल्पना करना असङ्गत है । तो इस पर नैयायिकों का उत्तर है कि जैसा पूर्वपक्षी कह रहे हैं वैसा भी मानना असंभव है, क्योंकि सभी कार्यों के कारणसमूह के रूप में लौकिक वस्तुओं को ही नहीं स्वीकार किया जा सकता । कारण कि समस्त स्वर्गादि के इच्छुक आस्तिक पुरुषों को यागादि कार्यों में प्रवृत्त हुआ देखा जाता है । अगर सभी कार्यों की कारणता लौकिक कारणों में ही घटित होती तो फिर स्वर्गादि की कामना वाले आस्तिक पुरुषों की श्रौत यागादि इष्ट कार्यों में एवं स्मार्त पुरुषों की कूपतड़ागादि के खनन रूप पूर्त कार्यों में प्रवृत्ति न देखी जाती, क्योंकि जो कार्य निष्फल हो अथवा जो कार्य केवल दुःखदायी हों, तत्प्रकारक किसी भी कार्य के प्रति सुधीजनों की कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

1- तथा च क्रमिकाणां विजातीयानां च कार्याणां निर्वाहाय तादृशकारणमदृष्ट-मावश्यकमिति । कुसु० कारि० व्या० पृ० -10

अतएव यह संभव ही नहीं है कि विश्व में रहने वाले इतने सारे परलोकार्थी पुरुष निष्फल या दुःखफलक इष्टापूर्तादि कार्यों में प्रवृत्त होंगे ।[1]

ऐसा भी नहीं हो सकता कि यागादि अनुष्ठानों से भी अन्यान्य सांसारिक सुखों के समान सुख की प्राप्ति के लिए आस्तिक जनउन यागादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो फिर संभोगादि सुखों के समान सांसारिक सुख को प्राप्त करने के लिए नास्तिक जन भी यागादि कार्यों में क्यों नहीं प्रवृत्त होते दीखते ? नास्तिक जनों को भी सांसारिक सुख प्राप्त करने के लिए परलोकार्थी आस्तिक जनों के समान यागादि को सांसारिक सुख की प्राप्ति का साधन समझना चाहिए ।[2]

उदयनाचार्य का कहना है कि ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि वेदज्ञ धूर्त वृद्धों ने बालकों के समान अज्ञ पुरुषों को ठगने के लिए इष्टापूर्तादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि सभी जनों से विलक्षण एवं सभी प्रकार के सुखों से मुँह मोड़ने वाला वह कैसा प्रवञ्चक रहा होगा जो अपने सर्वस्व को दक्षिणामें देकर अपने सभी बन्धुओं को छोड़कर ब्रह्मचर्य के पालन और तपस्या के अनुष्ठान के द्वारा केवल दूसरों को ठगने के औत्सुक्य मात्र से जीवन भर अपने को पीड़ित करता रहा ।[3] ऐसा ही

1- क यदि हि पूर्वपूर्वभ्रमपरिगतिपरम्परामात्रमेवोत्तरोत्तर निबन्धनम्, न परलोकार्थी कश्चिदिष्टापूर्तयोः प्रवर्त्तेत । न हि निष्फले दुःखैकफले वा कश्चिदेकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी घटते, प्रागेव जगत् । न्या० कुसु० पृ० 96-97

1- ख किञ्चेयं प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्न विफला नापि दुःखफला । अतोऽप्यत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः पूरणीया । कुसु० कारि० न्या० पृ० ।।

2- सुखार्थं तथा करोति चेन्न नास्तिकैरपि तथा करणप्रसङ्गात्, सम्भोगवत् । न्या० कुसु० 98

3- इदं प्रथमं एव कश्चिद्कुशलोऽपि धूर्तः पराननुष्ठापयतीति चेत्, किमसौ सर्वलोकोत्तर एव ? यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति । न्या० कुसु० पृ० 99-100

नारायणतीर्थ ने भी कहा है ।[1]

फिर दूसरी बात यह भी है कि उस प्रकार के धूर्त के पीछे बुद्धिमान् पुरुषों का इतना बड़ा दल चल कैसे पड़ा ? एवं "वह पुरुष ठग था" इसका निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है ? क्योंकि दक्षिणा में सर्वस्व दानादि के दुःखों से लोगों को ठगने का सुख तो कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता । अतः स्वर्गादि के कारणरूप में यागादिजन्य अदृष्ट को मानना आवश्यक है।

"प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेः" हेतु से अदृष्ट सिद्धि -

नैयायिकों का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि संसार के विविध प्रकारक कार्यों की उत्पत्ति के लिए विविध प्रकार के यागादि कारणों की सत्ता स्वीकार कर लेने पर भी कार्यों में वैचित्र्य की उपपत्ति हो सकती है । अतएव उन अनुष्ठानों से धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट को मध्यवर्ती व्यापार के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि यागादि को ही धर्म के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि श्रुतियों में ऐसा विधान भी है कि "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग चाहने वाले को यज्ञ करना चाहिए । अतः यागादि श्रेय कर्मों के विधान ही स्वर्गादि इष्टों के साधन रूप में सुने जाते हैं ।

इस पर नैयायिकों का कहना है कि ऐसा माना जाना असम्भव है, क्योंकि बहुत समय पूर्व विनष्ट हुए दान यागादि कर्म, बहुत समय बाद उत्पन्न होने

1- एतादृशप्रतारणापि न सम्भवतीत्यर्थः । क एतादृशो यः परवञ्चनार्थं नानाविधक्लेशसाधनैरूपवासादिभिर्यावज्जीवमात्मानमवसादयेत् । परवञ्चनाजन्यस्वल्पसुखोद्देशेन बहुविधक्लेशेषु प्रवृत्तेरनुचितत्वादितिभावः । कुसु·कारि·व्या पृ० ।।

वाले स्वर्गादि फलों के उत्पादन की सामर्थ्य नहीं रखते । अतएव यागादि जन्य अतिशयरूप अदृष्ट को स्वीकार करना पड़ता है । जीवों में अदृष्टरूप विशेष वस्तु की सत्ता को स्वीकार किये बिना जीवों के भोगों की अच्छी प्रकार से उपपत्ति की नहीं हो सकती । अतः दान यागादि क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले किसी मध्यवर्ती अतिशयरूप अदृष्ट की स्वीकृति आवश्यक है । बोधिनीकार ने अदृष्ट की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि स्वर्गादि के प्रति यागादि को ही हेतु स्वीकार करने पर उसके क्षणिक होने से वह कालान्तर भावी फल का भोग नहीं करा सकता । अतः यागादि अपने से भिन्न अपूर्व को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व प्रत्येक आत्मा में समवेत होकर भोग के प्रति कारण होता है । उस अपूर्व का ज्ञान अस्मदादि को नहीं हो सकता अतः, उसके उपदेष्टा और अधिष्ठाता के रूप में जगत्कर्ता ईश्वर की सिद्धि होती है ।[1] उदयनाचार्य ने कहा है कि चिरध्वस्त यागादि कर्म अतिशय के बिना फल का सम्पादन नहीं कर सकते ।[2] प्रकाशकार ने कहा है कि लोगों की यागादि में प्रवृत्ति प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति के कारण सफल होती है, लेकिन यागादि के आशुविनाशी होने से ऐसा सम्भव नहीं है । अतः तज्जन्य फल के अनुकूल अदृष्ट की कल्पना की जाती है ।[3] उन्होंने यह भी कहा है कि

1- यागादिस्वरूपस्यैव हेतुत्वे तस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरभाविनः फलस्य भुक्तिर्न स्यात् तस्मात् तेनान्तरा किञ्चिदपूर्वमनेन जनयितव्यम्, तच्च प्रत्यात्मसमवेतं भोगं प्रति नियमदर्शनात् । तथा च तस्यास्मदादिभिरशक्यज्ञानत्वात् तदुपदेष्टा तदधिष्ठाता जगत्कर्ता चेश्वरः सिध्यतीति । बोधिनी पृ० 44-45

2- चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना । न्या० कुसु० 1/9

3- परलोकार्थितया यागादौ प्रवृत्तिः प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वेन सफला स्फलसाधनत्वञ्च यागादेराशुविनाशित्वेन न स्यादिति तज्जन्य फलानुकूलामदृष्टं कल्प्यते इति । प्रकाश पृ० 44

सुख दुःख के साक्षात्कार का प्रत्येक आत्मा में नियत होने से उसके उपपादक प्रत्येक भोक्ता में नियत रूप से रहने वाले अदृष्ट की कल्पना की जाती है।[1] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि चिरकाल पूर्व नष्ट हुआ यागादिकर्म अतिशय अर्थात् उस फल के अनुकूल व्यापार के बिना स्वर्गादि फल के उत्पादन में समर्थ नहीं है, क्योंकि बहुत पहिले नष्ट हुआ कारण अवान्तर व्यापार के द्वारा ही कालान्तर भावी फल का हेतु हो सकता है जैसे कि चिरध्वस्त अनुभव संस्कार द्वारा ही स्मृति में हेतु होता है।[2] इसी प्रकार नारायणतीर्थ ने कहा है कि स्वर्गादि के प्रति चिरध्वस्त याग व्यापार के बिना जनकत्व अनुपपन्न है, अतएव अदृष्ट का मानना आवश्यक है।[3] न्यायकन्दलीकार का कहना है कि कर्म क्षण भर ही रहते हैं, अतः उनसे बहुत काल बाद होने वाले स्वर्गादि का संपादन सम्भव नहीं है। यागादि क्रियाएं क्षणिक हैं। उनके स्वर्गादि फल उनसे बहुत समय बाद होते हैं। साथ ही यह भी निर्णीत है कि विनाश को प्राप्त हुए कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। फिर भी यागादि क्रियाओं में स्वर्गादि फलों की हेतुता वेदों से श्रुत है। किन्तु

1- सुख दुःखसाक्षात्कारस्य प्रत्येकात्मनियतत्वात्लाघवाच्च तदुपपादकं प्रतिभोक्तृनियतमेवादृष्टं कल्प्यते इति। प्रकाश पृ० 44

2- चिरध्वस्तं यागादि कर्म अतिशयं तत्फलानुकूलं व्यापारं बिना फलाय नालं न समर्थम्। चिरध्वस्तकारणस्य व्यापारद्वारैव हेतुत्वम्। यथानुभवस्य संस्कारद्वारकस्य स्मृतौ।

3- तं प्रत्यपि चिरध्वस्तस्य व्यापारं बिना जनकत्वानुपपत्त्याऽदृष्टस्यावश्यकत्वाच्चेति 2। कुसु० कारि० व्या० पृ० 11

यह हेतुता तब तक उपपन्न नहीं हो सकती, जब तक कि यागादि के बाद और स्वर्गादि की उत्पत्ति से पहिले तक रहने वाले किसी व्यापार की कल्पना न कर लें, जिससे यागादि में वेदों के द्वारा श्रुत स्वर्गादि जनकता का निर्वाह हो सके। वही व्यापार किसी प्रमाण के द्वारा गम्य न होने के कारण अपूर्व या अदृष्ट कहा जाता है।[1] उन्होंने किसी पूर्व आचार्य का कथन भी न्यायकन्दली में उद्धृत किया है जिसमें अपूर्व अर्थात् अदृष्ट की सत्ता को स्वीकार किया गया है।[2] अतः अल्पकाल तक रहने वाले धर्माधर्मादि से तुरन्त फल न मिलने के कारण उन धर्माधर्मादि से अन्य अदृष्ट की कल्पना करना नितान्त आवश्यक है, जिसके व्यापार से विहित फल की प्राप्ति संभव हो सके।

नैयायिकों का मन्तव्य है कि पूर्वपक्षी ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि भोगों के सम्पादक शरीरादि अपने-अपने कारणों से एतद् प्रकारक शक्ति को ग्रहण करके ही उत्पन्न होते हैं कि वे उनसे व्यवस्थित भोग का संपादन कर सकें क्योंकि शरीरादि भोग्य विषयों की यह शक्ति अतीन्द्रिय धर्म नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष दीखने वाले पदार्थ का कोई भी धर्म अतीन्द्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होना युक्ति विरुद्ध है। यदि उस शक्ति को भोग के संपादक का सहायकमात्र स्वीकार

1- क्षणिकस्य कर्मणः कालान्तरभाविफलसाधनत्वासम्भवात्।
क्षणिकं कर्म, कालान्तर भावि च स्वर्गफलम्, विनष्टाच्च कारणात् कार्यस्यानुत्पत्तिः श्रुतं च यागादेः कारणत्वम्, तदेतदन्यथानुपपत्त्याः फलोत्पत्त्यनुगुणं किमपि कालान्तरावस्थायि कर्मसामर्थ्यं कल्प्यते, यद्द्वारेण कर्मणां श्रुता फलसाधनता निर्वहति। तच्च प्रमाणान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति व्यपदिश्यते।
न्या० क० पृ० 66

2- फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येतदपूर्वमपि कल्प्यते।। न्या०क० पृ० 662 में उद्धृत

किया जाय तो फिर अदृष्ट की सिद्धि हो ही जाती है, क्योंकि सहकारी रूप वह कारण कोई दूसरा नहीं अपितु अदृष्ट ही हो सकता है ।

पूर्वपक्षियों द्वारा भोग्यनिष्ठ अदृष्टवाद की कल्पना पूर्वक ईश्वर की सत्ता पर आक्षेप-

नैयायिकों के द्वारा अदृष्ट विषयक मीमांसा करने पर अदृष्ट की सिद्धि हो जाती है । नैयायिक इस अदृष्ट को आत्मनिष्ठ अर्थात् भोक्तृनिष्ठ स्वीकार करते हैं । पूर्वपक्षियों का कहना है कि अदृष्ट को स्वर्गसाधनरूप कार्य के प्रति मध्यवर्ती व्यापार के रूप में स्वीकार भी किया जायेगा तो उसे भोग्यनिष्ठ ही स्वीकार करना पड़ेगा । वह अदृष्ट भोग्यनिष्ठ रहकर भी स्वर्गादि फल का कारण हो जायेगा । साथ ही वह शरीरियों में सुख दुःख का सम्पादन भी कर सकेगा क्योंकि जब भोग्य वस्तुएं भोक्ता पुरुष के समक्ष प्रस्तुत होंगी तो वे स्वयं ही इस भोक्ता पुरुष में सुख एवं दुःख का भोग कराने लेंगी । अतः उसके नियन्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना भी व्यर्थ है । इसलिए नैयायिकों के द्वारा अदृष्ट को जो आत्मनिष्ठ माना गया है उसको मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि अदृष्ट को भोग्य निष्ठ स्वीकार कर लिया जायेगा तो जो नैयायिकों के द्वारा यह कहा गया है कि अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है, वह कथन अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ मानने पर आत्मा स्वरूप चेतन पुरुष ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, और यागादि स्वयं ही अदृष्ट का अधिष्ठाता बनकर स्वर्ग की प्राप्ति करा सकेंगी ।

भोग्यनिष्ठ अदृष्टवाद का खण्डन सिद्धान्त पक्ष -

पूर्वपक्षियों के द्वारा उपर्युक्त ढंग से पूर्वपक्ष उपस्थित करने पर नैयायिक उस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अदृष्ट भोग्यनिष्ठ नहीं होता अपितु वह आत्मनिष्ठ ही होता है। उनका कहना है कि यदि अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ माना जायेगा तो फिर एक ही भोग्य वस्तु से अलग-अलग आत्मा के निमित्त अलग-अलग प्रकार के प्रतिनियत सुख दुःख का सम्पादकत्व संभव नहीं होगा, क्योंकि भोग्य शरीरादि के साधारण होने से उन समस्त शरीरियों को इन भोग्य वस्तुओं से समान भोग का ही संपादन हो सकता है। लेकिन यदि उस अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ न मानकर आत्मनिष्ठ माना जायेगा तो प्रत्येक आत्मा को अपने-अपने अदृष्ट से प्राप्त सुख दुःख प्रकारक अनेक भोग अलग-अलग प्रकार से प्राप्त हो सकते हैं।[1] अतः भोक्ता पुरुष के आत्मा में ही अदृष्ट को स्वीकार करना चाहिए। न्यायकन्दलीकार का कहना है कि यह कर्म का सामर्थ्यरूप अपूर्व जिसे स्वर्गसाधनपर्यन्त रहना है, यागादि क्रियाओं में नहीं रह सकता है, क्योंकि वे यागादि क्षणिक हैं। यागादि के नष्ट हो जाने पर वे अपूर्व बिना आश्रय के स्वर्गोत्पादनपर्यन्त निराश्रय नहीं रह सकते, क्योंकि वे भावरूप कार्य हैं। अतः अपूर्व की उत्पत्ति आत्मा में माननी चाहिए।[2]

1- निर्विशेषाणां अदृष्टरूपविशेषगुणशून्यानां आत्मनां सम्भोगः प्रत्यात्मनियतो भोगः, संस्कृतैरपि अदृष्टवत्तया स्वीकृतैरपि भूतैर्न स्यात्। भूतानां शरीरादीनां सर्वात्मसाधारण्यात्, तददृष्टाकृष्टैरेव शरीरेन्द्रियादिभिः तद्भोगजननादिति। विवृति पृ० 45

2- न कर्मसामर्थ्यं क्षणिके कर्मणि समवैति------वस्तुभूतं च कार्यमनाधारं नोपपद्यते, तस्मादात्मसमवेतस्यैव तस्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या।
न्या० क० पृ० 662

यदि मीमांसक यह कहें कि जिस प्रकार वह्नि में दाहशक्ति रहने पर वह दाह करता है, लेकिन मणि, मंत्र का प्रयोग कर देने पर उस दाह शक्ति के नष्ट या कुण्ठित हो जाने पर वह्नि स्वरूपतः पहले के समान होते हुए भी दाह नहीं करता है । अतः वह अग्नि दो व्यक्तियों में अलग-अलग भोग का कारण होता है । इसी प्रकार सर्वत्र भोग्यनिष्ठ अदृष्ट को मानने पर भी उससे प्रतिनियत भोग का संपादन हो सकता है ।

परन्तु नैयायिक इस शक्तिवाद का खण्डन कार्य में प्रतिबन्धक संसर्गाभाव को भी अन्य समस्त कारणों के अतिरिक्त कारण मानकर करते हैं । उनका कहना है कि जिस समय मण्यभाव में अथवा मंत्राभाव में अग्नि से दाह होता है उस समय उसमें प्रतिबन्धक संसर्गाभावरूप कारण भी मौजूद रहता है, अतः उस समय दाह क्रिया हो जाती है । लेकिन जिस समय अग्नि में मणि का भाव अथवा मंत्र का भाव रहता है, उस समय उस अग्नि के साथ प्रतिबन्धक संसर्गाभाव रूप कारण का अभाव रहता है, अतएव दाह क्रिया सम्पन्न नहीं होती । अतः अग्निस्थल में प्रतिबन्धक संसर्गाभाव के भाव और अभाव के कारण ही एक अग्नि में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ होती है । परन्तु अदृष्ट स्थल में ऐसा नहीं माना जा सकता । अतएव मीमांसकों की यह अवधारणा कि अदृष्ट अन्य शक्ति पदार्थ को स्वीकार करने पर भोग्यनिष्ठ वस्तुओं से भी प्रतिनियत भोग का संपादन संभव है - निराकृत हो जाती है ।

<u>भोग्यनिष्ठ अदृष्ट के पक्ष में मीमांसक सम्मत युक्तियों का प्रदर्शन -</u>

मीमांसकों का कहना है कि अदृष्ट आत्मनिष्ठ न होकर भोग्यनिष्ठ ही होता है। नैयायिकों ने इस विषय में पूर्वपक्षी मीमांसकों की ओर से भोग्यनिष्ठ अदृष्ट के साधन में पाँच तर्क प्रस्तुत किये हैं जिनके द्वारा भोग्यवस्तुनिष्ठ अदृष्ट की सत्ता सिद्ध हो सकती है।

<u>भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधन हेतु प्रथम तर्क -</u>

मीमांसक यह कह सकते हैं कि "व्रीहीन् प्रोक्षति" "व्रीहीन् अवहन्ति" के वैदिक विधियाँ होने से तदनुष्ठान से अदृष्ट की उत्पत्ति का होना आवश्यक है। अतएव प्रोक्षणजन्य अदृष्ट का व्रीहि में रहना निश्चित है, क्योंकि आगे "प्रोक्षिता एवं व्रीहयः अवघाताय कल्पन्ते" इस वाक्य शेषानुसार प्रोक्षित व्रीहियों का ही अवघात होता है, अप्रोक्षित का नहीं। इससे प्रोक्षित और अप्रोक्षित व्रीहि में भेद की अवश्य कल्पना करनी चाहिए। परन्तु इस भेद का कारण व्रीहिगत प्रोक्षणजन्य अदृष्ट ही है।[1] रामतीर्थ ने भी कहा है कि "व्रीहीन् प्रोक्षति" "व्रीहीन् वहन्ति"

1- "व्रीहीन् प्रोक्षति" व्रीहीनवहन्ति" इत्यत्र प्रोक्षणजनकालान्तरभाव्यवघात-जनको व्यापारो व्रीहिनिष्ठ कल्प्यते, प्रोक्षिता एव व्रीहयः अवघाताय कल्पन्ते इति। विवृति पृ0 53

इन स्थलों में अवघात के प्रति प्रोक्षण का हेतुत्व सुना जाता है । अतः चिर अतीत प्रोक्षण का कालान्तरभावी अवघात के प्रति हेतुत्व बिना व्यापार के अनुपपन्न है । अतः वहाँ पर प्रोक्षणादिजनिता शक्ति विशेष रूप व्यापार "व्रीहि आदि में ही माना जाना चाहिए ।[1] क्योंकि वहाँ पर कोई चेतन नहीं रहता है जिसकी आत्मा में अदृष्ट को स्वीकार किया जाय । अतः अदृष्ट की कल्पना भोग्य-वस्तुओं में ही माना जाना चाहिए न कि आत्मनिष्ठ ।

भोग्यनिष्ठ अदृष्ट साधन हेतु द्वितीय तर्क -

पूर्वपक्षियों द्वारा उपन्यस्त द्वितीय तर्क का अभिप्राय यह है कि "व्रीहीन् प्रोक्षति" में "व्रीहीन्" पद में कर्म विभक्ति का प्रयोग हुआ है । कर्म का लक्षण है - "परसमवेतक्रियाजन्य फलाश्रयत्वं कर्मत्वम्"। अतएव इस लक्षण का अभिप्राय यह है कि परसमवेत अर्थात् कर्म से भिन्न दूसरे में रहने वाली जो क्रिया, एवं उस क्रिया से उत्पन्न फल का जो आश्रय हो उसे "कर्म" कहते हैं । प्रकृत अदृष्ट स्थल में परसमवेत क्रिया हुई प्रोक्षण तज्जन्य फल हुआ अदृष्ट, वह व्रीहि में रहता है । इसलिए पर-समवेतक्रियाजन्य फल का आश्रय होने से ही व्रीहि में कर्मविभक्ति का प्रयोग हो

1- तथाहि- "व्रीहीन् प्रोक्षति" "व्रीहीनवहन्ति" इत्यनेन प्रोक्षणस्यावघातहेतुत्वं श्रूयते । तच्च चिरातीतस्य कालान्तरभाव्यवघातं प्रति व्यापारं विनाऽनुपपन्नमिति । तत्र प्रोक्षणादिजनितशक्तिविशेष व्यापारो व्रीह्यादावेव कल्प्यते ।

कुसु० कारि० व्या० पृ० 15

सकता है । इसलिए भी प्रोक्षणजन्य अदृष्ट को व्रीहिगत ही मानना चाहिए । इसीप्रकार भोग्य वस्तु में ही संस्कार मानना चाहिए ।

<u>भोग्यनिष्ठ अदृष्ट साधन हेतु तृतीय तर्क -</u>

पूर्वपक्षियों का भोग्य निष्ठ अदृष्टवाद के विषय में यह तर्क भी हो सकता है कि जो कर्म जिस आश्रय में फल की कामना से किया जाता है वह उसी वस्तु में फलजनक व्यापार अर्थात् संस्कार को उत्पन्न करता है ।[1] व्रीहिगत प्रोक्षण भी अवघातरूप फल की कामना से किया जाता है अतएव वह प्रोक्षण व्रीहि में ही अदृष्ट को पैदा करता है । जिस प्रकार कि भूमि के माषकर्षण से शस्यातिशय की सम्पादिका शक्ति भूमि में ही रहती है ।[2] इसलिए भी संस्कार भोग्यवस्तु में ही मानना चाहिए ।

<u>भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधन हेतु चतुर्थ तर्क -</u>

पूर्वपक्षियों की भोग्यनिष्ठ अदृष्ट के समर्थन में चतुर्थ तर्क यह है कि व्रीहि यवादि का उत्पादक संस्कार उनके परमाणुओं में मानना होगा, अन्यथा

1-[क] ननु यदुद्देशेन यत् क्रियते तत्तत्र किञ्चित्करम् । यथा पुत्रेष्टि पितृ यज्ञौ । तथा चाभिमन्त्रणादयो व्रीह्याद्युद्देशेन प्रवृत्ता इत्यनुमानमिति । न्या० कु० पृ०/140

[ख] किञ्च यो यद्गतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनकः यागवत् । विवृति पृ०/53

2- माषकर्षणादिना भूमिनिष्ठा कृषिजन्या शक्तिर्निर्वाच्या । विवृति पृ०/53

जब प्रलय काल में व्रीहि आदि सबका विनाश होकर परमाणु मात्र शेष रह जाते हैं, उस समय उन परमाणुओं में यदि व्रीहि यवादि जनक संस्कार नहीं मानेंगे तो दुबारा सृष्टि होने पर उनसे व्रीहि यवादि की उत्पत्ति कैसे होगी ?[1]

भोग्यनिष्ठ अदृष्ट साधन हेतु पञ्चम तर्क -

पूर्वपक्षी की ओर से नैयायिक भोग्यनिष्ठ अदृष्ट के सिद्ध्यर्थ तुलापरीक्षा की एक युक्ति प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीनकाल में संदिग्ध अपराधों की परीक्षा हेतु तुला परीक्षा की पद्धति अपनायी जाती थी। इस पद्धति में संदिग्ध अपराध वाले पुरुष को मंत्र आदि के उच्चारण द्वारा अभिमन्त्रित तराजू पर बैठाया जाता था, एवं जल, अग्नि आदि के द्वारा दिव्य परीक्षा का उपयोग किया जाता था। संदिग्ध व्यक्ति के तराजू में बैठने पर यदि तराजू का पलड़ा झुक जाता था तो उसके अपराधी होने का निश्चय हो जाता था और यदि तराजू नहीं झुकता था तो व्यक्ति निर्दोषी माना जाता था। इस तुला परीक्षा के आधार पर भी यह निश्चित होता है कि मंत्रादि के उच्चारण से तुला में ही जिस प्रकार से शक्ति या संस्कार की उत्पत्ति होती थी उसी प्रकार भोग्य वस्तु में भी अदृष्ट को मानना चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार से मीमांसकों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि अदृष्ट का अधिष्ठान अचेतन भोग्य वस्तुएँ ही होती है न कि

1- व्रीह्यादीनामापरमाण्वन्तभङ्गे व्रीह्यादिनियमानुपपत्तिः ।

विवृति पृ० 53

चेतन आत्मा । उनका मन्तव्य है कि अचेतन भोग्य वस्तुओं में ही अदृष्ट का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करने पर अदृष्ट का अधिष्ठाता ईश्वर है - यह नैयायिकों की बात खण्डित हो जाती है । ईश्वर के प्रति अदृष्ट का अधिष्ठातृत्व खण्डित हो जाने पर ईश्वर की सत्ता विषयक अवधारणा भी विपन्न हो जायेगी । फिर भोग्यनिष्ठ अदृष्ट को स्वीकार करने पर संसारियों के सुख-दुःख विषयक वैचित्र्य का भी संपादन सम्भव हो जायेगा क्योंकि जिस समय जो भोग्य वस्तुयें भोक्ता पुरुष के समक्ष प्रस्तुत होंगी उस समय के भोग्य वस्तुएँ स्वयं ही उस भोक्ता पुरुष में वैसा भोग संपादित कर देंगी जिस प्रकार के स्वभाव वाले अदृष्ट की वे अधिष्ठाता होंगी । अतः संसारियों के सुख दुःखादि के नियमन के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी । अतः नैयायिकों एवं वैशेषिकों की ईश्वर-विषयक अवधारणा अनुचित है ।

नैयायिकों ने उपर्युक्त प्रकार से मीमांसकाभिमत भोग्यवस्तुनिष्ठ अदृष्ट को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके अब स्वयं ही इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं और उसके खण्डन पूर्वक स्वाभिमत भोक्तृनिष्ठ अदृष्ट को स्वीकार करते हुए उसके नियामकरूप में ईश्वर की सत्ता को वैध करार देते हैं । उनके द्वारा उपर्युक्त तर्कों का निम्न प्रकार से खण्डन किया जाता है ।

<u>भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधक प्रथम युक्ति का खण्डन -</u>

नैयायिक भोग्यनिष्ठ अदृष्ट को सिद्ध करने वाले प्रथम तर्क का खण्डन दो प्रकार से करते हैं -

1- नैयायिकों का कहना है कि जिस प्रकार अग्नि में इन्द्रादि देवताओं के निमित्त डाली गई समंत्रक आहुतियाँ मीमांसक मतानुसार भी आहुति डालने वाले पुरुष में ही संस्कार को उत्पन्न करती हैं, देवता और अग्नि दोनों में से किसी में भी अपूर्व को नहीं उत्पन्न करतीं। उसी प्रकार व्रीहि प्रभृति के लिए प्रयुक्त प्रोक्षणादि क्रियाएँ प्रोक्षण करने वाले पुरुष में ही अतिशय अथवा अपूर्व को उत्पन्न करती हैं व्रीहि प्रभृति भूतद्रव्यों में नहीं।

2- प्रोक्षणादिजन्य संस्कार या अदृष्ट यदि व्रीहिगत माना जायेगा तो अनेक व्रीहि होने के कारण उन सबमें अदृष्ट की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार अनेक अदृष्ट मानने पर गौरव दोष उपस्थित होगा। अतएव तदपेक्षया आत्मगत एक अदृष्ट ही मानना अच्छा है।[1] साथ ही जो "संस्कृतो व्रीहिः" इत्यादि में संस्कार को व्रीहिगत मानते हैं तो ऐसी यह प्रतीति व्रीहि के साथ संस्कार का स्वरूप सम्बन्ध होने से है।[2] अतः प्रोक्षणजन्य संस्कार समवाय सम्बन्ध से तो आत्मा में रहता है, परन्तु उसका व्रीहि के साथ सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध होता है।

1- प्रतिव्रीहि नानाशक्ति कल्पनापेक्षया एकस्यैवादृष्टस्यात्म निष्ठस्य प्रोक्षणादिजन्यावघाताजन्कस्य लाघवेन कल्पनात्। विवृति पृ0 54

2- संस्कृतो व्रीहिरिति प्रत्ययबलाच्च तस्य स्वरूपसम्बन्धेनैव व्रीहिनिष्ठत्वं कल्प्यते। विवृति पृ0 54

भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधक द्वितीय युक्ति का खण्डन -

संस्कार को व्रीहिनिष्ठ मानने में सबसे प्रबल युक्ति व्रीहीन् में कर्मविभक्ति के प्रयोग की दी गई है । इसके सम्बन्ध में नैयायिकों का कहना है कि यहाँ परसमवेत क्रिया तो प्रोक्षण ही है परन्तु तज्जन्य फल संस्कार नहीं अपितु "जलसंयोग" है । उस जलसंयोगरूप फल का आश्रय होने से व्रीहि में कर्म विभक्ति का प्रयोग होता है ।[1] पूर्वपक्षी में परसमवेत क्रिया प्रोक्षण से जन्य फल संस्कार अथवा अदृष्ट को मानकर व्रीहि को अदृष्ट का आश्रय होने से कर्म बताया था । परन्तु नैयायिकों के सिद्धान्त पक्ष में परसमवेत प्रोक्षण क्रिया से जन्य फल "जलसंयोग" का आश्रय होने से व्रीहि में कर्मविभक्ति होती है । नैयायिकों ने अपने पक्ष के समर्थन में "सक्तून् प्रोक्षति" का दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत किया है । "व्रीहिन् प्रोक्षति" के समान "सक्तून प्रोक्षति" में "सक्तून्" पद में कर्मविभक्ति का प्रयोग है । यह कोई वैदिक वाक्य नहीं है अतएव यहाँ "अदृष्ट" की कल्पना का कोई अवसर नहीं है । उस दशा में यहाँ प्रोक्षण क्रिया का फल जलसंयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता है । अतएव परसमवेत क्रिया प्रोक्षण, तज्जन्य फल जलसंयोग का आश्रय होने से ही "सक्तून्" में कर्मविभक्ति होती है । ठीक इसी प्रकार "व्रीहीन्" में भी जलसंयोग को प्रोक्षणजन्य फल मानकर प्रोक्षण का आश्रय होने से व्रीहि में कर्मता के उपपादन में कोई बाधा नहीं है ।

1- व्रीहीनिति च " शक्तून् प्रोक्षति" इत्यादाविव प्रोक्षणादिजन्यजलसंयोगादिरूपपरसमवेत क्रियाजन्य फलशालितया कर्मता । विवृति पृ० 54

परन्तु इन दोनों स्थलों में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है, क्योंकि "सक्तून् प्रोक्षति" लौकिक वाक्य है अतः यहाँ पर अदृष्ट की कल्पना का औचित्य ही नहीं है, जब कि "व्रीहीन् प्रोक्षति" इस वाक्य के वैदिक वाक्य होने से यहाँ पर अदृष्ट की भी कल्पना की जा सकती है।

यदि यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कहें कि व्रीहीन् प्रोक्षति में अदृष्ट को ही प्रोक्षण क्रिया का फल क्यों न मान लिया जाय ? तो इसका उत्तर नैयायिक पक्ष में यही होगा कि जहाँ पर दृष्ट फल न बने वहाँ पर अदृष्ट फल की कल्पना की जाती है।[1] यदि किसी व्यापार से दृष्ट फल की प्राप्ति होती है तो वहाँ पर अदृष्ट की कल्पना नहीं की जाती। चूँकि "व्रीहीन् प्रोक्षति" में प्रोक्षण क्रिया का दृष्ट फल जलसंयोग हो सकता है अतः यहाँ पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जाती है। जैसे हि "व्रीहीन् अवहन्ति" में अवघात क्रिया का दृष्ट फल वैतुष्य बन जाता है अतएव अवघातजन्य अदृष्ट नहीं माना जाता है। अतः "व्रीहीन् प्रोक्षति" में अदृष्ट की कल्पना न करके जलसंयोग को ही प्रोक्षण क्रिया का फल मानकर उसमें कर्मता का उपपादन करना चाहिए।

भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधक तृतीय युक्ति का खण्डन -

उदयनाचार्य का कहना है कि मीमांसकाभिमत भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधक तृतीय युक्ति भी उचित नहीं है क्योंकि इसका हेतु हविस्त्याग प्रभृति क्रियाओं में

1- सम्भवे दृष्टफलकृत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

व्यभिचरित है ।[1] चूँकि भोग्यनिष्ठता की साधक इस तृतीय युक्ति में कहा गया था कि जो कर्म जिस आश्रय में फल की कामना से किया जाता है वह उसी वस्तु में फलजनक व्यापार को उत्पन्न करता है । परन्तु याग प्रभृति स्थलों में हवित्याग के समय यह देखा जाता है कि हवित्याग से हवि के आश्रय वह्नि प्रभृति में किसी ऐसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है जो कि कालान्तर में मुख्य फल के उत्पादक रूप में सहायक हो सके ।[2] उनका यह भी कहना है कि मीमांसकों को यह भी देखना चाहिए कि ज्ञानस्थल में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अथवा शब्दप्रमाण जिन वस्तुओं को यथार्थरूप से ज्ञापित करने के लिए प्रवृत्त होते हैं वे उन उद्देश्य भूत विषयों में किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करते बल्कि वे प्रमाण प्रमाता पुरुष में ही प्रमाज्ञान रूप संस्कार को उत्पन्न करते हैं ।[3] अतः मीमांसकों के द्वारा दिया गया यह तर्क कि जो कर्म जिस आश्रय में फल की कामना से किया जाता है वह कर्म उसी वस्तु में फलजनक व्यापार को उत्पन्न करता है - इस प्रमाण स्थल में व्यभिचरित है ।

उदयनाचार्य का कहना है कि मीमांसक यह भी नहीं कह सकते कि ऐसा मानने पर कृषि और चिकित्सा कार्य भी क्षेत्रादि में अथवा रोगी व्यक्ति के

1- तन्न हविस्त्यागादिभिरनैकान्तिकत्वात् । न्या० कु० पृ० 140-41

2- न हि ते कालान्तरभाविफलानुगुणं किञ्चिद् हुताशनादौ जनयन्ति । वही पृ० 141

3- किं वा न दृष्टमिन्द्रियलिङ्गशब्दव्यापाराः प्रमेयोद्देशेन प्रवृत्ताः प्रमातर्येव किञ्चिज्जनयन्ति, न प्रमेये इति । वही पृ० 141

शरीर में कोई अतिशय का उत्पादन नहीं करेंगे बल्कि वे कृषि करने वाले अथवा चिकित्सक की आत्मा में ही अतिशय को उत्पन्न करेंगे- क्योंकि अदृष्ट की आत्मनिष्ठता का कथन केवल अदृष्ट के विषय में ही कहा गया है न कि भूत द्रव्यों के विषय में। अतः कृषि और चिकित्सा स्थल में कृषक अथवा चिकित्सक के द्वारा किया गया संस्कार कृषक अथवा चिकित्सक की आत्मा में कोई संस्कार नहीं पैदा करेंगे बल्कि वे दोनों पाकजरूपादि दृष्ट व्यापारों को उत्पन्न कर उनके द्वारा ही क्षेत्र में अथवा रोगी के शरीर में ही अन्न एवं आरोग्य का सम्पादन करते हैं। अतः उनमें अदृष्ट-रूप किसी व्यापार की उत्पत्ति को मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने भी कहा है कि चिकित्सा स्थल में तो रोगादिनाश रूप फल के उत्पादन में भेषजपान धातुसाम्य रूप दृष्ट व्यापार ही द्वार है।[2] अतः वहाँ के रहते हुए अदृष्ट की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए कृषि और चिकित्सा स्थलों में अतिशय के आत्मनिष्ठ होने की आपत्ति नहीं की जा सकती।

भोग्यनिष्ठ अदृष्टसाधक चतुर्थ युक्ति का खण्डन -

चतुर्थ युक्ति के खण्डन में उदयनाचार्य का कहना है कि परमाणुओं के पाकज रूपरसादि विशिष्ट परमाणु ही उस-उस व्रीहि यवादि अलग-अलग कार्य को

1- कृषिचिकित्से अप्येवमेव स्याताभिति चेन्न। दृष्टेनैव पाकजरूपादिभेदेनोपपत्तावदृष्टकल्पनायां प्रमाणाभावात्। न्या० कुसु० पृ० 14।

2- चिकित्सा स्थले तु धातुसाम्यमेव भेषजपानस्य रोगादिनाशे फले जनयितव्ये द्वारमिति भावः। विवृत्ति पृ० 55

उत्पन्न करते हैं।[1] उनका कहना है कि जिस प्रकार व्रीहि और यव के बीजों में अन्तर है नरबीज का वानर बीज से, गोक्षीर का महिषक्षीर से अन्तर है वह अन्तर उनके परमाणुओं के पाकज रूप रसादि में भी है।[2] तभी उन परमाणुओं में पार्थिवत्व समान रहते हुए भी उनसे व्रीहि यवादि भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि व्रीहि यवादि परमाणुओं के अपने पाकज रूप रसादि गुण ही दूसरे व्रीहि तथा यवादि के परमाणुओं के पाकज रूप रसादि से परस्पर भेदक हैं। इसलिए पाकज रूपरसादि विशिष्ट परमाणु ही उस-उस व्रीहि यवादि अलग-अलग कार्य को उत्पन्न करते हैं।[3] उनका आशय यही है कि जिस प्रकार व्रीहि और यव के बीजों में अन्तर है वह अन्तर उनके परमाणुओं के पाकज रूप रसादि में भी है। ~~तभी उन परमाणुओं में पार्थिवत्व समान रहते हुए भी उनसे व्रीहि यवादि भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है~~ अतः प्रलय काल में व्रीहि आदि का परमाणु रूप में नाश हो जाने पर भी उनमें पाकज रूपरसादि के रहते उसी प्रकार के गुणों से अर्थात् व्रीहित्व एवं यवत्वादि

1- अतएव जातिविशेषव्यापरमाणवन्तभङ्गेऽपि परमाणूनामवान्तरजात्यभावेऽपि प्राचीनपाकजविशेषादेव विशिष्टाः परमाणवस्तं तं कार्यविशेषमारभन्ते। न्या० कु० पृ० 14।

2- यथा हि कलमबीजं यवादेः नरबीजं वानरादेः, गोक्षीरं माहिषादेर्व्यावर्तते, तथा तत्परमाणवोऽपि मूलभूताः पाकजैरेव व्यावर्तन्ते। वही पृ०14।

3- यवाद्युत्पत्तिनियमार्थमाह स्वगुणाः परमाणूनां पाकजादयो विशेषकाः। तेन पाकजरूपरसादिविशिष्टाः परमाणवस्तत्तत्कार्यमारभन्ते। विवृति पृ055

गुणों से युक्त पदार्थों की ही उत्पत्ति होती है । इसलिए व्रीहियवादि के उत्पादक संस्कारों को उनके व्रीहि यवादि के परमाणुओं में मानने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा ही नारायण तीर्थ ने भी कहा है ।[1]

भौग्यनिष्ठ अदृष्ट साधक पञ्चम तर्क का खण्डन -

नैयायिकों का कहना है कि पञ्चम तर्क के आधार पर भी मीमांसकों के द्वारा अदृष्ट को भौग्यनिष्ठ नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि मीमांसकों का जो यह मानना है कि मंत्रादि के द्वारा अभिमन्त्रित करने पर तुला के किसी शक्ति विशेष की उत्पत्ति होती है और इस शक्ति के कारण तुला में झुकाव आ जाता है - तो ऐसा नहीं है । मंत्रादि के द्वारा अभिमन्त्रित करने पर तुला में कोई संस्कार उत्पन्न नहीं होता बल्कि उस तुला में बैठे हुए व्यक्ति की आत्मा में ही संस्कार उत्पन्न होता है । यह संस्कार जय और पराजय के निमित्त बैठाये गये परीक्षणीय पुरुष की आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है । व्यक्ति की आत्मा में " जो मैं इस परीक्षा विधि से तुला पर बैठा हूँ वह मैं पापवान् हूँ अथवा निष्पाप हूँ" एतद् प्रकारक ज्ञान ही तुला के नमनोन्नयन का सहकारी कारण है । इस बात को इस तरह से भी व्यक्त किया जा सकता है कि जिस प्रकार

1- परमाणूनां ये पाकजादयः स्वगुणास्त एवं विशेषोत्पादका इत्यर्थः । तथा च विलक्षणरूपरसादिविशिष्टाः परमाणव एव व्रीह्यारम्भका इत्यभ्युपगमेनैव सर्वसामञ्जस्ये तत्र तत्प्रयोजकविलक्षणशक्तिस्वीकारो निर्युक्तिक इति भावः ।
कुसु0 कारि0 व्या0 पृ0 17

"चोर की दाढ़ी में तिनका" इस प्रयोग मे वास्तविक चोर के ही मन में "मैं चोर हूँ कहीं मेरी दाढ़ी में तिनका तो नहीं है" ऐसा सोचने पर उसका हाथ स्वयं ही दाढ़ी में चला जाता है जब कि अन्यों के साथ ऐसा नहीं होता । अतः इस आधार पर वास्तविक चोर का सही-सही पता चल जाता है, उसी प्रकार "अहं पापवान्" एवं "अहं पुण्यवान्" इत्यादि प्रकारक ज्ञान से वास्तविक अपराधी के शरीर में कुछ कम्पन इत्यादि इस प्रकार से हो जाता है जो कि तुला के नमनोन्नयन में सहकारी हो जाता है ।

परन्तु यदि यहाँ पर यह आशङ्का व्यक्त की जाय कि जिसने किसी प्रकार का पाप नहीं किया उसमें जय का मुख्य कारण धर्म नहीं हो सकता है क्योंकि किसी प्रकार का पाप न करने से धर्म नहीं होता अपितु धर्म का कारण पुण्य काम का करना है । परन्तु जिसने पाप भी नहीं किया है और न तो पुण्य काम ही किया है, अतः ऐसे व्यक्ति में धर्म रूप कारण के न होने से सहकारी कारण के अभाव में उस तुला में झुकाव नहीं उत्पन्न हो सकता । अतः ऐसे स्थलों में पापी व्यक्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

अतः इसका समाधान इस प्रकार से किया जा सकता है कि प्रतिज्ञा के अनुरूप शुद्धि होने पर परीक्षणीय पुरुष में धर्म और अशुद्धि होने पर अधर्म उत्पन्न होता है । इससे ब्रह्म का जैसे पाप आदि के न करने पर भी पुण्यकार्य के भी अभावहोने पर पुण्यवान् न होने पर भी उसमें पुण्य या धर्म की उत्पत्ति हो जाती है जो कि तुला नमनोन्नयन में सहकारी होता है । अतः इस आधार पर अदृष्ट को भी वस्तुनिष्ठ नहीं माना जा सकता ।

अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि यागादि कार्यों के करने से जिस अदृष्ट की उत्पत्ति होती है वह भोगवस्तुओं पर अधिष्ठित नहीं होती है अपितु वह अदृष्ट उस यागादि के कर्ता पुरुष की आत्मा में ही रहता है, एवं समयानुसार उस कर्ता पुरुष को ~~आत्मा में ही~~ उसके किये हुए कार्यों के अनुकूल ~~उसको~~ फल देता है । वह फल चाहे सुख रूप हो अथवा दुःख रूप हो ।

परन्तु वह आत्मा चूँकि अल्पज्ञ होता है, अतः किस अदृष्ट का क्या फल है - यह समझने में असमर्थ है । प्रत्येक आत्मा अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल जब नहीं जानता तो फिर वह अन्य आत्माओं के अदृष्टों के विषय में भी नहीं जानता । इसलिए एक ऐसे चेतन आत्मा की परिकल्पना की जाती है जो कि सर्वज्ञ हो, नित्य हो एवं सर्वशक्तिशाली हो । वही चेतन आत्मा नैयायिकों की दृष्टि से ईश्वर कहा जाता है । वह ईश्वर रूप आत्मा सर्वज्ञ होने से सभी आत्माओं के द्वारा किये हुए कर्मों को तथा तज्जन्य फलों को एवं उन फलों को भोगने की अवधि इन सारी चीजों को जानता रहता है । अतः उसी के अनुकूल उन-उन आत्माओं को भोग भी प्रस्तुत करता रहता है ।

चैतन्य को शरीरादि का धर्म मानकर चार्वाकों द्वारा आत्मा को असिद्ध करने का प्रयास -

भूतचैतन्यवादी चार्वाकों का कहना है कि नैयायिक भले ही अदृष्ट के भोग्यनिष्ठता का खण्डन करके उसकी जगह पर भोक्तृनिष्ठता को सिद्ध कर दें लेकिन

अदृष्ट के भोक्तृनिष्ठ सिद्ध होने के उपरान्त भी नैयायिक स्वाभिमत सिद्धान्त की सिद्धि नहीं कर सकते क्योंकि आत्मा की कोई सत्ता ही नहीं है । सर्वदर्शन संग्रहकार श्री माधवाचार्य ने चार्वाकों की ओर से कहा है कि पृथिव्यादि चार भूतों की ही सत्ता है तदतिरिक्त अन्य की नहीं । उनका कहना है कि जिस प्रकार किण्वादि से मादकशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीराकार में परिणत इन्हीं चारों तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न होता है तथा इनके विनष्ट होने पर चैतन्य का स्वयं विनाश हो जाता है ।[1] उनका कहना है कि चैतन्य से युक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं, देह के अलावा आत्मा नाम का कोई दूसरा भी पदार्थ है- इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है ।[2] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है कि जो अहं प्रतीति होती है वह शरीर को ही विषय करती है ।[3] माधवाचार्य ने चार्वाकों के इस मत के समर्थन में बृहदारण्यक उपनिषद् का एक मन्त्र भी उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य है कि आत्मा विज्ञान अर्थात् शुद्ध चैतन्य के रूप में इन भूतों से निकलकर उन्हीं में विलीन हो जाती है, मृत्यु के बाद चैतन्य की सत्ता नहीं रहती ।[4]

1- तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि । तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते । विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति । स॰द॰ सं॰ चार्वाक दर्शनपृ0 4

2- तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा । देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात् । स॰द॰सं॰चार्वाक दर्शन-4

3- अहं प्रतीतिरप्येषा शरीराध्यवसायिनी । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 1/2/4

4- विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति । बृह0 उप0 2/4/12

इसी प्रकार से सर्वार्थसिद्धिसंग्रह में भी कहा गया है कि जड़ पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है ।[1]

अतः चार्वाकों के अनुसार नित्य आत्मा की कोई सत्ता नहीं है । अतः उनका मानना है कि यदि धर्म अधर्म आदि वासनाओं की सत्ता स्वीकार की जायेगी तो वे वासनायें शरीर में ही स्वीकार की जानी चाहिए । अतः जिन वासनाओं से जिस शरीर की उत्पत्ति होगी तज्जन्य भोग भी उसी शरीर में उत्पन्न हो जायेंगे । बौद्ध लोग भी नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे सभी वस्तुओं को क्षणिक ही स्वीकार करते हैं । अतएव इन लोगों के अनुसार नित्यात्मा की सिद्धि करना ही गलत है । आत्मा की सिद्धि न होने से उनका नियमन करने वाला जो ईश्वर है उसकी सत्ता भी निराकृत हो जायेगी क्योंकि जब आत्मा की ही सत्ता नहीं है तो फिर आत्मा विशेष की ही सत्ता कहाँ से हो जायेगी ।

उक्त आक्षेप का खण्डन -

उपर्युक्त आक्षेप के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि जिस प्रकार देवदत्त के द्वारा देखे हुए का ज्ञान यज्ञदत्त को नहीं होता है क्योंकि दोनों के

1- जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ।। स0 सि0 सं0 2:7

शरीर भिन्न हैं, उसी प्रकार से बाल्यकाल के शरीर से देखे हुए का स्मरण यौवन काल में बाल्य-शरीर के नष्ट हो जाने के कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि दोनों शरीर भिन्न माने जायेंगे। कारणकि दोनों अवस्थाओं के परिमाण भिन्न हैं, और परिमाण का नाश ही तदाश्रय के नाश का कारण होता है। अतः बाल्यशरीर का परिमाण बाल्य शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जायेगा।[1] इसी प्रकार नारायण तीर्थ ने भी कहा है कि शरीर के चैतन्य मानने पर बाल्यशरीर में अनुभूत अर्थ का यौवन शरीर में स्मरण नहीं होगा क्योंकि बाल्य एवं यौवन दशा में स्थित शरीरों में भेद होने से अनुभव एवं स्मृति ये दोनो भिन्न अधिकरणक होंगे।[2] इनका कहना है कि बाल्य शरीर और यौवन शरीर को एक नहीं कहा जा सकता क्योंकि यौवनकाल में पूर्व शरीर का नाश हो चुका रहता है। परिमाण नाश के प्रति आश्रयनाश के हेतु होने से यौवनदशा में बाल्यशरीर का नाश हो जाता है कारण कि आश्रयनाश के बिना परिमाणनाश असम्भव होता है।[3] इसी प्रकार से कारिकावलीकार

1- शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्। चैत्रदृष्टस्य मैत्रेणा स्मरणमिव। न च बाल्ययौवनयोरेकं शरीरम्। अपक्रमात् पूर्वशरीरविनाशात्। परिमाणभेदेन द्रव्यभेदात् पूर्वपरिमाणनाशस्य आश्रयनाश हेतुकत्वात्। विवृति -65

2- शरीरस्य चैतन्याभ्युपगमे तु बाल्यशरीरेऽनुभूतस्य यौवनशरीरे स्मरणं न स्यात्। बाल्ययौवनदशावस्थितयोः शरीरयोर्दशाभेदेन भेदात् कारणस्यानुभवस्य कार्यस्मृति व्यधिकरणत्वादिति भावः। न्या० कुसु० कारि० पृ० 2।

3- परिमाणनाशं प्रत्याश्रयनाशस्य हेतुतया यौवनदशायां बाल्शरीरनाशानुभ्युपगमे तद्वृत्तिद्रव्यत्वपरिमाणस्याप्यनाशोऽभ्युपेयः आश्रयनाशं बिना परिमाणनाशसम्भवात् तत्र तस्य हेतुत्वात्। न्या० कुसु० कारि० पृ० 2

ने भी कहा है कि शरीर की चेतनता नहीं मानी जा सकती क्योंकि मृत शरीरों में उसका व्यभिचार प्राप्त है ।[1] इन्होंने मुक्तावली में भी कहा है कि शरीर में यदि चैतन्य माना जाय तो बाल्यावस्था में देखी हुई बात का बुढ़ापे में स्मरण नहीं बन सकता क्योंकि शरीर अवयवों के बढ़ने और घटने से उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाला होता है ।[2] ऐसा ही आत्मतत्त्व विवेक में भी कहा गया है । कि देहत्व, मूर्तत्व, भूतत्व तथा रूपवत्त्व आदि हेतुओं से देह में चैतन्य का अभाव ही सिद्ध होता है । अर्थात् देहो न चेतनः, मूर्तत्वात्, भूतत्वात्, रूपवत्वात्, रसवत्वात् वा पृथिव्यादिवत्" इत्यादि अनुमानों से शरीर अचेतन ही सिद्ध होता है । अतः देह को चेतन आत्मा नहीं कह सकते ।[3]

उदयनाचार्य ने शरीर के चेतनत्व के विरुद्ध दूसरा यही पूर्वसम्मत तर्क दिया है कि देहगत भूतसमुदाय में चैतन्य मानने पर देहगत भूतसमुदाय के प्रतिदिन बदलते रहने के कारण पूर्वदिन में अनुभूत वस्तु का दूसरे दिन स्मरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि

1- शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारः । कारि0 48

2- शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थाविरे स्मरणानुपपत्तेः शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात् । न्या0 सि0 मु0 48

3- नैवं देहत्वमूर्तत्वभूतत्वरूपादिमत्त्वादिभ्यः ।

आ0 त0 वि0 पृ0 372

अनुभव करने वाला समुदाय दूसरा था और स्मरण के समय अब दूसरा समुदाय उत्पन्न हो गया है ।[1]

शरीर के चेतनत्व के विरुद्ध विश्वनाथ तर्क पञ्चानन ने एक और भी तर्क दिया है । उनका कहना है कि यदि शरीर को ही चेतन माना जायेगा तो फिर बालक की स्तन पान में प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि किसी वस्तु के विषय में प्रवृत्ति के प्रति उसके अभीष्ट साधन होने का ज्ञान कारण है और उस समय अभीष्ट साधनता के स्मारक का अभाव है ।[2] उदयनाचार्य ने कहा है कि देह को चेतन मानने पर जन्म के बाद प्रथम स्तनपान आदि में बालक की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । क्योंकि इच्छा या द्वेष के बिना प्रवृत्ति नहीं होती और इष्ट साधनता का ज्ञान हुए बिना इच्छा नहीं हो सकती, एवं इष्टसाधनता का ज्ञान अनुमान द्वारा होगा । किन्तु वह अनुमान भी व्याप्ति का स्मरण हुए बिना सम्भव नहीं है । साथ ही बालक को व्याप्ति स्मरण भी इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि उसमें इस जन्म में भूयोदर्शन द्वारा व्याप्ति का अनुभव नहीं होने से व्याप्ति स्मरण का हेतुभूत संस्कार नहीं पैदा हुआ है ।[3]

1- न च भूतानां समुदाये पर्यवसिते चैतन्यम्, प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्व-पूर्वदिवसानुभूतस्यास्मरणप्रसङ्गात् । आ॰ त॰ वि॰ पृ॰ 372

2- एवं शरीरस्य चैतन्ये बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात् । न्या० सि० मु० 48 पृ० 17।

3- देहस्य चैतन्ये बालस्य प्रथमप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च, इच्छाद्वेषावन्तरेण प्रयत्नानुपपत्तेः । इष्टाभ्युदायताप्रतिसन्धानं बिना चेच्छानुपपत्तेः । इह जन्मन्यननुभूतस्य प्रतिबन्धस्यास्मृतौ प्रतिसन्धानायोगात् । आ० त० वि० 373

नैयायिकों का कहना है कि बाल्य शरीर का यौवन शरीर में संक्रम भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कारण की वासना को कार्य में संक्रम मानने पर माता के अनुभूत अर्थ का गर्भस्थ बालक को स्मरण होने लगेगा ।[1] ऐसा ही नारायण तीर्थ ने भी कहा है ।[2] विश्वनाथ तर्कपञ्चानन का कहना है कि पूर्व-पूर्व शरीर में उत्पन्न संस्कारों से उत्तरोत्तर शरीरों में संस्कार की उत्पत्ति मानने पर अनन्त संस्कारों की कल्पना का गौरव होगा ।[3]

यदि पूर्वपक्षी इस दोष से बचने के लिए कि माता के अनुभूत अर्थ का गर्भस्थ बालक को स्मरण न हो - इसके लिए यह कहें कि केवल उपादान कारण की वासना ही उपादेय में आती है अतः माता के अनुभूत अर्थ का बालक को स्मरण का प्रसङ्ग नहीं होगा । तो ऐसी स्थिति में शरीर का उपादान उसके कर-चरणादि को ही स्वीकार करना होगा । परन्तु ऐसी स्थिति में भी पूर्वपक्षियों का सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकेगा क्योंकि हाथ आदि के कट जाने पर उसके अनुभूत अर्थ का खण्ड शरीर को स्मरण नहीं हो सकेगा, खण्ड शरीर में कटे हुए हाथ के उपादान न होने से ।[4] इसका तात्पर्य यह है कि कटा हुआ हाथ खण्ड शरीर का अवयव नहीं है ।

1- अन्यथा मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तेः । विवृति पृ0 65

2- तथा च मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणप्रसङ्ग इति भावः । कुसु0 का0 व्या0 पृ0 2।

3- न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम् अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात् । न्या0 सि0 मु0 48 पृ0 17।

4- तथा च विच्छिन्ने करादौ तदनुभूतस्य स्मरणं न स्यात् । खण्डशरीरे विच्छिन्न करादेरनुपादानत्वात् । विवृति पृ0 65

इसलिए वह खण्ड शरीर का उपादान नहीं कहा जा सकता है । उदयनाचार्य ने कहा है कि देहगत प्रत्येक अवयव में भी चैतन्य नहीं कह सकते, क्योंकि हाथ पैर आदि किसी अवयव के देह से अलग हो जाने पर हाथ-पैर द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण नहीं हो सकेगा । कारण कि अनुभव करने वाला अवयव अब है नहीं ।[1] न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार ने कहा है कि चक्षु से पहले प्रत्यक्ष किये हुए विषयों का चक्षु के अभाव में स्मरण नहीं होगा, क्योंकि उस दशा में अनुभव करने वाले चक्षु का ही अभाव है । कारण कि अन्य से अनुभव किये गये का अन्य के द्वारा स्मरण सम्भव नहीं क्योंकि समान आश्रय में रहने वाले अनुभव और स्मरण का ही कार्यकारणभाव है ।[2]

यदि पूर्वपक्षी लोग यह कहें कि चैतन्य को शरीर का धर्म न मानकर परमाणुओं का ही धर्म मान लिया जाय तो फिर बाल्यकाल के शरीर के परमाणु यौवन शरीर में भी स्थिर रहने के कारण बाल्यकाल के अनुभूत अर्थ का यौवन में स्मरण सम्भव हो सकता है, अतएव आत्मा जैसे नित्य पदार्थ को नहीं मानना पड़ेगा ।

परन्तु इस पूर्वपक्ष के भी विरोध में नैयायिकों का कहना है कि चैतन्य को परमाणुओं का धर्म मानकर भी नित्य पदार्थ स्वरूप आत्मा का अस्तित्व नकारा

1- नापि प्रत्येकपर्यवसितम् करचरणाद्यवयवविनाशे तदनुभूतस्य स्मरणायोगात् । आ०त०वि० पृ० 373

2- पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात् । अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादितिभावः । न्या० सि० मु० 48 पृ० 172

नहीं आ सकेगा । कारण कि चैतन्य को परमाणुओं का धर्म स्वीकार करने पर दो प्रकार के दोष उपस्थितहोते हैं ।

नैयायिकों का कहना है कि पहला दोष तो यह है कि परमाणुओं के धर्म अतीन्द्रिय होते हैं, अतः लौकिक पुरुष परमाणुओं के धर्म को अपनी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकेंगें । जैसे कि परमाणु के रूपादि धर्म लौकिक प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हो सकते हैं ।[1] इसी प्रकार यदि चैतन्य और उसके द्वारा स्मरण को परमाणु का धर्म मानेंगें तो वह स्मरण भी अतीन्द्रिय हो जायेगा और लौकिक पुरुष को अपने मनन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं होगा ।

चैतन्य को परमाणुओं का धर्म मानने पर दूसरा दोष यही रहेगा कि हाथ कट जाने पर हाथ के साथ अनुभव करने वाले परमाणु भी अलग हो जायेंगे । तब जो खण्ड शरीर रह जायेगा उसमें कटे हुए हाथ के परमाणु न होने से उस हाथ से अनुभूत अर्थ का खण्ड शरीर को स्मरण नहीं होगा ।[2] इसलिए चैतन्य को परमाणुओं का भी धर्म मानना ठीक नहीं है ।

1- न च परमाणूनां चैतन्यं तेषाञ्च स्थिरत्वात् स्मरणं स्यादिति वाच्यम् । तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, तद्रूपादिवत् । विवृति पृ066

2- करपारमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्नकरपरमाण्वसन्निधावस्मरण प्रसङ्गाच्च ।

विवृति पृ० 66

अतः पूर्वपक्षियों द्वारा आत्मा की सत्ता पर जो आक्षेप किये गये थे उनका निराकरण हो जाता है, और आत्मा की सत्ता सुनिश्चित हो जाती है। आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है कि आत्मा के ही रहने से दृष्टि के नष्ट हो जाने पर भी दृष्ट वस्तु का स्मरण होता है। यदि आत्मा को नहीं मानेंगे तो फिर कौन स्मरण करेगा।[1] न्याय मञ्जरीकार ने तो बौद्धों को धिक्कारते हुए कहा है कि एक ओर बौद्ध लोग मानते हैं कि आत्मा की सत्ता नहीं है, केवल फल का भोग मात्र होता है दूसरी ओर स्वर्ग की प्राप्ति के लिए चैत्य अर्थात् मन्दिर और मूर्ति की अर्चना भी करते हैं। सभी संस्कार क्षणिक हैं, और दूसरी ओर युगों तक स्थित रहने वाले विहारों का निर्माण हो रहा है। एक ओर सब कुछ शून्य है का उद्घोष चल रहा है तो दूसरी ओर गुरु को धन देने का आदेश भी मिल रहा है। इससे अधिक अविश्वसनीय बौद्धों का चरित्र और क्या होगा? वह तो ढोंग की पराकाष्ठा है। क्योंकि उनके व्यवहार कुछ और हैं, जब कि सिद्धान्त कुछ और हैं।[2] अतः न्यायमञ्जरीकार के द्वारा भी बौद्धों के अनात्मवाद का खण्डन हो जाता है। इसलिए आत्मा पदार्थ को स्वीकार करना परम आवश्यक है जिसके अधिष्ठेय बनकर अदृष्ट चिरकाल तक अधिष्ठित रहते हैं।

1- सत्यां स्यात्मनि दृङ्नाशात्तद्द्वारा दृष्टवस्तुषु।
स्मृतिः केन ---------------------------।। ई० प्रत्य० 1/2/4

2- नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्काराः क्षणिका युगस्थिति भृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियतो दम्भस्य भूमिः परा।।

न्या० मं० 39

<u>आत्मा के कारणत्व पर आक्षेप</u> -

पूर्वपक्षी यहाँ पर यह आक्षेप करते हैं कि नैयायिकों के द्वारा यद्यपि आत्मनिष्ठ अदृष्ट का साधन किया जा चुका है, परन्तु अभी भी यह अवधारणा न्यायसङ्गत नहीं सिद्ध हो सकती। कारण कि कार्यों का कारणों के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्भव होने पर ही कारणत्व का निर्धारण किया जाता है। यद्यपि नैयायिक आत्मा को अदृष्ट का कारण मानते हैं क्योंकि बिना आत्मा के अदृष्ट की उत्पत्ति असम्भव है। परन्तु आत्मा के साथ अदृष्ट की अन्वय व्याप्ति बनने के उपरान्त भी व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन सकती क्योंकि नैयायिक लोग आत्मा को नित्य एवं विभु पदार्थ मानते हैं। नित्य एवं विभु पदार्थ की अन्वय व्याप्ति तो किसी भी कार्य के प्रति बन जाती है परन्तु व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बन सकती। कारण कि नित्य एवं विभु पदार्थ का कभी अभाव नहीं सिद्ध होता है।[1]
अतः इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि या तो अदृष्ट की सत्ता ही नहीं है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यदि अदृष्ट की सत्ता है भी तो उसकी उत्पत्ति के प्रति आत्मा की कारणता नहीं है। अतः इस प्रकार से आत्मा की सत्ता को भी अस्वीकार किया जा सकता है।

1- ननु आत्मनिष्ठमदृष्टं नात्मजन्यं नित्यविभोस्तस्य कालतो देशतश्च व्यतिरेकाभावात्। व्यतिरेकसहकृतान्वयस्यैव कारणताग्राहकत्वात्। तद्व्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्यैव कारणतात्मकत्वाच्च।

विवृति पृ० 48

<u>उक्त आक्षेप का समाधान -</u>

उक्त आक्षेप के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि हम लोग भी केवल आत्मा को अदृष्ट का कारण नहीं कहते । उनका कहना है कि हम लोगों का मन्तव्य है कि शरीर विशिष्ट आत्मा में ही अदृष्ट की कारणता है । चूँकि अदृष्ट के साथ शरीर का अन्वय-व्यतिरेक सर्वथा सिद्ध ही है । अतः शरीरोपहित आत्मा का अदृष्टादि कार्यों के प्रति अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होने के कारण वह अदृष्ट आदि कार्यों का कारण हो सकता है । इसलिए आत्मा को अदृष्टादि कार्यों का कारण माना जा सकता है ; क्योंकि शरीर विशिष्ट आत्मा, शरीर और आत्मा से भिन्न एक तीसरी वस्तु है ।

परन्तु इस पर पूर्वपक्षियों का कहना है कि शरीररूप उपाधि एवं आत्मा इन दोनों से भिन्न शरीरविशिष्ट आत्मा नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु प्रसिद्ध नहीं है । उनका कहना है कि यदि इन दोनों से भिन्न शरीरविशिष्ट आत्मा की सत्ता को स्वीकार भी कर लिया जायेगा तो फिर आत्मा में कारणता की सिद्धि न होकर शरीरविशिष्ट आत्मा में ही कारणता सिद्ध होगी । अतः नित्य एवं विभु होने के कारण आत्मा किसी भी कार्य का कारण हो ही नहीं सकता ।

परन्तु नैयायिकों का कहना है कि "कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्" यह कारण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण इसको कारण का सही लक्षण नहीं माना जा सकता । कारणता की इस परिभाषा के आधार पर नित्य एवं विभु पदार्थों की कारणता नहीं बन पाती है क्योंकि इसके आधार पर इन पदार्थों

में व्यतिरेक का अभाव है । अतः नैयायिकों ने कारण के इस लक्षण को न स्वीकार करके "अन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्" इस लक्षण को कारण का लक्षण स्वीकार किया है । इस लक्षण के मानने पर नित्य एवं विभु आत्मा आदि में भी कारणता का लक्षण घटित हो जाता है ।[1]

उदयनाचार्य का मत है कि विभु और नित्य आत्मा का हेतुत्व कभी अन्वय और व्यतिरेक से अथवा कभी धर्मिग्राहक प्रमाण से निश्चित हो सकता है । अन्यथा यदि ऐसा न स्वीकार करके केवल सम्मिलित अन्वय व्यतिरेक को ही कारणत्व का नियामक स्वीकार करेंगे तो फिर नित्य एवं विभु जिस आत्मारूप धर्मी में आप कारणत्व के अभाव रूप धर्म का साधन करना चाह रहे हैं, उस धर्मी का ही ज्ञान असम्भव हो जायेगा ; क्योंकि कार्यरूप हेतु से कारण के कभी भी अनुमान स्थल में स्वजन्य कार्य के साथ न देखे जाने से कारण का कोई भी अनुमान नहीं हो पायेगा ।[2] उनका कहना है कि यदि कार्य के साथ कारण देखा जायेगा तो फिर उस कारण का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाने से कार्यलिङ्गक कारण के अनुमान की प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जायेगी ।[3] बोधिनीकार का कहना है कि उपर्युक्त प्रकार से न स्वीकार

1- तावदन्वयव्यतिरेकावेव कारणं, नापि तत्त्वेव तन्निश्चयोपायः । किं तर्हि ।
कार्यान्नियतः पूर्वभावः कारणत्वं, निश्चीयते च धर्मिग्राहकप्रमाणादिनापि ।
तस्मान्नित्यविभोरपि कारणत्वसोपाधित्वनिश्चयो सम्भवतः । बोधिनी पृ० 203

2- स च क्वचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते, क्वचिद्धर्मिग्राहकाद् प्रमाणात् ।
अन्यथा कार्याद् कारणानुमानं क्वापि न स्यात् । तेन तथानुविधानानुपलम्भात्
न्या० कुसु० पृ० 204

3- उपलम्भे वा कार्यलिङ्गानवकाशाद्, प्रत्यक्ष एव तत्सिद्धेः ।
वही पृ० 204

करने पर ज्ञानादि कार्यलिङ्गों के द्वारा आत्मारूप समवायिकारण की प्रतीति नहीं होगी ।[1]

धर्मिग्राहक मान से आत्मा में अदृष्टादि के कारणत्व की सिद्धि -

प्रकाशकार का कहना है कि बुद्ध्यादि कार्यों के समवायिकारण के रूप में आत्मा आदि का ज्ञान होने से धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा भी आत्मा में बुद्ध्यादि के प्रति कारणत्व का ग्रहण होता है । क्योंकि कार्यव्यक्ति के द्वारा अनुमेय कारण व्यक्ति का अन्वय आदि के अनुविधान में अदर्शन है । अतः कार्य-कारण व्यक्तियों का अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उनके कारणत्व का ग्रहण नहीं होता ।[2] उनका कहना है कि तज्जातीय अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अपने गुणों के प्रति घटादि का अन्वय व्यतिरेक के ज्ञान में घटत्वादि प्रयोजक नहीं है बल्कि उसका प्रयोजक द्रव्यत्व ही है । अतः अन्वय व्यतिरेक के समान गुणों के प्रति नित्य विभु आत्मा का भी कारणत्व निश्चित है ।[3] बोधिनीकार का कहना है कि जिस कार्य-लिङ्ग के द्वारा

1- एवमनभ्युपगमे ज्ञानादिकार्यलिङ्गेनात्मादेः समवायिकारणस्य प्रतीतिर्न स्यात् । बोधिनी पृ० 203

2- बुद्ध्यादिभिः कार्यैः समवायिकारणतयाऽऽत्मादयोऽवगम्यन्त इति धर्मिग्राहकमानादेव तेषां कारणत्वग्रह इत्यर्थः । कार्यव्यक्त्याऽनुमेयकारणव्यक्तेरन्वयाद्यनुविधानादर्शनादित्यर्थः । अथ कार्य कारण व्यक्त्योरन्वयव्यतिरेकाभ्यां न तयोः कारणत्वं गृह्यते । प्रकाश पृ० 204

3- तत्तज्जातीयस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामिति स्वगुणान् प्रति घटादेरन्वयव्यतिरेकज्ञाने घटत्वादिकं न प्रयोजकम् , किन्तु द्रव्यत्वमेव । तदुर्भयान्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं गुणान् प्रति नित्यविभोरप्यस्तीति । वही 204

कारण का अनुमान होता है उससे उसकी सिद्धि होने के कारण उसके कारण की भी सिद्धि हो जाती है।[1] उनका कहना है कि यद्यपि अनुमान विशेष में अन्वय-व्यतिरेक का अभाव होता है फिर भी तज्जातीय दूसरे विशेषों में उसके उपलब्ध होने से अन्यत्र भी तज्जातीय दर्शन से तज्जातीय कारणविशेष का अनुमान सिद्ध होता है।[2] फिर भी अन्यत्र व्यतिरेक के अभाव में रहने पर भी आत्मा आदि में समवायिकारण के समान रूपादि में गृहीत अन्वयव्यतिरेक का तज्जातीय ज्ञान आदि के दर्शन से समवायिकारण के रूप में आत्मा का अनुमान सुकर है।[3] उनका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य घटादि अन्य द्रव्यों में जो गुण की कारणता अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा पहिले से सिद्ध है उसी के बल पर द्रव्यत्व से युक्त आत्मारूप द्रव्य में भी गुण की कारणता प्राप्त हो जाती है, क्योंकि तत्काल व्यक्ति में जो तद्घट की कारण ता सिद्ध की जाती है उसका प्रयोजक तद्घट के साथ तत्कपाल व्यक्ति का अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, किन्तु अन्य घटों के साथ अन्य कपालों का जो अन्वय और व्यतिरेक पूर्व से गृहीत हैं उसी के बल पर प्रकृत तत्कपाल में प्रकृत तद्घट की कारणता गृहीत होती है। अतः उसी अन्वय-व्यतिरेक से आत्मारूप द्रव्य में भी अदृष्टरूप गुण की कारणता सिद्ध हो जाती है। फलतः जिस व्यक्ति में जिस व्यक्ति की कारणता सिद्ध करना इष्ट है, उन दोनों व्यक्तियों के अन्वय व्यतिरेक का ग्रहण आवश्यक नहीं है किन्तु तज्जातीय दूसरे व्यक्तियों में अन्वय-व्यतिरेक का ग्रहण ही आवश्यक है।

1- येन कार्येण लिङ्गेन कारणमनुमीयते तेन तत्सिद्धेः, तस्य कारणस्य सिद्धेरिति। बोधिनी पृ० 204

2- यद्यप्यनुमितस्थले विशेषे अन्वयव्यतिरेकयोरनुपलम्भस्तथापि तज्जातीयेषु विशेषान्तरेषु तदुपलम्भादन्यत्रापि तज्जातीयदर्शनेन तज्जातीयकारणविशेषानुमानं सिध्यतीति। बोधिनी पृ० 204

3- अन्यत्रापि व्यतिरेकविरहिण्यपि आत्मादावपि समवायिकारणवद् रूपादिषु गृहीतान्वयव्यतिरेकस्य तज्जातीयज्ञानादिकार्यदर्शनात्समवायिकारणत्वेनात्मनोऽनुमानं सुकरमिति। बोधिनी पृ० 204

प्रकृत में अदृष्ट रूप कार्य गुण है एवं आत्मारूप कारण द्रव्य है । चूँकि गुण का समवायिकारण द्रव्य होता है ;[1] क्योंकि घट द्रव्य होने के कारण ही रूपादि गुणों का समवायिकारण है, वह घट है इसलिए समवायिकारण नहीं है। अतः गुणनिष्ठ समवायिकारणता का अवच्छेदक जो द्रव्यत्व धर्म है, उसकी सत्ता जब आत्मा में है तो उसमें गुण की समवायिकारणता भी अक्षय है । आत्मा में द्रव्यत्व तो रहे किन्तु तदवच्छेद्य समवायिकारणता न रहे यह असम्भव है ; क्योंकि ऐसा न होने से द्रव्यत्व समवायिकारणता का अवच्छेदक ही नहीं रह जायेगा । अतएव आत्मा जिन गुणों का समवायिकारण होगा, वे गुण है अदृष्ट एवं ज्ञानादि । अतः आत्मा का व्यतिरेक सम्भव न होने पर भी धर्मिग्राहक प्रमाण से आत्मा अदृष्टादि के प्रति कारण हो सकता है ।

विपक्षबाधक तर्क के द्वारा आत्मा में कारणत्व की सिद्धि -

नैयायिकों का कहना है कि विपक्ष बाधक तर्क के द्वारा भी आत्मा में कारणत्व की सिद्धि की जा सकती है । उनका कहना है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में यदि उसके समवायिकारणों की अपेक्षा न की जाय तो फिर आश्रय के अभाव में असमवायिकारण कहाँ पर प्रत्यासन्न होकर रहेंगे ? अतः असमवायिकारण के अभाव में निमित्त कारण का भी क्या उपकार होगा ? फिर समवायिकारणों के अभाव में कार्य की या तो उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा सतत् उत्पत्ति ही होती रहेगी । अतः कार्योत्पत्ति हेतु किसी नियत देश का नियम नहीं रह जायेगा । इसी प्रकार निमित्त कारण की सामर्थ्य कार्य के उत्पादन में नियत देश में ही होती

1- क्रिया-गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।
वै0सू0 1/1/15

है अत: कार्योत्पत्ति हेतु नियत देश को अवश्य स्वीकार करना चाहिए । अतएव समवायिकारणों को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए । ~~अतएव समवायिकारणों को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा~~ । चूंकि ज्ञान एवं अदृष्टादि भी कार्य हैं, अत: उनका भी कोई समवायिकारण अवश्य होगा । अत: सामान्य रूप से नियतदेश की सिद्धि होने पर एवं पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में ज्ञानादि के समवायिकारणत्व का निषेध करने पर तदतिरिक्त आत्मा में उनके कारणत्व का कैसे निषेध किया जा सकता है ? अत: ज्ञानादि का असमवायिकारण आत्मा ही है ।[1]

आत्मेतर पृथिव्यादि ~~आठ~~ आठ द्रव्यों में अदृष्ट एवं ज्ञानादि की समवायिकारणता इसलिए नहीं स्वीकार की जा सकती क्योंकि पन्चभूतों के विशेष गुण श्रोत्रादि वाह्येन्द्रियों से ही गृहीत होते हैं परन्तु इच्छादि ज्ञानों का ग्रहण वाह्येन्द्रियों से गृहीत नहीं होता है । अतएव ये ज्ञानादि पृथिव्यादि पाँच द्रव्यों के गुण नहीं हो सकते हैं । दिक्, काल और मन भी ज्ञानादि के आश्रय नहीं हो सकते हैं । दिक्,काल और मन द्रव्यों में रहने वाले गुण सामान्य गुण होते हैं जबकि इच्छादि विशेष गुण होते हैं । अतएव पृथिव्यादि आठों द्रव्यों से भिन्न कोई

1- तथा हि कार्यं समवायिकारणवद् दृष्टमित्यदृष्टाश्रयमपि तज्जातीयकारणकम्, आश्रयाभावे किं प्रत्यासन्नमसमवायिकारणं स्यात् तदभावे निमित्तमपि किमुपकुर्यात् । तथा चानुपपत्ति: सततोत्पत्तिर्वा सर्वत्रोत्पत्तिर्वा स्यात् । एवमपि निमित्तस्य सामर्थ्यादेव नियतदेशोत्पादे स एव देशोऽवश्यापेक्षणीय: स्यात् । तथा च सामान्यतो देशसिद्धावष्टपृथिव्यादिबाधे तदतिरिक्तसिद्धिं को वारयेत्/एवमसमवायिनिमित्ते चोदनीये ।

न्या० कुसु० पृ० 205-6

अन्य द्रव्य ही है, जो ज्ञानादि का समवायिकारण हो सकता है, और वही समवायिकारणीभूत द्रव्य ही आत्मा है । कारणत्वरूप सामान्य धर्म के बिना समवायिकारणत्व रूप विशेष धर्म नहीं रह सकता । अतः उक्त समवायिकारणत्व हेतु से भी आत्मा में कारणत्व सामान्य का अनुमान किया जा सकता है । इस प्रकार नित्य और विभु होने पर भी आत्मा में कार्यों का व्यतिरेक सम्भव न होने पर भी उसमें कारणता रह सकती है । जब जब आत्मा में ज्ञान एवं इच्छादि की कारणता रह सकती है तो वह अदृष्टरूप कार्य का भी कारण हो सकता है । इस प्रकार से आत्मा में अदृष्ट का कारणत्व सिद्ध हो सकता है ।

<u>व्यतिरेक को कारणत्व का नियामक मानने पर भी आत्मा में अदृष्ट के कारणत्व की सिद्धि -</u>

नैयायिकों का कहना है कि यदि अन्वय-व्यतिरेक को ही कारणता का नियामक स्वीकार किया जाय तो भी आत्मा में कारणत्व की सिद्धि की जा सकती है । "आत्माभावे अदृष्टाभावः" "कपालाभावे घटाभावः" आदि व्यतिरेक स्थलों में आये हुए अभाव पद से अन्योन्याभाव का ग्रहण करना चाहिए । आत्मा के नित्य एवं विभु होने से उसका संसर्गाभाव भले ही कहीं सुलभ न हो परन्तु अनेक संख्यक आत्माओं का अन्योन्याभाव तो बन सकता है, क्योंकि तादात्म्य का निषेध करने वाला अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है ।[1] अतः आत्मा के कारणत्व में कोई

1- अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम् । न्या० सि० मु० 25

क्षति नहीं है । आत्मा का तादात्म्येन अभाव घट-पटादि में सर्वत्र मिल जाता है क्योंकि घटपटादि आत्मा नहीं है । इस अन्योन्याभाव को लेकर व्यतिरेक का समन्वय सम्भव होने से अन्वय व्यतिरेक को भी कारण का लक्षण मानने पर आत्मा की कारणता बन सकती है ।[1]

फिर यदि अन्वय व्यतिरेक को ही कारणता का नियामक मानकर यह कहा जायेगा कि व्यतिरेक के न रहने पर नित्य आत्मा में कारणता का ग्रहण नहीं होगा तो फिर गगनादि में भी उसके नित्य एवं विभु होने से उसका अभाव न बनने के कारण कारणता का ग्रहण असम्भव हो जायेगा। फिर कारणाभाव में "शब्द समवायिकारणजन्य है, भाव कार्य होने से" इस अनुमान के द्वारा शब्द के समवायिकारण के रूप में गगनादि की सिद्धि का विलोप प्राप्त होने लगेगा । परन्तु गगनादि की सिद्धि अन्य प्रकार से होने के कारण व्यतिरेक के अघटित होने पर भी उसमें कारणता का ग्रहण सम्भव है ।[2] अतः अब नित्य एवं विभु आकाश की कारणता

1- वस्तुतस्तु व्यतिरेकसहचारस्य कारणता ग्राहकत्वपक्षेऽपि न क्षतिः । कारणतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताककारणव्यतिरेकसहचारस्य कारणतावच्छेदकतादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकव्यतिरेकस्य भेदलक्षणस्य घटादौ सुलभत्वेन तदन्तर्भावत्वेन व्यतिरेकसहचारग्रहसम्भवादिति ध्येयम् ।कुसु० कारि० व्या० पृ० 2

2- यदि व्यतिरेकाघटितस्य न कारणताग्राहकत्वं किन्तु व्यतिरेकघटितस्यैव तदा गगनादौ तदभावेन कारणताग्रहासम्भवात् कारणत्वाभावे "शब्दः समवायिकारणजन्यो भावकार्यत्वाद्" इत्यनुमानेन शब्दसमवायिकारणतया गगनादिसिद्धेर्विलोपप्रसङ्गः इति गगनादिसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्या व्यतिरेकाघटितस्यैव कारणताग्राहकत्वमुपेयमिति । कुसु० कारि० व्या० पृ० 25

सिद्ध है तो फिर तद्वत् आत्मा की भी कारणता सिद्ध ही है भले ही उसमें व्यतिरेक का बनना संभव न हो ।

उदयनाचार्य का कहना है कि उपरोक्त प्रकार से उपपादित एवं सम्पूर्ण विश्व के साधनीभूत इस अदृष्ट को ही प्रत्येक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न होने के कारण ही नैयायिक लोग इसको "असमा" कहते हैं एवं इन्द्र जाल के समान दुर्ज्ञेय होने के कारण बौद्धलोग जिसको "माया अथवा"संवृति" के नाम से जानते हैं । इसी अदृष्ट को ही सांख्य लोग "प्रकृति"कहते हैं क्योंकि यही सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण है । तत्त्वज्ञान रूप विद्या से विनष्ट होने के भय से मुक्त होने के कारण इसी को वेदान्ती "अविद्या" कहते हैं । अतः परलोक के साधनभूत अदृष्टरूप धर्माधर्म की सत्ता स्वीकृत हो जाती है ।

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि जब सभी भोगों का नियमन विभिन्न अदृष्टों से ही सम्भव है वही सभी सांसारिक जीवों में विभिन्न प्रकार के भोगों का सम्पादन करने के लिए उनके अनुरूप शरीरादि को उत्पन्न करते हैं, तो फिर जो ईश्वर की तदर्थ अवधारणा की गई है वह व्यर्थ है । अतः अदृष्ट की सिद्धि आत्मनिष्ठ हो जाने पर भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

1- इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा "माया" दुरुन्नीतितो,
मूलत्वात् "प्रकृतिः" प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः,
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ।। न्या0 कु0 1/20

अतः इस पूर्वपक्ष के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि यह सही है कि सम्पूर्ण जीवों के सारे भोग उनके अदृष्टों के अनुरूप होते हैं। परन्तु अदृष्ट स्वयमेव किसी भी भोग को उत्पन्न करने में अक्षम हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं। अतः वे किसी चेतन के साहाय्य के बिना भोग का उत्पादन नहीं कर सकते, बल्कि किसी चेतन का अधिष्ठेय बनकर उसकी सहायता से ही समस्त जीवों में भोग का सम्पादन करते हैं। उदयनाचार्य का कहना है कि जैसे परस्पर मिलकर ही उपादान और निमित्त में कार्य उत्पन्न करने की क्षमता होती है वैसे ही चेतन और अचेतन के परस्पर मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है।[1] उनका कहना है कि जिस प्रकार दण्डादि में जो अपना व्यापार करने में पराधीनता है, वह उसकी अचेतनता के कारण है, उसी प्रकार परमाणु अदृष्टादि में भी अचेतन धर्म होने से उनका भी व्यापार चेतन परतन्त्र पूर्वक ही होगा।[2]

अदृष्ट को नियमपूर्वक संचालित करने में आत्मारूप चेतन भी अक्षम है क्योंकि वह असर्वज्ञ है। असर्वज्ञ कर्ता के द्वारा विचित्र संसार की उत्पत्ति करना असम्भव है। अतः अदृष्ट जिस चेतन पदार्थ से अधिष्ठित होते हैं वही अधिष्ठाता चेतन ईश्वर के नाम से जाना जाता है। वही ईश्वर जीवों को उनके अदृष्टानुसार विचित्र भोगों का संपादन करता है। इस प्रकार से अदृष्ट के अधिष्ठातारूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।[3]

1- तस्मादुपादाननिमित्तयोर्यथा परस्परसहितयोरेव कार्यशक्तिस्तथा चेतनाचेतनयोरपि। आ०त०वि० पृ० 410

2- तस्मादचेतन्यमात्रनिबन्धनमेतद् दण्डादिषु, तथा च परमाण्वदृष्टादिष्वपि तस्य भावाद् तथा भावो दुर्वारः। आ० त० वि० पृ० 413

3- तथा चादृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः। विवृति पृ० 86

षष्ठ अध्याय

अन्यान्य हेतुओं के आधार पर ईश्वरानुमान

≬ षष्ठ अध्याय ≬

अन्यान्य हेतुओं के आधार पर ईश्वरानुमान

विगत तृतीय, चतुर्थ एवं पन्चम अध्यायों में क्रमशः कार्यत्व हेतु के द्वारा जगत्कर्ता के रूप में, वेदकर्ता के रूप में एवं अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वरसत्ता विषयक मीमांसा की गई है । उपर्युक्त आधार पर ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रायः सभी न्यायवैशेषिकानुयायी एकमत हैं और वे अपने-अपने ग्रन्थों में उक्त हेतुओं के द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किये हैं । उदयनाचार्य ने उपर्युक्त तीन हेतुओं के अतिरिक्त भी ईश्वर की सिद्धि में अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं । यद्यपि यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि उदयनाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट इन हेतुओं को अन्य न्याय-वैशेषिकानुयायी ईश्वर की सत्ता में स्वीकार नहीं करते, परन्तु यह सही है कि उनके द्वारा ईश्वरसिद्धि में जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं वहाँ पर इन हेतुओं का परिगणन नहीं किया गया है, अपितु प्रकारान्तर से इन सबका उल्लेख होने से यह सहज ही कहा जा सकता है कि इन समस्त हेतुओं के आधार पर भी सभी न्याय-वैशेषिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं । उदयनाचार्य ने ईश्वर की सिद्धि में जिन अनेक हेतुओं को ईश्वर की सिद्धि में प्रस्तुत किया है उनका उल्लेख उन नैयायिकों के द्वारा भी किया गया है जिन्होंने उदयनाचार्य के मुख्यग्रन्थ न्यायकुसुमान्जलि पर टीका-प्रटीकाओं का प्रणयन किया है । अतः इस अध्याय में उन्हीं हेतुओं की मीमांसा की जायेगी जो हेतु न्यायकुसुमान्जलिकार के द्वारा परिगणित किये गये हैं ।

1- **आयोजन हेतु के द्वारा ईश्वरसिद्धि**

ईश्वरसिद्धि के निमित्त श्रीमदुदयनाचार्य ने कार्यत्व हेतु के अनन्तर "आयोजन" हेतु प्रस्तुत किया है । प्रकाशकार ने आयोजन हेतु के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहा है कि "आयोजन" का तात्पर्य परमाणुओं की उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा सर्गादिकालिक द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है ।[1] उदयनाचार्य का कहना है कि परमाणु आदि चेतनायोजित होकर ही प्रवर्तित होते हैं क्योंकि वे अचेतन हैं । जिस प्रकार कुल्हाड़ी इत्यादि में उनके अचेतन होने से बिना किसी चेतन प्रयत्न के छेदन क्रिया के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार परमाणुओं के अचेतन होने से उनमें द्व्यणुकोत्पादक क्रिया की उत्पत्ति भी चेतन प्रयत्न के बिना सम्भव नहीं हो सकती । उनका कहना है कि यदि बिना चेतन प्रयत्न के ही परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति को स्वीकार किया जायेगा तो फिर यह मानना होगा कि बिना कारणों के ही कार्यों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि अचेतन की क्रियाएं चेतनाधिष्ठान से ही होती है ।[2] प्रकाशकार ने कहा है कि सर्गाद्यकालीन द्व्यणुकोत्पादक कर्म स्वसमानकालीन किसी प्रयत्न से ही जन्य है, क्रिया होने से, चेष्टा क्रिया के समान।[3]

1- आ युज्यते संयुज्यतेऽन्योन्यं द्रव्यमनेनेत्यायोजनं द्व्यणुकारम्भकसंयोगजनकं सर्गादिकालीनपरमाणुकर्मात्र विवक्षितम् । प्रकाश पृ0 503

2- परमाण्वादयो हि चेतनायोजिताः प्रवर्तन्ते, अचेतनत्वात्, वास्यादिवत् । अन्यथा कारणं बिना कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः । अचेतन क्रियायाश्चेतनाधिष्ठानकार्यत्वावधारणात् । न्या0कु0पृ0503

3- सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकोत्पादकं कर्म स्वसमानकालीनप्रयत्नजन्यं कर्मत्वाच्चेष्टावदिति। प्रकाश पृ0 503

इनका तात्पर्य है कि जिस क्रिया से कार्योत्पत्ति होती है वह क्रिया अवश्य ही स्वाश्रयीभूतकाल में वर्तमान प्रयत्न से उत्पन्न होती है जैसे कि चेष्टारूपा क्रिया । अतः सर्गादिकालिक परमाणुओं की क्रिया को भी स्वसमानकालिक किसी प्रयत्न से ही उत्पन्न होना चाहिए । हरिदास भट्टाचार्य ने भी कहा है कि सर्गाद्यकालीन द्वयणुकारम्भक परमाणुद्वय मे संयोग का उत्पादक कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वक होगा, कर्म होने से, अस्मदादिकों के शारीरिक क्रिया के समान ।[1] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार ने भी स्वीकार किया है कि जड़भूतों की प्रतिष्ठा जीवित जीवों पर ही आश्रित रहती है, एवं भूतों का ज्ञान और तद्गत क्रिया भी जीवित प्राणियों का जीवन है ।[2]

इस तरह से यह निष्कर्ष निकलता है कि चेतनगत प्रयत्न से जन्य क्रिया ही परमाणुओं में द्वयणुक स्वरूप कार्य को उत्पन्न करती है । परन्तु प्रयत्न से युक्त अस्मदादि शारीरियों के द्वारा परमाणुओं में क्रिया को उत्पन्न करना असम्भव है, अतः किसी अशरीरी चेतन को ही द्वयणुकोत्पादक परमाणुओं की क्रिया को उत्पन्न करने वाले प्रयत्न का आश्रय मानना होगा । अतः वही इच्छा, ज्ञान एवं प्रयत्न से युक्त अशरीरी परमेश्वर है । जयन्त भट्ट का कहना है कि जिस प्रकार अचेतन शरीर आत्मा की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं उसी प्रकार अचेतन परमाणु भी चेतन ईश्वर की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं ।[3]

1- सर्गाद्यकालीनद्वयणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादि शरीरक्रियावत् । विवृति पृ0 170

2- तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया ।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।।
ई0 प्रत्य0 1/1/4

3- यथा ह्यचेतनः कायः आत्मेच्छामनुवर्तते ।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः ।।
न्या0म0भाग । पृ0 284

इस विषय में पूर्वपक्षी अनीश्वरवादी यह नहीं कह सकते कि परमाणुओं के द्वारा स्वगत प्रयत्न के द्वारा ही द्व्यणुकोत्पादक संयोगजनक कर्म को उत्पन्न किया जा सकने से परमेश्वर की कल्पना अनावश्यक है-क्योंकि ऐसा स्वीकार करने से उदयनाचार्य के मत में परमाणुओं में जड़ता की हानि होने लगेगी ।[1] प्रकाशकार ने कहा है कि यदि परमाणुओं में ही स्वगत प्रयत्न से द्व्यणुकों की उत्पत्ति मानी जायेगी तो परमाणुओं में अचैतन्य की अनुपपत्ति होगी ।[2] ऐसा ही हरिदास भट्टाचार्य[3] एवं नारायणतीर्थ[4] का भी मानना है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में कहा गया है कि जड़ पदार्थों में व्यवहार मानना उचित नहीं है ।[5]

पूर्वपक्षी लोग यह भी नहीं कह सकते कि परमाणुओं के प्राथमिक संयोग को उत्पन्न करने वाली क्रिया भोक्ता के अदृष्ट से ही उत्पन्न होती है-क्योंकि ऐसा मानने से दृष्ट कारणों की हानि होने लगेगी ।[6] प्रकाशकार ने कहा है कि यदि प्रयत्न को निरपेक्ष अदृष्ट से ही उत्पन्न माना जायेगा तो द्व्यणुकादि की भी उत्पत्ति उसी से मानने पर अन्य हेतुओं का उच्छेद हो जायेगा ।[7] नारायणतीर्थ

1- स्वातन्त्र्ये जडताहानिः । न्या0कु0 5/4

2- तद् यदि स्वप्रयत्नादेव तेषां स्यात् तदा परमाणूनामचैतन्यानुपपत्तिरिति ।
प्रकाश पृ0 503

3- परमाणोरेव यत्नवत्त्वे अचैतन्यानुपपत्तिः, अचेतनस्य चेतनप्रेरितस्यैव जनकत्वात्।
विवृति पृ0 181

4- स्वातन्त्र्ये परमाणोः कर्तृरूपचेतननैरपेक्ष्येण सर्गाद्यकालीन परमाणुक्रियाजनकत्वे "जडताहानिः" परमाणोरचैतन्यताहानिः स्यात् । कार्यस्य चेतनजन्यत्वनियमेन परमाणावेव चैतन्याभ्युपगमस्यावश्यकत्वादिति भावः ।
कु0का0 रि0 व्या0 पृ0 75

5- न च जडानामुचितं व्यवहारसाधनमुचितम् । ई0प्र0वि0 1/1/3

6- नादृष्टं दृष्टघातकम् । न्या0कु0 5/4

7- यदि च प्रयत्ननिरपेक्षाददृष्टादेव तत् स्यात् तदा द्व्यणुकादीनामपि तत एवोत्पादः स्यादिति हेत्वन्तरोच्छेद इति ।
प्रकाश पृ0 503

ने कहा है कि अदृष्ट दृष्टनिष्ठ कारणता का निषेधक नहीं है ।[1] अर्थात् अदृष्ट कारण के रहते हुए भी दृष्ट कारणों की कार्यों के प्रति कारणता खण्डित नहीं होती हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि अदृष्ट कारण भी दृष्ट कारण के सहकार से ही फलजनक होता है ।[2] अतः परमाणुओं के संयोग के प्रति अदृष्ट के प्रयत्न की कारणता स्वीकार करके ईश्वर की कारणता का निषेध नहीं किया जा सकता ।

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि चेतनगत चेष्टारूपा विशेष प्रकार की क्रिया ही पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा रखती है । अतः जहाँ पर चेष्टा होती है वहीं पर चेतन पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता होती है । परन्तु जहाँ पर चेष्टा का अभाव होता है वहाँ पर पुरुष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि कृषादि अचेतनगत क्रियाओं में पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती है । अतः अचेतन परमाणुओं में भी चेष्टा के अभाव के कारण तद्गत क्रिया की उत्पत्ति के लिए किसी पुरुष-प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है । अतएव चेष्टारूप विशेष प्रकार के पुरुषप्रयत्नजनित क्रिया के दृष्टान्त से सर्गादिकालिक अचेतन परमाणुओं में रहने वाली क्रियाओं की उत्पत्ति में पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है-

इसके समाधान में नैयायिकों का कहना है कि पूर्वपक्षियों की ऐसी सोच भी ठीक नहीं है-क्योंकि विशेष प्रकारक कार्य अपनी उत्पत्ति के लिए विशेष प्रकारक कारणों की अपेक्षा रखते हैं । परन्तु यह भी निर्विवाद है कि जिन विशेष प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति जिन विशेष प्रकार के कारणों से होती है, उन विशेष कार्यों में रहने वाले सामान्य धर्म एवं उन विशेष कारणों में रहने वाले सामान्य धर्म इन दोनों में भी कार्यकारणभाव होता है क्योंकि "यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः

1- अदृष्ट दृष्टनिष्ठकारणताविघातकं नेत्यर्थः । कु0का0रि0व्या0 पृ0 76

2- अदृष्टमपि दृष्टकारणसहकारेणैव फलजनकम् । विवृति पृ0 18।

तद् सामान्योरपि कार्यकारणभावः" ऐसा नियम है । अतः जब कि चेष्टारूप कार्य-विशेष प्रयत्न-स्वरूप कारणविशेष से उत्पन्न होता है तो भी विशेष कार्य-कारणभाव की सिद्धि से क्रिया-सामान्य के प्रति प्रयत्नसामान्य की कारणता का निषेध नहीं होता । इसीलिए कार्य के अनुरूप ही चेतन-कर्ता की कल्पना भी आवश्यक है ।[1] इसी प्रकार विवृतिकार का कहना है कि चेष्टारूपा क्रिया के प्रति विशेष प्रयत्न की हेतुता निश्चित होने पर भी क्रिया-सामान्य के प्रति प्रयत्नसामान्य की कारणता का खण्डन नहीं होता अन्यथा अङ्कुरविशेष के प्रति बीजविशेषकी कारणता होने पर भी अङ्कुर-सामान्य के प्रति बीज सामान्य की हेतुता का भी विलोप प्राप्त होने लगेगा ।[2]

इस प्रकार से यह कहना सुलभ है कि चूँकि चेष्टादि दृष्टान्तों में चेतनप्रयत्न की क्रियाओं के प्रति कारणता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है । अतः ऐसी स्थिति में जिसकी उत्पत्ति बिना चेतन-प्रयत्न के ही होगी उसे क्रिया नहीं कहा जा सकेगा । चूँकि सर्गादिकालिक ~~द्व्यणुक~~ परमाणुद्वय की संयोगजनक क्रिया भी क्रिया है अतः उन्हें भी स्वसमानकालिक प्रयत्न से अवश्य ही उत्पन्न होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर सृष्टिकालिक परमाणुओं में प्रथम

1- तच्च यद्विशेषयोःकार्य-कारणभावोऽसति बाधके तत्सामान्ययोरपीति न्यायात् तथाविधविशेषकार्यकारणभावसत्वेऽपि सामान्यकार्यकारणभावस्यावश्यकतया तदनुरोधेनैव तथाविधक्रियाकर्तृचेतनाभ्युपगम आवश्यक इति भावः।
कु०का०व्या०पृ०76

2- चेष्टायां विशेषप्रयत्नस्य हेतुत्वेऽपि क्रियासामान्ये प्रयत्नसामान्यस्य कारणत्वानपायात् ।अन्यथा बीजविशेषस्याङ्कुरविशेषे जनकत्वेनाङ्कुरसामान्यं प्रति बीजत्वेन हेतुताया अपि विलोपापत्तेः।   विवृति पृ०182

क्रिया की उत्पत्ति के ही न होने से द्वयणुक की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध हो जायेगी । फलत: जगत् की सर्जना ही न हो सकेगी ।[1] क्योंकि "हेत्वभावे फलाभाव:" ऐसा नियम है । अत: तत्कालिक प्रयत्न के आश्रयरूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाना आवश्यक है ।

अचेतनत्वात् हेतु में सत्प्रतिपक्ष की सम्भावना-पूर्वपक्ष

नैयायिकों के द्वारा दिये गये ईश्वरसत्ताविषयक "परमाणवो हि चेतनायोजिता: प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात्" इस अनुमान वाक्य के हेतु अचेतनत्व को पूर्वपक्षी सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित बताकर यह सिद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं कि इस अचेतनत्व हेतु से किसी चेतन पुरुष का अनुमान करना सम्भव नहीं है । वे सत्प्रतिपक्ष को स्थापित करने के लिए यह कह सकते हैं कि चेतन में केवल शरीर को ही प्रवृत्त करने की सामर्थ्य है । परन्तु परमाणुओं के शरीरेतर होने से वह चेतन परमाणुओं में प्रवृत्ति का उत्पादन नहीं कर सकता । अत: नैयायिकों के द्वारा दिये गये चेतनायोजित साधक अनुमान-वाक्य "परमाणवो हि चेतनायोजिता: प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात्" के हेतु "अचेतनत्व" के विरोध में "शरीरेतरत्व" हेतु को प्रस्तुत करके "चेतनायोजितत्व" के अभाव स्वरूप "चेतनायोजितत्वाभाव" का साधन किया जा सकता है । उनका अनुमान वाक्य है "परमाणवो न चेतनायोजिता: प्रवर्तन्ते शरीरेतरत्वात् ।" अतएव प्रकृत अनुमान वाक्य के परमाणुस्वरूप पक्ष में चेतनायोजितत्वाभाव के साधक शरीरेतरत्व हेतु से नैयायिकाभिमत चेतनायोजितत्व साधक अनुमान सत्प्रतिपक्षित हो जाता है । अत: नैयायिक "आयोजन" हेतु के द्वारा ईश्वर का अनुमान नहीं कर सकते ।

1- क्रियामात्रं प्रति कृतित्वेन हेतुताया कर्तारं बिना परमाणौ तथाविधक्रिया-नुत्पत्तिप्रसङ्गाद इति भाव: । कु०का०व्या०पृ०76

<u>सत्प्रतिपक्ष दोष का निराकरण -सिद्धान्त पक्ष -</u>

उदयनाचार्य का कहना है कि चेतनायोजित साधक "अचेतनत्व" हेतु में उपर्युक्त प्रकार से शरीरेतर हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष की आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि शरीरगत विशेष प्रकार की क्रिया ही चेष्टा कहलाती है जो कि शरीरगत विशेष प्रकार के प्रयत्न से उत्पन्न होती है । अतः इस प्रकार के कार्य-कारणभाव से गृहीत अर्थात् जिस शरीरी चेतन का प्रयत्न केवल शरीर को ही प्रवृत्त कर सकता है उससे ही शरीरेतर द्रव्यों में होने वाली प्रवृत्ति की कारणता खण्डित हो सकती है । परन्तु इस हेतु के द्वारा क्रिया सामान्य के प्रति जो प्रयत्नसामान्य की कारणता है उसकी निवृत्ति नहीं की जा सकती । अर्थात् शरीरगत प्रयत्न में केवल शरीरगत होने वाली क्रिया की ही कारणता होने से परमाणुगत क्रिया की कारणता का तो अभाव सम्भव है परन्तु अशरीरी चेतन के प्रयत्न की परमाणुओं के क्रियाके प्रति जो कारणता है, उसकी कारणता का खण्डन नहीं किया जा सकता है । अन्यथा सर्वसामान्य की व्याप्ति का उच्छेद हो जायेगा ।[1] प्रकाशकार ने कहा है कि शरीरेतर परमाणुओं की क्रिया में चेष्टात्व का अभाव होने से उनके प्रति भोक्तृ अर्थात् शरीरगत प्रयत्नजन्यत्व की ही निवृत्ति होती है । परन्तु क्रियामात्र के प्रति प्रयत्नजन्यत्व होता ही है ।[2] उन्होंने कहा है कि चेष्टा भोक्तृगत प्रयत्न

1- विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकतया सामान्यव्याप्तेर्न प्रत्यविरोधकत्वात् ।अन्यथा सर्वसामान्यव्याप्त्युच्छेदादित्युक्तम् । न्या०कु० पृ० 505

2- शरीरेतर क्रियायाश्चेष्टात्वाभावादभोक्तृप्रयत्नजन्यत्वं निवर्तते,क्रियामात्रे तु प्रयत्नजन्यत्वं स्यादेवेति । प्रकाश पृ० 505

की ही प्रयोज्य है न कि प्रयत्न मात्र की ।[1]

इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि परमाणुओं में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति अशरीरी ईश्वर के प्रयत्न की जो कारणता है उसका उपर्युक्त सत्प्रतिपक्ष दोष के आधार पर खण्डन नहीं किया जा सकता । उदयनाचार्य का कहना है कि इस प्रकार से चेतनायोजित के प्रति शरीरेतरत्वादि के द्वारा जो सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन किया जा सकता है वह भी खण्डित हो जाता है ।[2]

आयोजनहेतुक प्रकृत अनुमान के द्वारा अनुमित ईश्वर की पुष्टि मनुस्मृति से भी होती है, जैसा कि उसमें कहा गया है कि वह प्रसिद्ध देव परमेश्वर जब जागते हैं तब जगतोत्पादक परमाणुओं में चेष्टा अथवा क्रिया उत्पन्न होती है एवं वही परमेश्वर जब शयन को प्राप्त होते हैं तब पदार्थों का विनाश रूप प्रलय प्राप्त होता है ।[3] चूंकि यह नियम है कि जिसमें उपयुक्तज्ञान अथवा उपयुक्त प्रयत्न नहीं रहता है, वही अपने अभीष्ट के प्राप्त्यर्थ किसी ज्ञानवान् एवं प्रयत्नवान् पुरुष की अपेक्षा रखता है । जब चेतन जीव ही स्वयं स्वर्ग एवं नरक के प्राप्त्यनुकूल प्रमाज्ञान एवं प्रयत्न से युक्त परमेश्वर की अपेक्षा रखता है-जैसा कि महाभारत में कहा गया है ।[4] तो फिर

1- चेष्टा हि भोक्तृगतप्रयत्नस्य प्रयोज्या, न तु प्रयत्नमात्रस्येत्यर्थः ।

प्रकाश पृ0503

2- एतेनाऽशरीरत्वादिना सत्प्रतिपक्षत्वमपास्तम् ।

न्या0कु0पृ0505

3- यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ।। मनु0

4- अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।

महाभारत वन0 30/28

अचेतन जड़ परमाणुओं भी द्वयणुकोत्पादनानुकूल क्रिया के लिए ज्ञानवान् एवं प्रयत्नवान् परमेश्वर की अपेक्षा रखें तो इसमें अनौचित्य क्या है ? क्योंकि परमाणुओं के अज्ञत्व एवं अप्रयत्नशीलत्व ये दोनों ही ईश्वर प्रेरितत्व के प्रयोजक हैं ।[1] ये दोनों गुण जिस प्रकार जीवों में हैं उसी प्रकार परमाणुओं में भी हैं । अतएव सर्गादिकालिक परमाणुओं में भी हैं । अतएव सर्गादिकालिक परमाणुओं की वे क्रियाएं अवश्य ही ईश्वरगत प्रयत्न से होती हैं, जिनसे द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है । भगवद्गीता में भी सर्वकार्योत्पादनानुकूल ज्ञान एवं सर्वकार्योत्पादनानुकूल प्रयत्न का अधिष्ठान ईश्वर को बताया गया है । श्रीकृष्ण का कहना है कि प्रकृति अर्थात् परमाणुगण मेरी अध्यक्षता में स्थावर जङ्गम सभी प्रकार की वस्तुओं से युक्त जगत् की सृष्टि करते हैं ।[2] अतः यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार जीवात्मा अपने अदृष्ट के साहाय्य से शरीरादि का प्रेरक होता है उसी प्रकार परमेश्वर भी जगत्सृष्टि के लिए परमाणुओं का प्रेरक है । न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकाश पर टिप्पणी लिखने वाले बच्चा झा नाम से ख्यात श्री धर्मदत्त ने कहा है कि आयोजन प्रयत्नजन्य है, क्योंकि वह कर्म है, मेरे व्यवहार के समान । अतः इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है ।[3] अतः आयोजनहेतु के द्वारा भी ईश्वर का अनुमान होता है ।

1- ईश्वरप्रेरणायामज्ञत्वमप्रयत्नमानत्वञ्च हेतु दर्शितौ परमाण्वादिसाधारणौ ।

न्या०कु०पृ०505

2- मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। गी09/10

3- आयोजनं {कर्मविशेषः} प्रयत्नजन्यं कर्मत्वात् मदीयव्यवहारवदित्यनेनाप्यनुमानेनेश्वरः सिद्ध्यति । टिप्पणी पृ0 503-4

आयोजन हेतु की प्रकारान्तर से व्याख्या

नैयायिकों का कहना है कि "आयोजन" पद की प्रकारान्तर से भी व्याख्या करके तदाधारतया परमेश्वर का अनुमान करना सम्भव है । "आयोजन" शब्द की व्याख्या "आ समन्तात् भावेन योजनं व्याख्यानम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर "अभिमत व्याख्या" परक अर्थ निकाला जा सकता है । हरिदास ने आयोजन का अर्थ व्याख्यान किया है ।[1] नैयायिकों का मत है कि शब्दजन्य अर्थावबोध एवं इस अर्थावबोधजन्य वाजपेयादिक अनुष्ठान ये सभी वाक्यों की सम्यग् व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं । उदयनाचार्य का कहना है कि वेदों के अव्याख्यात होने की स्थिति में उनका कोई अर्थ नहीं निकलता । साथ ही एकदेशदर्शी की व्याख्या आदरणीय नहीं हो सकती क्योंकि "जिस व्याख्या के पूर्वापर सभी शब्द आलोचित हों वही व्याख्या प्रकृष्ट होती है" इस न्याय से एकदेशदर्शी की व्याख्या में अविश्वास होगा।[2] अतः समग्र वेदार्थ का पूर्णज्ञाता कोई एक विशिष्ट पुरुष अवश्य है अन्यथा वेदों के विषय में अन्धपरम्परा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । क्योंकि असर्वज्ञ पुरुष में समस्त वेदों का अध्ययन, अवधारण एवं उनकी अविकल स्मृति की कल्पना करना असंभव है ।[3] उनका कहना है कि वेद किसी सर्ववेदार्थ के ज्ञाता पुरुष के द्वारा

1- आयोजनं व्याख्यानम् । विवृति पृ० 183

2- न हि वेदादव्याख्याताद् कश्चिदर्थमधिगच्छति । न चैकदेशदर्शिनो व्याख्यानमादरणीयम्, "पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्" इति न्यायेनानाश्वासात् । न्या० कुसु० पृ० 522

3- ततः सकलवेदवेदार्थदर्शी कश्चिददेवाऽभ्युपेयोऽन्यथाऽन्धपरम्पराप्रसङ्गात् । स च श्रुताऽधीताध्ययनस्मृतसाङ्गोपाङ्गवेदवेदार्थस्तद्विपरीतो वा न सर्वज्ञादन्यः सम्भवति । न्या० कुसु० पृ० 522

व्याख्यात हुए हैं क्योंकि उनके अनुष्ठाताओं में मतिभेद होते हुए भी यज्ञादि का अनुष्ठान निश्चल अर्थात् एक ही प्रकार से होता है । अतः ऐसा होने से वे सभी वेद उनके अर्थ को जानने वाले के द्वारा ही व्याख्यात हुए हैं जैसे कि मन्वादि संहिताएँ । अन्यथा उन शास्त्रों से विश्वास उठ जाने से एवं अव्यवस्था हो जाने से उन अनुष्ठानों के आचरण भी लुप्त हो जायेंगे ।[1] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि वेद उसके अर्थ को जानने वाले के द्वारा व्याख्यात हुए है क्योंकि वे महाजन-परिगृहीत वाक्य हैं । अव्याख्यात की स्थिति में पदार्थों का ज्ञान न होने से उनके अननुष्ठान की आपत्ति होगी एवं एकदेशदर्शी की व्याख्या में विश्वास नहीं होगा ।[2] इसी प्रकार नारायणतीर्थ ने भी कहा है ।[3] अतः वेदों के व्याख्याता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है, क्योंकि जिस पुरुष को अखिल विश्वब्रह्माण्ड का प्रत्यक्ष नहीं है अथवा वेदविहित सभी अनुष्ठानों के प्रयोगों का प्रत्यक्षात्मक अनुभव नहीं है,

---

1- वेदाः कदाचित् सर्ववेदार्थविद्व्याख्याताः अनुष्ठातृमतिचलनेऽपि निश्चलार्थानुष्ठानत्वात् यदेवं तत्सर्वं तदर्थविद्व्याख्यातं, यथा मन्वादिसंहितेति । अन्यथा त्वनाश्वासेनाव्यवस्थानादननुष्ठानमव्यवस्था वा भवेदनादेशिकत्वात् ।

न्या०कुसु०पृ०523

2- वेदास्तदर्थविद् व्याख्याता महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात् । अव्याख्यातत्वे पदार्थानवगमेऽननुष्ठानापत्तेः एकदेशदर्शिनश्च व्याख्यायां नाश्वासः ।

विवृति पृ० 183

3- "विश्वद्रष्टाः" सर्वज्ञस्य "व्याख्या सता" यथार्थनिश्चतप्रामाण्या वेदाः केनचिद् व्याख्याताः महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात् अव्याख्यातत्वे तदर्थानवगमेऽननुष्ठानापत्तेः । एकदेशदर्शिनश्चास्मदादेर्व्याख्यायाम् अविश्वास इति तद् व्याख्यातृत्वेनेश्वरसिद्धिरिति ।

कुसु०कारि०व्या०पृ०77

वह पुरुष वेदों की सुसंगत व्याख्या कैसे कर सकता है ? साथ ही अस्मदादि जैसे अल्पज्ञ एवं साधारण पुरुषों के लिए समग्र वेदों का अध्यापन तो दूर रहा, अध्ययन भी असम्भव है ।

वेदविहित वाजपेयादि के अनुष्ठातागण भी वेदों के व्याख्याता नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा मानने पर एक ही अनुष्ठान के लिए विभिन्न अनुष्ठाता एवं उनकी अनेक प्रकारक बुद्धि के होने के कारण उन अनुष्ठानों के स्वरूप में अनियमापत्ति होने लगेगी ।[1] इस अनियमापत्ति को दूर करने के लिए ऐसा भी मानना असम्भव है जैसे कि मीमांसकाभिमत में वेद अनादिकाल से अविकृतरूप से विद्यमान है उसी के समान उनके अनुष्ठान भी अविकृत रहे हैं-क्योंकि ऐसा मानने पर दो प्रकार की संभावनायें सम्भव हैं । पहली संभावना यह हो सकती है कि अनुष्ठान के अनुष्ठातागण अनादिकाल से स्वतन्त्ररूप में स्वेच्छा से वाजपेयादि का अनुष्ठान कर रहे हैं। अथवा दूसरी संभावना यह भी हो सकती है कि वे अनुष्ठातागण वेदों से उनकी इति-कर्तव्यता को समझ कर यागादि का अनुष्ठान कर रहे हैं । इन दोनों संभावनाओं में यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार किया जायेगा तो फिर वाजपेयादि के निर्मूलत्व की आपत्ति होगी, अतः वे अनुष्ठेय ही नहीं रह जायेंगे । परन्तु यदि दूसरी संभावना को स्वीकार किया जायेगा तो फिर वाजपेयादि में हो रही अनियमापत्ति का परिहार सम्भव नहीं होगा । कारण कि वाजपेयादि के पूर्वानुष्ठातागण सर्वज्ञ तो

1- अनुष्ठातार एवादेष्टार इति चेत् । न तेषामनियतबोधत्वात् ।

न्या कु0पृ0523

थे नहीं । अतः सभी अपने-अपने बुद्धि के अनुसार उनके अनुष्ठान को स्वीकार करेंगे, क्योंकि पूर्व के अनुष्ठाताओं में एवं वर्तमान के अनुष्ठाताओं में कौन प्रामाणिक है-इसका कोई नियामक नहीं है ।[1] अतः वेदों का कोई सर्वज्ञ व्याख्याता अवश्य है, और वही ईश्वर है ।

2- धृतिहेतुक ईश्वरानुमान -

उदयनाचार्य के अनुसार 'धृति' हेतु के आधार पर भी ईश्वर का अनुमान होता है । उदयनाचार्य के द्वारा परिगणित ईश्वरसाधक हेतुओं में धृति का क्रम तीसरे स्थान पर है । 'धृति' का अर्थ है धारण करना । हरिदास भट्टाचार्य ने धृति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'धृति' का तात्पर्य गुरुत्वयुक्त पदार्थों के पतन का अभाव है ।[2] इस हेतु का स्वारस्य यह है कि प्रत्येक गुरु द्रव्य स्वभावतः पतनशील होता है । परन्तु जब उसे किसी दूसरे पदार्थ के संयोग अथवा विधारक प्रयत्न इन दोनों में से किसी का साहाय्यप्राप्त रहता है तो गुरु द्रव्य का भी पतन नहीं होता है जैसे छीके पर रखा हुआ मटका नहीं गिरता है । इसी प्रकार यह समस्त ब्रह्माण्ड भी गुरुतर होने पर भी नहीं गिरता है । अतः यह अनुमान किया जाता है कि इस ब्रह्माण्ड का कोई धारक प्रयत्न अवश्य है । "धृति" हेतु के द्वारा ईश्वर

1- वेदवद्वेदानुष्ठानमप्यनादीति चेत् । न । तद्धि स्वतन्त्रं वा, वेदार्थबोधतन्त्रं वा ? आद्ये निर्मूलत्वप्रसङ्गः । द्वितीये त्वनियमापत्तिः । न ह्यसर्वज्ञाविशेषे पूर्वेषां तदवबोधः प्रमाणं, न त्विदानीन्तनानामिति नियामकमस्ति ।
न्या०कुसु० पृ० 523

2- धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः । विवृति पृ० 170

की सिद्धि में उदयनाचार्य ने अनुमानवाक्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि क्षित्यादि-ब्रह्माण्डपर्यन्त यह समस्त जगत् साक्षात् अथवा परम्परया किसी विधारक प्रयत्न से अधिष्ठित है क्योंकि गुरु होने पर भी वह अपतनशील है जैसे कि पक्षी अथवा पक्षी से संयुक्त द्रव्य अर्थात् लकड़ी का पतन नहीं होता ।[1] परन्तु क्षित्यादि ब्रह्माण्डपर्यन्त को पतन से रोकने में अस्मदादि के प्रयत्न में सामर्थ्य नहीं है । अतः जिसके प्रयत्न से इनका पतन नहीं होता उसका आश्रय ही परमेश्वर है । प्रकाशिकाकार का कहना है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा स्थिति के प्रति प्रयत्न का हेतुत्व सिद्ध है ।[2] इसी प्रकार से मकरन्दकार का भी मत है ।[3] विवृतिकार ने कहा है कि ब्रह्माण्डादि, पतन के प्रतिबन्धकीभूत प्रयत्न से अधिष्ठित हैं धृतिमान होने से, पक्षी के द्वारा धारण किये हुए काष्ठ के समान ।[4] कुसुमाञ्जलिकारिका व्याख्याकार ने कहा है कि सामान्य

1- क्षित्यादि ब्रह्माण्डपर्यन्तं हि जगत् साक्षात् परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितं गुरुत्वे सत्यपतनधर्मकत्वादवियति विहङ्गमशरीरवत् तत्संयुक्तद्रव्यवच्च ।

न्या०कुसु० पृ० 506

2- अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्थितौ प्रति प्रयत्नस्य हेतुत्वादेवेत्यर्थः ।

प्रकाशिका पृ०506

3- प्रयत्नान्वयव्यतिरेकानुविधानेन स्थितिं प्रति तद्धेतुत्वादेवेत्यर्थः ।

मकरन्द पृ० 506

4- ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्त्वात्, वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत् । विवृति पृ० 170

कार्य-कारणभाव के अनुरोध से धृति और विनाश के कृति अर्थात् प्रयत्न का कार्य होने से धृतित्वादि लिङ्गक अनुमान भी सकर्तृकत्वसाधक कार्यत्व हेतु के समान उपाधिरहित है ।[1] अतः नैयायिकों के द्वारा उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत किये गये धृतिहेतुक अनुमानवाक्यों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि ब्रह्माण्डादि पर्यन्त इस समस्त जगत् का कोई विधारक प्रयत्न अथवा ब्रह्माण्ड में स्पर्श से युक्त किसी दूसरे द्रव्य का संयोग अवश्य है । परन्तु ब्रह्माण्ड में स्पर्श से युक्त किसी दूसरे द्रव्य के संयोग का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है । अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड का प्रतिबन्धक कोई विधारक प्रयत्न ही अपनी सत्ता के द्वारा उसे गिरने नहीं देता । परन्तु वह प्रयत्न किसी चेतन में अधिष्ठित होकर ही रह सकता है । साथ ही यह भी निश्चित है कि वह प्रयत्न अस्मदादि का नहीं हो सकता । फलतः ब्रह्माण्ड के पतन का प्रतिबन्धकीभूत प्रयत्न का आश्रय ही परमेश्वर है ।

उदयनाचार्य का कथन है कि यदि इस ब्रह्माण्ड के विधारकत्व में अदृष्ट को इस प्रकार से स्वीकार किया जाय कि चूंकि अदृष्ट सभी कार्यों का कारण है अतः लोकस्थितिस्वरूप कार्य का भी कारण है । कारण कि लोकस्थिति से जो प्राणियों को सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है उनके कारणीभूत अदृष्टों से ही क्षित्यादि कार्यों का पतन प्रतिरुद्ध हो जायेगा, फलतः प्रयत्न लोकधारण का कारण नहीं है अपितु वह अन्यथा सिद्ध है ।

1- "एवम्" उक्तसामान्यकार्यकारणभावानुरोधाद्धृतिविनाशयोः कृतिकार्यत्वाद् धृतित्वादिलिङ्गकानुमाने "पूर्ववत् निरुपाधित्वं" स कर्तृकत्वसाधककार्यत्व-हेतोरिव निरुपाधित्वं साध्यव्याप्यत्वम् इत्यर्थः ।

कुसु0कारि0व्या0पृ076

परन्तु पूर्वपक्षियों की ऐसी सोच उचित नहीं है क्योंकि अदृष्ट के ही समान प्रयत्न में भी स्थिति की कारणता अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध होने से एक वस्तु में सिद्ध कारणता से दूसरी वस्तुओं की कारणता का प्रतिरोध नहीं किया जा सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर अदृष्टके अतिरिक्त अन्य समस्त प्रत्यक्ष-सिद्ध कारणों में अकारणत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा ।[1]

उदयनाचार्य का मन्तव्य है कि धृति हेतुक अनुमान के द्वारा इन्द्रादि-लोकों के विषय में जो वेदगत वर्णन प्राप्त होता है, उनकी भी व्याख्या हो जाती है । कारण कि ईश्वर के प्रयत्न से ही इन्द्रादि लोकों का पतन प्रतिरुद्ध हो जाता है ।[2]

धृतिहेतुक अनुमान से सिद्ध ईश्वर का समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद एवं भगवद्गीता से भी होता है । बृहदारण्यक में कहा गया है कि हे गार्गि । इस अक्षरस्वरूप परमेश्वर के प्रशासन से ही अर्थात् दण्डभूत विधारक प्रयत्न से ही द्यावा-पृथिवी विधृत है अर्थात् स्थित हैं ।[3] गीता में कहा गया है कि हे अर्जुन । इन संसारी पुरुषों से भिन्न असंसारी उत्तम पुरुष ही परमात्मा कहा जाता है, वही अव्यय है । वही उत्तम पुरुष लोकत्रय में आविष्ट होकर उसका धारण और भरण

1- अदृष्टादेव तदुपपत्तेरन्यथासिद्धमिति चेत् । तदभावेऽपि प्रयत्नान्वयव्यति-रेकानुविधानेन तस्यापि स्थितिं प्रति कारणत्वात् । कारणैकदेशस्य च कारणान्तरं प्रत्यनुपाधित्वात् उपाधित्वे वा सर्वेषामकारणत्वप्रसङ्गात् । न्या0कुसु0पृ0506

2- एतेनेन्द्राग्नियमादिलोकपालप्रतिपादका अप्यागमा व्याख्याताः । न्या0कुसु0 5

3- एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि । द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ।

बृह0 उप0

करता है ।

श्रुतिहेतुक अनुमानान्तर द्वारा ईश्वरसिद्धि

"श्रुति" का दूसरा अर्थ 'वेदधारण' अर्थात् वेदों के अध्ययन पक्ष में माना जा सकता है । अतः इसके आधार पर भी ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है। इसका स्वारस्य यह है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि वाक्यानुसार अध्यापकादि के निर्देश के बिना स्वतन्त्ररूप से किसी ने वेदों का अध्ययन अवश्य किया था। उस अध्ययन के अनुसार ही आगे शिष्ट पुरुषों के द्वारा उस अध्ययन की परम्परा चल पड़ी है । वेदों का वह स्वतन्त्र अध्येता ही परमेश्वर है । इस विषय में अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'वेदाध्ययनं स्वतन्त्रप्रमाणपुरुषमूलकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात् ।" अतः श्रुति हेतु के द्वारा प्रकारान्तर से भी ईश्वर का अनुमान होता है।

1- उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

भगवद्गीता 15/17

3- "आदेः" पद गृहीत विनाश हेतुक अनुमान द्वारा ईश्वरसिद्धि -

'धृत्यादेः' पद में आये हुए "आदि" पद से अभिप्राय जगत् के नाश से है । हरिदास भट्टाचार्य ने कहा है कि धृत्यादि में आदि पद से नाश का ग्रहण होता है ।[1] नैयायिकों का कहना है कि इस आदि पद से भी ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है । उनका मन्तव्य है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का निर्माण कार्य चेतन प्रयत्नपूर्वक होता है उसी प्रकार उस वस्तु का विनाश भी चेतन प्रयत्नपूर्वक ही हो सकता है । उदाहरणस्वरूप जिस प्रकार पट का निर्माणकार्य कुविन्दादि के प्रयत्नपूर्वक होता है उसी प्रकार पटनाश की उत्पत्ति भी प्रयत्नजन्य ही है । अतः इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जगत् का संहार कार्य भी चेतन पुरुष के प्रयत्न के बिना असम्भव है । उदयनाचार्य ने इस नाश हेतु के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करते हुए कहा है कि ब्रह्माण्डादि द्वयणुकपर्यन्त जगत् का विनाश प्रयत्नवान् के द्वारा ही होता है । क्योंकि वह विनाश्य है फाड़े जाने वाले पट के समान ।[2] अतः यह कहा जा सकता है कि प्रलयकाल में इस ब्रह्माण्ड का नाश स्वयं नहीं हो जाता है अपितु उसका नाश करने वाला कोई प्रयत्नवान् चेतन होना चाहिए । परन्तु अस्मदादि में ऐसा सम्भव नहीं है ।

1- "धृत्यादेः इत्यादिपदात् नाशपरिग्रहः । विवृ० पृ० 17।

2- ब्रह्माण्डादिद्वयणुकपर्यन्तं जगत् प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाश्यत्वात् पाट्यमानपटवत्।
न्या०कु०पृ०507

अतः ऐसे समर्थ प्रयत्न के आश्रयरूप में ईश्वर की कल्पना की जाती है। विनाश-हेतुक ऐसा ही अनुमान वाक्य हरिदास भट्टाचार्य ने भी प्रस्तुत किया है।[1] न्यायमञ्जरीकार ने भी संसार की सृष्टि स्थिति और विनाश ईश्वर से ही स्वीकार किया है।[2] अतः जिस प्रकार से जगत् का निर्माणकर्ता ईश्वरसिद्ध होता है उसी प्रकार उसका विनाशकर्ता भी ईश्वर ही है-ऐसा सिद्ध होता है।

यहाँ पर भी पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते कि कुछ घटादि विशेष प्रकार के कार्यों के विनाश में ही प्रयत्न की अपेक्षा होती है, न कि ब्रह्माण्ड पर्यन्त द्वयणुक-नाश रूप समस्त कार्यों के विनाश के लिए। क्योंकि इसका सीधा सा उत्तर यही है कि जब किसी विशेष प्रकार के विनाश के लिए किसी विशेष प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा स्वीकार ही है तो फिर "यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः तद् सामान्योरपि कार्यकारणभावः" इस न्यायानुसार नाशसामान्य के प्रति प्रयत्नसामान्य में भी कारणता को स्वीकार किया जाना चाहिए। अतः विनाश्यत्व हेतु में प्रयत्नजन्यत्व स्वरूप साध्य के व्याप्ति को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

पुराणों एवं आगमों में भी ईश्वर को ही संसार की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश के कर्तारूप में बताया गया है। भागवत् पुराण में कहा गया है कि कल्प

1- ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाशित्वात् पाट्यमान पटवत्। विवृति पृ017।

2- यस्येच्छयैव भुवनानि समुद्भवन्ति
तिष्ठन्ति यान्ति च पुनर्विलयं युगान्ते।
तस्मै समस्तफलभोगनिबन्धनाय
नित्यप्रबुद्धमुदिताय नमः शिवाय ।। न्या0म0भाग। पृ0286

के अन्त में जो स्वयं प्रकाश परमपुरुष भगवान इस सम्पूर्ण जगत् को अपने उदर में लीन करके शेषनाग का सहारा लेकर उनकी गोद में शयन करते हैं, तथा जिनके नाभिसिन्धु से प्रकट हुए सकल लोकों के उत्पत्तिस्थान सुवर्णमय कमल से परम तेजोमय ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए उन्हीं आप परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ।[1] मनु ने भी कहा है, कि वह परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रभृति मूर्तियों को धारणकरके इन भूत पदार्थों को जन्म, वृद्धि एवं विनाश के आवर्त में चक्रवत् घुमाते रहते हैं ।[2] भगवान् श्रीकृष्ण का भी कहना है कि हे कौन्तेय । प्रलयकाल में सभी भूत मेरी प्रकृति अर्थात् संसार की रचना में मेरे सहायक परमाणु के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, एवं कल्पादि में मैं उन्हीं प्रकृतिस्वरूप परमाणुओं के द्वारा पुनः संसार की रचना करता हूँ ।

अतः यह सिद्ध होता है कि न्याय वैशेषिकों की यह मान्यता भी पुराण एवं श्रुतिसम्मत है कि संसार का विनाश ईश्वर के द्वारा ही होता है । अतः संसार के विनाशकर्ता के रूप में ईश्वर का अनुमान करना उचित ही है ।

1- कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ।। श्रीमद्भा०पु० 4/9/14

2- एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ।। मनु० 12/124

3- सर्वभूतानि कौन्तेय । प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। गीता 9/7

आदिहेतुक अनुमानान्तर की व्याख्या

"धृत्यादेः" पद के "आदि" पद का तात्पर्य मीमांसक पक्ष में अनुष्ठान अर्थात् उपासना समझना चाहिए ।[1] इस अर्थ के अनुसार ईश्वर का अनुमान इस तरह से करना चाहिए कि -जिसकी उपासना की जाती है,उसकी सत्ता अवश्य होती है क्योंकि शिष्टजन ही उपासना करते हैं । अर्थात् "उपासनं सद्विषयकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात् ।" अतः वही जो उपासना का विषय है वही परमेश्वर है ।

4- **पदहेतुक ईश्वरानुमान**

नैयायिकों के अनुसार "पद" हेतु के आधार पर भी ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है । उदयनाचार्य ने "पद" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसके अभिप्राय को व्यवहार परक बताया है । उनका कहना है कि वृद्ध व्यवहार के अङ्गीभूत अर्थ जिससे ज्ञात हों वही "पद" शब्द का अर्थ है ।[2] नारायणतीर्थ का कहना है कि

1- धृत्यादेरिति आदिग्रहणात् अनुष्ठानसङ्ग्रहः ।

विवृति पृ० 183

2- पदशब्देनात्र पद्यते गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेनेति वृद्धव्यवहार एवोच्यते ।

न्या०कु०पृ०508

"पद" शब्द व्यवहारपरक है ।[1] उदयनाचार्य ने पद हेतु के आधार पर ईश्वर का अनुमान इस प्रकार से किया है कि पटादि निर्माण कार्य के प्रति कुविन्दादि का नैपुण्य, मनुष्यों का वाग्-व्यवहार एवं बालकों के लिपिक्रम व्यवहार का विश्राम स्वतन्त्रपुरुष में ही होता है, व्यवहार होने से । क्यों कि निपुणतर शिल्पियों के द्वारा निर्मित पूर्व घट से ही पश्चात्वर्ती शिल्पी में नैपुण्य आता है ।[2] हरिदास भट्टाचार्य का इस विषय में अनुमान वाक्य है कि पटादि सम्प्रदाय का व्यवहार स्वतन्त्रपुरुष-प्रयोज्य है, व्यवहार होने से आधुनिक लिप्यादि व्यवहार के समान ।[3] परन्तु अस्मदादि साधारण ज्ञानवान् पुरुष के द्वारा सकल व्यवहार परम्परा का प्रचलन हमारे असर्वज्ञ होने से असम्भव है । फिर दूसरी बात यह भी है कि सर्गादिकाल में ईश्वर से भिन्न किसी अस्मदादि जैसे व्यावहारिक पुरुष की स्थिति भी असम्भव है जो कि लिप्यादि व्यवहारों का प्रचलन कर सके । अतः लिप्यादि व्यवहारों का विश्रान्तस्थलस्वरूप ईश्वर की कल्पना करना अत्यावश्यक है ।[4] नारायणतीर्थ ने

1- पद शब्दो व्यवहार परः । कुसु०कारि०व्या०पृ०76

2- यदेतत् पटादिनिर्माणनैपुण्यं कुविन्दाऽऽदीनां वाग्व्यवहारश्च व्यक्तवाचां, लिपितत्क्रमव्यवहारश्च बालानां स सर्वः स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तो व्यवहारत्वात् निपुणतरशिल्पिनिर्मितापूर्वघटघटनानैपुण्यवत्, चैत्रमैत्रादिपदवत् पत्राक्षरवत्, पाणिनीयवर्णनिर्देशक्रमवच्चेति । न्या०कुसु० पृ० 508

3- पटादिसम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादि-व्यवहारवत् । विवृति पृ० 17।

4- प्रलये पूर्वव्यवहारविच्छेदेनादिमो व्यवहारो भगवतैव भविष्यतीति भावः। कुसु०कारि०व्या०पृ०76

पद हेतु को भी उसके कार्य होने से उपाधिरहित बताया है ।[1] उनका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कार्यत्व हेतु निरूपाधिक है अतः कार्यत्व हेतु से उसके कर्ता का अनुमान होता है, उसी प्रकार "पद" हेतु अर्थात् व्यवहार भी कार्य होने से उपाधिरहित है अतः आदि व्यवहार के विश्रान्त स्थल के रूप में उसके कर्ता ईश्वर का अनुमान उचित ही है । हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि विच्छेद अर्थात् प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में लिप्यादि के आदर्श के रूप में किसी की स्थिति संभव नहीं है एवं अर्वाग्दर्शी अर्थात् नवीन पुरुष में व्यवहारादि का मूल प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है, क्योंकि वह व्यवहार से अनभिज्ञ है । इसलिए सर्ग के आदि काल में घटादि का प्रवर्तक पुरुष सिद्ध होता है ।[2] अतः "पद" हेतु के द्वारा भी ईश्वर का अनुमान होता है ।

उदयनाचार्य का कहना है कि पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकते कि इस संसार में समस्त व्यवहारों के सम्पन्न होने की व्याप्ति शरीरीपुरुष में ही देखी जाने से ईश्वर को जागतिक व्यवहारों का प्रवर्तक नहीं माना जा सकता-क्योंकि अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा जिस तरह के कार्य की कारणता शरीर में है तादृश कार्य के लिए उपयुक्त शरीरत्व परमेश्वर में भी है। कारण कि ईश्वर भी प्रयोजनानुकूल

1- एवं पदस्यापि निरूपाधित्वं कार्यत्वादेव । वही पृ० 76

2- विच्छेदेनान्तरा प्रलयेन आदर्शाद्यभावात् अर्वाग्दर्शी नाद्य व्यवहारमूलं व्यवहारानभिज्ञत्वादिति सर्गाद्यकालीनघटादि व्यवहारप्रवर्तकः पुरुषः सिध्यति ।

विवृति पृ० 182

शरीरों को धारण करके अपने विभूति का प्रदर्शन करते रहते हैं।[1] उनका कहना है कि ईश्वरगत इन्हीं शारीरिक विभूतियों का वर्णन "नमः कुलालेभ्यः" "नमः कर्मारेभ्यः" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा किया गया है।[2]

पदहेतुक अनुमान के द्वारा आदि व्यवहर्ता के रूप में ईश्वर के सिद्धि की पुष्टि गीता के एक श्लोक से भी होती है। भगवान श्रीकृष्ण का कहना है कि मैं ही यदि अतिन्द्रशून्य होकर व्यवहार न करूँ तो यह लोक अर्थात् प्रामाणिक व्यवहार लुप्त हो जायेगा, क्योंकि मेरे दिखाये गये मार्ग पर ही लोग चलते हैं।[3]

पदहेतुक अनुमानान्तर द्वारा ईश्वरसिद्धि

उदयनाचार्य का कहना है कि पद का अर्थ भिन्न प्रकार से भी समझकर उसको हेतु बनाकर उसके आधार पर ईश्वर का अनुमान करना सरल है। उनका कहना है कि वेदों में प्रयुक्त "ओइम्" "ईश्वर" "ईशान्" प्रभृति शब्द बहुतायत से प्रयुक्त किये गये हैं, परन्तु उनके विषय में ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है कि वे वेदप्रयुक्त

1- शरीरान्वयव्यतिरेकाऽनुविधायिनि कार्येतस्यापि तद्वत्त्वात्। गृह्णाति हि ईश्वरोऽपि कार्यवशाच्छरीरमन्तरान्तरा, दर्शयति च विभूतिमिति।
न्या०कु० पृ० 508

2- एतेन "नमः कुलालेभ्य कर्मारेभ्यः" इत्यादि यजूंषि व्याख्यातानि।
न्या०कु०पृ०508

3- यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य ———————————॥ गी०3/23-24

शब्द निरर्थक हैं। अतः प्रत्येक शब्द लौकिक शब्दों की तरह सतात्पर्यक होने से प्रामाणिक है, अतः सार्थक भी हैं। इसलिए ओऽम् ईश्वरादि पदों के सार्थक होने से उनके अर्थस्वरूप ईश्वर की सिद्धि होती है।[1] नारायणतीर्थ का भी कहना है कि वेदगत ईश्वरादि पद की सार्थकता आवश्यक होने से उसके अर्थ के रूप में ईश्वरसिद्ध है।[2]

उदयनाचार्य का कहना है कि ईश्वरादि पदों के द्वारा उनके सार्थक होने से जिज्ञासुओं में यह जानने की उत्सुकता उत्पन्न हो सकती है कि वह ईश्वरादि पदार्थ, क्या हो सकता है ? तो इस जिज्ञासा का निदान श्रुति प्रयुक्त "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्यादि वाक्यों के बल से सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट पुरुष में ईश्वरादि पदों की शक्ति निर्णीत उसी प्रकार से हो जाती है जिस प्रकार कि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वेदवाक्यों में प्रयुक्त 'स्वर्ग' पद की सार्थकता के निश्चित हो जाने पर "यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्" इत्यादि अर्थवादादि वाक्यों के द्वारा अलौकिक विशेष प्रकार के सुख में स्वर्ग पद की शक्ति गृहीत हो जाती है।[3]

1- श्रूयते हि प्रणवेश्वरेशानादिपदम्, तच्च सार्थकम्, अविगानेन श्रुतिस्मृतीतिहासेषु प्रयुज्यमानत्वात् घटादिपदवदिति । न्या०कुसु० पृ० 523

2- वेदस्थत्वेनेश्वरादिपदस्य सार्थकतावश्यकतया तदर्थत्वेनापीश्वर सिद्धिः।
कुसु०कारि० व्या० पृ० 77

3- सामान्यतः सिद्धे कोऽस्यार्थः ? इति व्युत्पित्सोर्विमर्शे सति निर्णयः, स्वर्गादिपदवत्।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
इत्यर्थवादात्। न्या०कुसु० पृ० 523

उदयनाचार्य का कहना है कि लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्यों में भी प्रयुक्त 'अस्मद्' पद से भी ईश्वर का ही अनुमान होता है क्योंकि लोक में घटादि अचेतन पदार्थों में "अहम्" पद का प्रयोग नहीं होता, अतः वेद में भी नहीं होगा। अस्मद शब्द का प्रयोग आत्मा मात्र के लिए भी सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मान्तर में भी "अस्मद" शब्द के प्रयोग की प्रसक्ति होने लगेगी। अतः अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर यही निर्णय निकलता है कि "अस्मद" शब्द का वाच्यार्थ स्वतन्त्रोच्चारयिता पुरुष ही है। अतः लोकव्यवहार के समान ही वेद में प्रयुक्त अस्मद शब्द का वाच्यार्थ उसका स्वतन्त्रोच्चारयिता पुरुष ही है अन्यथा अप्रयोग का प्रसङ्ग होने लगेगा क्योंकि जो व्यक्ति वैदिक "अहं" शब्द का उच्चारण नहीं करता वह भी "अहं" शब्द का वाच्यार्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर "मामुपासीत" इस वाक्य के द्वारा उपासक स्वयं अपना उपास्य हो जायेगा।[1] उनका कहना है कि "अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इत्यादि वाक्य से जिस अलौकिक ऐश्वर्य का प्रतिपादन होता है वह वेदों के अध्यापक एवं उनके शिष्य परम्परा में सम्भव ही

1- अपि च अस्मत्पदं लोकवद्वेदेऽपि प्रयुज्यते, तस्य च लोके नाचेतनेऽन्यतमदर्थः तत्र सर्वथैवाप्रयोगात्। नाप्यात्ममात्रमर्थः, परात्मन्यपि प्रयोगप्रसङ्गात्। अपि तु यस्तं स्वातन्त्र्येणोच्चारयति, तमेवाह तथैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसायात्। ततो लोकव्युत्पत्तिमनतिक्रम्य वेदेऽप्यनेन स्वप्रयोक्तैव वक्तव्यः, अन्यथाऽप्रयोगप्रसङ्गात्। न च यो यदोच्चारयति वैदिकमहं शब्दं स एव तदा तस्यार्थ इति युक्तम्। तथा सति मामुपासीतेत्यादौ स एवोपास्यः स्यात्।

न्या०कु०प०524

नहीं है क्योंकि ऐसा न मानने पर यह 'अस्मद्' शब्दार्थ उपासना को उन्मत्त की क्रीड़ा में परिणत कर देगा एवं लोकव्यवहार का भी उच्छेद कर देगा। अतएव 'अस्मद्' शब्द का अर्थ अनुवक्तापरक न हो सकने से लोक में जिस प्रकार स्वतन्त्रोच्चारयिता परक होता है उसी प्रकार वेदस्थ 'अस्मद्' शब्द के प्रसंग में भी जानना चाहिए। अतः वही वेदस्थ "अस्मद्" शब्दोच्चारणकर्ता पुरुष ही परमेश्वर है।[1]

इसी प्रकार से हरिदास भट्टाचार्य ने भी कहा है कि "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादि में 'अहं' पद स्वतन्त्र उच्चारयिता का बोधक है, क्योंकि लौकिक स्थल में भी सतात्पर्यक शब्द का ही प्रामाण्य होता है।[2] उनका कहना है कि "जिस प्रकार के लौकिक शब्द हैं उसी प्रकार के वैदिक शब्द है" इस न्याय से लौकिक "अहम्" पद के समान अलौकिक "अहम्" पद भी स्वतन्त्रोच्चारयिता के ही बोधक हैं।[3]

1- अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इत्युपाध्यायादिरध्ययनपरम्परयैवात्मन्यैश्वर्यं समधिगच्छेत्। तथा च उपासनां प्रत्युन्मत्तकेलिः स्यात्। लोकव्यवहारस्योच्छिद्येत्। तस्मान्नानुवक्ताऽस्य वाच्योऽपि तु वक्तैवेति स्थिते प्रयुज्यते- वेदे अस्मच्छब्दः स्वप्रयोक्तृवचनः अस्मच्छब्दत्वाल्लोकवदिति।
न्या०कु० पृ० 524

2- "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादावहं पदं स्वतन्त्रोच्चारयितृपरं लोकस्थले सतात्पर्यक-शब्दस्यैव प्रमाणत्वात्। विवृति पृ० 184

3- "य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः" इति लौकिकाहमादिपदवदलौकिकेऽपीयमेव व्यवस्था। विवृति पृ० 184

नारायणतीर्थ का कहना है कि "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इस वाक्य में घटकीभूत "अहम्" पद के परिग्रह से एवं "ईश्वरादि पद किसी अर्थ का बोधक है प्रामाणिक पद होने से" इस अनुमान के द्वारा एवं अन्यों के बाध से ईश्वर की सिद्धि होती है।[1] अतः वेदगत "अहम्" पद से भी ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है।

उदयनाचार्य का कहना है कि इसी प्रकार से वेदस्थ "यः" "कः" "सः" इत्यादि शब्दों से भी ईश्वर की सिद्धि जाननी चाहिए।[2]

इसी प्रकार वेदवाक्यों में "किम्" शब्द का भी प्रयोग प्रचुर रूप में प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है शब्दोच्चारयिता पुरुष में रहने वाले जिज्ञासा का प्रकाशन। लोक में अपनी जिज्ञासा को व्यक्त करने के लिए ही "किम्" शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः वेदस्थ "किम्" शब्द का प्रयोग भी उसके आद्योच्चारयिता पुरुष की जिज्ञासा को ही ज्ञापित करता है। अतः वेदस्थ "किम्" शब्द से अभिप्रेत उस जिज्ञासा का आश्रय कोई पुरुष अवश्य है और वही पुरुष परमेश्वर है। इसी प्रकार से "तद्" शब्द के द्वारा एवं अन्यान्य विमर्शादि ज्ञापक तथा धिक्, अहो, बत, हन्त प्रभृति निपातों के आश्रयरूप में भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।[3]

1- "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" इतिवाक्यघटकीभूताहंपदादिपरिग्रहः तथा च "ईश्वरादिपदं शक्त्या किञ्चिदर्थबोधकं साधुपदत्वाद्" इत्याद्यनुमानाद् इतरबाधेनेश्वरसिद्धिरिति------लोकेति लोकवेदयोः सामग्रीभेदकल्पने प्रमाणाभावाद् इतिभावः। कु0का0 व्या0पृ0 77

2- एवमन्येऽपि यः कः स इत्यादिशब्दा द्रष्टव्याः। न्या0कु0पृ0 525

3- एतेन धिगहो बत हन्तेत्यादयो निपाता व्याख्याताः।

न्या0कु0पृ0 525

5- **प्रत्ययहेतुक ईश्वरानुमान**

अगला ईश्वर साधक हेतु "प्रत्यय" है । अर्थात् प्रत्यय हेतु के आधार पर भी ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है । उदयनाचार्य के अनुसार "प्रत्यय" शब्द का अभिप्राय विश्वास के विषय प्रामाण्य से है ।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने भी "प्रत्ययत:" का अर्थ प्रामाण्य ही स्वीकार किया है ।[2] उदयनाचार्य ने प्रत्यय को हेतु मानकर ईश्वरसाधक अनुमान इस प्रकार से प्रस्तुत किया है ; कि यह आगम सम्प्रदाय कारणगुणपूर्वक है प्रमाण होने से प्रत्यक्षादि के समान । परन्तु प्रामाण्य की प्रतीति के बिना किसी पर विश्वास नही होता, और न तो असिद्ध के प्रामाण्य की ही प्रतीति होती है, एवं प्रामाण्य का स्वत: ग्रहण भी नहीं होता । महाजनों के द्वारा परिग्रह होने से आगम को अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता, और न तो धर्माधर्म की व्याख्या में असर्वज्ञ का स्वातन्त्र्य ही सम्भव है ।[3] अत: वेदों के प्रामाण्य

1- प्रत्ययशब्देनात्र समाश्वासविषयप्रामाण्यमुच्यते । न्या0कु0पृ0509

2- प्रत्ययत: प्रामाण्यात् । विवृति पृ0 17।

3- आगमसम्प्रदायोऽयं कारणगुणपूर्वक: प्रमाणत्वात्, प्रत्यक्षादिवत् । न हि प्रामाण्यप्रत्ययं विना क्वचित् समाश्वास: । न चाऽसिद्धस्य प्रामाण्यस्य प्रतीति: । न च स्वत: प्रामाण्यमित्यावेदितम् । न च नेदं प्रमाणं, महाजनपरिग्रहादित्युक्तं न चासर्वज्ञो धर्माधर्मयो: स्वातन्त्र्येण प्रभवति । न चासर्वज्ञस्य गुणवत्तेति निःशङ्कमेतत् । न्या0कु0पृ0509

होने से उसके कारणगुणपूर्वक होने से तदाश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। हरिदास भट्टाचार्य ने प्रत्यय हेतु के आधार पर उपर्युक्त प्रकार से ही अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि वेदजन्यज्ञान कारणगुणजन्य है प्रमा होने से प्रत्यक्षादि प्रमाओं के समान।[1] नारायणतीर्थ ने भी ईश्वर के अनुमान में प्रत्यय हेतु को किसी प्रकार के उपाधि से रहित बताया है।[2] अतः प्रत्यय हेतु के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

प्रत्ययहेतुक अनुमानान्तर द्वारा ईश्वरसिद्धि

प्रत्यय शब्द का दूसरा अर्थ लेकर भी ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। "प्रत्यय" का दूसरा अर्थ "विधिप्रत्यय" से है।[3] इस प्रत्यय का अर्थ "विधि प्रत्यय" अर्थात् "लिङ्‌प्रत्यय" को स्वीकार करके "विश्वास" से भिन्न अर्थ में ईश्वर की सिद्धि की गई है। नैयायिकों का मत है कि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वेद-वाक्यों में प्रयुक्त विधि प्रत्यय के द्वारा जिस आप्त के अभिप्राय का बोध होता है वह आप्त पुरुष ही परमेश्वर है। उदयनाचार्य का कहना है कि लिङ्‌ादिप्रत्यय पुरुषबुद्धि के नियोग के ही अर्थ अर्थात् वाचक हैं अतः वे भी ईश्वर के प्रतिपादक हैं।[4]

1- वेदजन्यज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत्। विवृति पृ0 17।

2- "प्रत्ययतश्च" तथाविधविच्छेदविशिष्टप्रमाया अपि कार्यत्वादेव प्रमात्व-लिङ्‌गकानुमाने हेतोर्निरुपाधित्वमिति भावः। कु0का0व्या0पृ0 76

3- प्रत्ययतः विधिप्रत्ययात्। विवृति पृ0 184

4- लिङ्‌ादिप्रत्यया हि पुरुषधौरेय नियोगार्था भवन्तस्तं प्रतिपादयन्ति। न्या0कु0पृ0 525

प्रकाशकार का कहना है कि लोक में लिङ्‌ादि की शक्ति आप्त की इच्छा से ही गृहीत होने से वेद में भी वैसा ही होगा। परन्तु वेदार्थ में अस्मदादि की इच्छा सम्भव न होने से उसके आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।[1] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि आप्त का अभिप्राय ही विध्यर्थ है। अतः वैदिक विध्यर्थ का अभिप्राय जिस आप्त का है वह आप्त ही ईश्वर है।[2] नारायण तीर्थ ने कहा है कि "यागादि इष्टसाधनत्वादि से युक्त है आप्ताभिप्राय के विषय होने से" इस अनुमान से इष्टसाधनत्वादि के ज्ञापक आप्ताभिप्राय, अर्थात् वेदगत जिसका अभिप्राय है वेही इष्टसाधनत्व के ज्ञापक हैं तथा उनकी इच्छा ही विध्यर्थ है। अतः वैदिक विधि में आप्त सर्वज्ञ ईश्वर ही है।[3]

1- लोके लिङ्‌ादीनामाप्तेच्छायां शक्तिग्रहाद्वेदेऽपि स एवार्थः। न च वेदार्थे अस्मदादीनामिच्छा सम्भवतीति तदाश्रयेश्वरसिद्धिरिति।

प्रकाश पृ० 525

2- आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः। यस्याभिप्रायः स एवेश्वरः।

विवृति पृ० 184

3- "यागादिः इष्टसाधनत्वादिमान्, आप्ताभिप्रायविषयत्वाद्" इत्यनुमानेनेष्टसाधनत्वादिज्ञापक आप्ताभिप्राय एव तदिच्छापरपर्यायो विध्यर्थ इत्यर्थः। वैदिकविधौ चाप्तः सर्वज्ञो भगवानेव परिशेषादिति भावः।

कुसु०कारि० व्या०पृ०77

उदयनाचार्य का कहना है कि पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते कि वेद के वक्ता अध्यापकादि के अभिप्राय से ही वैदिक लिङ् प्रत्यय के अर्थ का निर्वाह हो सकता है, क्योंकि अध्यापकादि वेद के वक्ता नहीं अपितु अनुवक्ता है । वे अध्यापकादि स्वतन्त्र वक्ता स्वरूप आप्त के अभिप्राय से ही प्रवृत्त होते हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अभिप्राय नहीं होता । जिस प्रकार शुक सारिकादि जिन शब्दों का उच्चारण करती हैं, उन शब्दों में उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता । यदि अनुवक्ता में भी स्वतन्त्र अभिप्राय की कल्पना की जाय तो राजसचिवादि के द्वारा जिन राजाज्ञाओं का उद्घोष किया जाता है,उन शब्दों के अभिप्राय को भी राजसचिवादि का स्वतन्त्र अभिप्राय मानना होगा, किन्तु वह उचित नहीं है । कारण कि उन आज्ञाओं को लोग राजा की ही आज्ञा मानते हैं,राजसचिवादि की नहीं ।[1] अस्तु वैदिक विधिप्रत्यय के अर्थ में विशेषणीभूत आप्त पुरुष परमेश्वर ही है ।

6- वाक्यहेतुक ईश्वरानुमान

वाक्य हेतुक अनुमान के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि होती है । यहाँ पर "वाक्य" का तात्पर्य वैदिक वाक्यों से है । उदयनाचार्य ने ईश्वर के साधन में वाक्यहेतुक अनुमानवाक्य इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि वेदवाक्य पौरुषेय हैं वाक्य होने से, अस्मदादि वाक्यों के समान ।[2] हरिदास भट्टाचार्य ने

1- न, तेषामनुवक्तृतयाऽध्यासाभिप्रायमात्रेण प्रवृत्तेः शुकादिवत् तथाविधाभिप्राया-भावात् ।भावे वा न राजशासनानुवादिनोऽभिप्राय आज्ञा,किं नाम राज्ञ एवेति लौकिकोऽनुभवः । न्या0कु0प्0568

2- वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत् । न्या0कु0प्05।।

वाक्य हेतु के आधार पर ईश्वरसाधक अनुमान वाक्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वेद पौरूषेय हैं वाक्य होने से महाभारत आदि के समान ।[1] इन्होंने इस विषय में एक दूसरा अनुमानवाक्य भी प्रस्तुत किया है जिसका स्वरूप वही है जो स्वरूप उदयनाचार्य के द्वारा प्रस्तुत अनुमानवाक्य का है ।[2]

अतः इन अनुमान वाक्यों से वेदों का पौरूषेयत्व सिद्ध होता है । परन्तु अस्मदादि में वेदकर्तृत्व संभव नहीं है जिससे उसके निर्माता पुरुष के रूप में सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त ईश्वर की कल्पना की जाती है ।

परन्तु नैयायिकों ने पूर्वपक्षियों की ओर से इस वाक्यहेतुक अनुमानवाक्य में दोष दिखाकर फिर उस दोष का स्वाभिमत सिद्धान्त से परिहार किया है । उदयनाचार्य का कहना है कि प्रमाणान्तर से अगोचर होने के कारण इस वाक्यत्व हेतु में सत्प्रतिपक्षता है अतः वाक्य के आधार पर वेदों के पौरूषेय का अनुमान नहीं हो सकता ।[3] प्रकाशकार ने पूर्वपक्ष की उत्थापना करते हुए कहा है कि वेद पौरूषेय नहीं है प्रमाणान्तर से अगोचर होने के कारण, मन्वादि वाक्यों के समान[4] । अतः वाक्यत्व हेतु वेद में पौरूषेयत्व का साधक नहीं हो सकता । उनका तात्पर्य

1- वेदः पौरूषेयो वाक्यत्वात् भारतादिवत् । विवृति पृ० 172

2- वेदवाक्यानि पौरूषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत् । विवृति पृ० 172

3- प्रमाणान्तरागोचरार्थत्वात् सत्प्रतिपक्षत्वामिति । न्या०कु०पृ० 512

4- वेदा न पौरूषेयाः प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा मन्वादि वाक्यमिति । प्रकाश पृ० 512

यह है कि कोई भी वाक्य केवल वाक्य होने से ही पौरुषेय नहीं होता है बल्कि वही वाक्य पौरुषेय होता है जिस वाक्यार्थ का प्रमाज्ञान शब्दातिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से भी हो सकता है । अतः पौरुषेय का प्रयोजक है प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व। अतः वाक्यत्व पौरुषेयत्व का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वाक्यत्व के साथ पौरुषेयत्व का व्याप्ति सम्बन्ध न होकर औपाधिक सम्बन्ध है । प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व ही प्रकृति में वह उपाधि है क्योंकि पौरुषेयत्वरूप साध्य के अस्मदादिके सभी वाक्यों में रहने के साथ ही उनके इन्द्रियादि अन्य प्रमाणों से ज्ञात होने के कारण उनमें प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व भी है । अतः प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व वाक्यत्वरूप साध्य का व्यापक है । वाक्यत्वरूप हेतु के वेदवाक्यों में रहने पर भी वहाँ प्रमाणान्तर गोचरार्थत्व नहीं है, क्योंकि वेदप्रतिपादक ज्योतिष्टोमादि अर्थों का ज्ञान प्रमाणान्तर से संभव नहीं है । अतः वहाँ पर प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व स्वरूप उपाधि वाक्यत्व हेतु का अव्यापक भी है । अतः उपाधि से युक्त हेतु से वेदों में पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । उदयनाचार्य का भी कहना है कि ईश्वरसिद्धि में वाक्यत्व प्रमाण नहीं है क्योंकि वह अप्रयोजक है । कारण कि प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व ही पौरुषेयत्व का प्रयोजक है, वाक्यत्व नहीं ।[1] परन्तु उदयनाचार्य इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए कहते हैं कि बौद्धादि के वाक्य यद्यपि पौरुषेय हैं किन्तु उनके चैत्यवन्दनादि

1- तथापि वाक्यत्वं न प्रमाणम् । अप्रयोजकत्वात् । प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वप्रयुक्तं तत्र पौरुषेयत्वं, न तु वाक्यत्वप्रयुक्तम् ।

न्या०कु०प०5।3

बोधक वाक्यार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं हो सकते । अतः बौद्धादि वाक्यों में पौरुषेयत्वरूप साध्य के रहने पर भी प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व नहीं है । अतः साध्य का व्यापक न होने से प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व उपाधि नहीं हो सकता।[1] अतः वेदों के पौरुषेय होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । इसलिए वेदों के पौरुषेय सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि भी सुकर है ।

वाक्यहेतुक अनुमानान्तर द्वारा ईश्वरसिद्धि

वाक्यत्वहेतु के द्वारा दूसरे प्रकार से भी ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है । इस पक्ष में "वाक्यत्व" का अभिप्राय विशेष प्रकार के संसर्ग का बोध होना है ।[2] उदयनाचार्य ने इस वाक्यत्व हेतु के आधार पर ईश्वरसाधक अनुमान वाक्य का इस प्रकार से प्रयोग किया है कि जो पद समूहरूप वाक्य जिस विशेष प्रकार के संसर्ग का प्रतिपादक है,उस वाक्य की उत्पत्ति अवश्य ही स्वानपेक्ष उक्त संसर्गविषयक प्रमाज्ञान से होती है । साथ ही जिस प्रकार के लौकिक वाक्य हैं वैसे ही वैदिक वाक्य भी है । अतः वेद स्वरूप वाक्य से जिस विशेष प्रकार के संसर्ग का बोध होगा,किसी दूसरे प्रमाण से उस संसर्ग का ज्ञान अवश्य ही पहले

1- न बुद्धाऽऽद्यागमानामपौरुषेयत्वप्रसङ्गात् ।

न्या०कु० पृ० 513

2- संसर्गभिद्प्रतिपादकत्वं ह्यत्र वाक्यत्वमभिप्रेतम् ।

न्या०कु०पृ०57।

उत्पन्न रहा होगा । अतएव इस ज्ञान के आश्रय ही परमेश्वर हैं ।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है कि वैदिक प्रशंसा तथा निन्दा परक अर्थवादादि वाक्य प्रशंसा निन्दा के ज्ञानपूर्वक बोले जाते हैं, क्योंकि वे प्रशंसा निन्दा परक वाक्य हैं । आम का फल पकने पर मीठा होता है इत्यादि वाक्य के समान ।[2] इसी प्रकार का वाक्यत्व हेतुक अनुमानवाक्य नारायण तीर्थ ने भी प्रस्तुत किया है।[3] अतः इन वैदिक वाक्यों के ज्ञान के आश्रय रूप में ईश्वर सिद्ध होता है ।

1- यत्पदकदम्बकं यत्संसर्गभेदप्रतिपादकं तत् तदनपेक्षसंसर्गज्ञान पूर्वकं, यथा लौकिकं, तथा च वैदिकमिति प्रयोगः ।

न्या०कुसु०पृ० 57।

2- वैदिक-प्रशंसा-निन्दा-वाक्यानि प्रशंसानिन्दा ज्ञानपूर्वकाणि प्रशंसानिन्दावाद-वाक्यत्वात् 'परिणतिसुरसमाम्रफलम्' इत्यादिवत् ।

विवृति पृ० 210

3- वैदिकप्रशंसानिन्दावाक्यानि प्रशंसानिन्दाज्ञानपूर्वकाणि प्रशंसानिन्दावाक्यत्वात् परिणतिसरसम् आम्रफलं न पनसफलम् इत्यादि वाक्यवद् इति ।

कुसु०कारि० व्या०पृ०85

7- संख्याविशेष लिङ्गक ईश्वरानुमान

उदयनाचार्य ने ईश्वरसत्ता के साधन में 'संख्या' को भी हेतु रूप में प्रस्तुत किया है । उनका मन्तव्य है कि संख्याविशेष हेतु के द्वारा भी ईश्वरानुमान किया जा सकता है ।

यद्यपि न्याय-वैशेषिकों का यह एक साधारण मन्तव्य है कि कारण के महत्त्वादि गुण ही कार्य के महत्त्वादि गुण के आरम्भक होते हैं । कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते । क्योंकि दो कपालों में रहने वाले महत्परिमाण से ही घटगत महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है । परन्तु उनकी यह भी मान्यता है कि कुछ स्थलों में महत्परिमाण का कारण कारणगत संख्याएँ भी होती है । जैसे कि आधे आधे सेर के कपालद्वय से निर्मित घट के परिमाण से आधे आधे सेर के कपालत्रय से निर्मित घट का परिमाण बड़ा होता है । अतः इन दोनों घटों के परिमाणों के वैलक्षण्य का प्रयोजक अवयवगत परिमाणों को न मानकर तद्गत संख्या को ही माना जायेगा ।

परन्तु अणुपरिमाणस्थल में तो परिमाण का प्रयोजक संख्या को ही माना जायेगा क्योंकि अणु परिमाण किसी भी परिमाण की उत्पत्ति का प्रयोजक इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो परिमाण का स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणारम्भकत्व का नियम बाधित हो जायेगा । अतः द्व्यणुक एवं त्रसरेणु के परिमाण का उत्पादक कारण परमाणुओं के परिमाण एवं द्व्यणुकों के परिमाण नहीं हैं अपितु द्व्यणुक के परिमाण का उत्पादक परमाणुगत

द्वित्वसंख्या एवं त्रसरेणु के परिमाण का प्रयोजक द्व्यणुकों की त्रित्व संख्या ही है ।

यद्यपि नित्य द्रव्यों में रहने वाली एकत्व संख्या तो नित्य होती है। जैसे कि परमाणुगत एकत्व संख्या । परन्तु कार्यद्रव्यगत एकत्व संख्या जैसे द्व्यणुकगत एकत्व संख्या एवं नित्यानित्य सभी द्रव्यों में रहने वाली द्वित्वादि संख्याएं अनित्य ही होती हैं । जैसे कि दो नित्य परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या अथवा अनित्य दो घटादि द्रव्यों में रहने वाली द्वित्व संख्या । ~~क्योंकि~~ ऐसी संख्याएं अपनी उत्पत्ति के लिए पुरुषबुद्धि की अपेक्षा रखती हैं, क्योंकि व्यवहारकर्ता पुरुष को पहिले "अयमेकः" "अयमेकः" इत्याकारक प्रतीति होती है, तदुपरान्त इन अपेक्षा बुद्धियों से ही द्वित्वादि संख्याओं की उत्पत्ति होती है । द्वित्वादि संख्याओं की उत्पादिका इस बुद्धि का ही नाम अपेक्षाबुद्धि है ।

अतः सर्गादिकालिक परमाणुगत द्वित्वादि संख्याएं भी अपनी उत्पत्ति के लिए पुरुषबुद्धि की अपेक्षा रखेंगी क्योंकि वे भी द्वित्वादि संख्याएं हैं । इस पर अनुमानवाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है "सर्गादिकालीन परमाणुगतद्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या द्वित्वात् ।" इसलिए यह सिद्ध होता है कि द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि के परिमाण के कारण तद्गत द्वित्वादि संख्याएं है एवं इन द्वित्वादि संख्याओं की कारणता पुरुषगत अपेक्षा बुद्धि में है । अतः इन अपेक्षाबुद्धियों का आश्रय कोई पुरुष अवश्य है क्योंकि बुद्धि आदि के गुण होने से वे निराश्रित नहीं रह सकती । परन्तु परमाणुगत अथवा द्व्यणुकगत द्वित्वादि संख्याओं की उत्पादक अपेक्षा बुद्धि का आश्रय हम जैसे शरीरियों के अल्पज्ञ होने के कारण संभव नहीं है । फिर सर्गादिकाल में हम शरीरियों की सत्ता भी ~~ही~~ नहीं है अतः शरीराभाव में जीव को इन

अपेक्षाबुद्धियों का आश्रय नहीं स्वीकार किया जा सकता । अतः सर्गादि में उत्पन्न होने वाले द्व्यणुकों एवं त्रसरेणुओं के परिमाणों के कारणीभूत कथित द्वित्व संख्या एवं त्रित्व संख्या की संपादिका अपेक्षाबुद्धि के समवायीकारण अर्थात् आश्रयीभूत परमेश्वर का अनुमान होता है । उदयनाचार्य का कहना है कि द्वित्व संख्या के एकत्व संख्या से भिन्न होने के कारण इसकी उत्पत्ति के लिए अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता अवश्य होगी, क्योंकि वह अनेकसंख्यक है । साथ ही परमाणुगत ऐसी अपेक्षाबुद्धि अस्मदादिकों में सम्भव नहीं है । अतः अपेक्षाबुद्धि जिसमें सम्भव है वही सर्वज्ञ परमेश्वर है ।[1] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि द्व्यणुक का परिमाण संख्या जन्य है, परिमाण और प्रचय से अजन्य होने पर भी जन्य परिमाण वाला होने से । बराबर परिमाण के दो कपालों से बने घट के परिमाण से उससे प्रकृष्ट उस प्रकार के कपालत्रय से बने घट के परिमाण के समान ।[2] उनका कहना है कि सर्गादि में द्व्यणुक के परिमाण का हेतुभूत परमाणुद्वय में रहने वाली द्वित्व संख्या अस्मदादि की अपेक्षाबुद्धि से जन्य नहीं है, इसलिए उस समय की अपेक्षाबुद्धि ईश्वर की माननी होगी ।[3]

1- अतोऽनेकसंख्या परिशिष्यते । सा अपेक्षाबुद्धिजन्या, अनेकसंख्यात्वात् । न चास्मदादीनामपेक्षाबुद्धिः परमाणुषु सम्भवति । तद् यस्यासौ सर्वज्ञः ।
न्या०कुसु० पृ० 518

2- द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् । तुल्यपरिमाणकपालद्वयारब्धघटपरिमाणात् प्रकृष्टतादृक्कपालत्रयारब्धघटपरिमाणवत् । विवृति पृ० 172

3- सर्गादौ द्व्यणुकपरिमाणहेतुपरमाणुनिष्ठद्वित्वसंख्या नास्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्या अतस्तदानीन्तनापेक्षाबुद्धिरीश्वरस्यैवेति । विवृति पृ० 174

टिप्पणीकार श्री अन्ना झा का कहना है कि द्व्यणुक परिमाण के जनक संख्या के कारणस्वरूप अपेक्षाबुद्धि के आश्रयरूप में ईश्वर की सिद्धि होती है ।[1] उदयनाचार्य का ने कहा है कि यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर पुरुषाभाव में अपेक्षाबुद्धि के भी अभाव होने से द्वित्वादि संख्याओं की भी अनुपपत्ति हो जायेगी जिससे द्व्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति भी अवरुद्ध हो जायेगी फलस्वरूप त्र्यणुक की अनुत्पत्ति और फिर विश्व की अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग उठने लगेगा ।[2] अतएव द्व्यणुक के परिमाण के उत्पादक संख्या के कारणीभूत अपेक्षाबुद्धि के आश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि को ठुकराया नहीं जा सकता ।

संख्याविशेषहेतुक दूसरे प्रकार से ईश्वरसिद्धि

नैयायिकों का कहना है कि संख्याविशेष के द्वारा दूसरे प्रकार से भी ईश्वर की सिद्धि होती है । उनका कहना है कि लौकिक वाक्य के अन्तर्गत "अस्मद्" इत्यादिउत्तमपुरुष द्वारा कथित संख्या नियमतः स्वतन्त्रोच्चारयिता पुरुष के साथ ही अन्वित होती है । अतएव वेद में भी ऐसा ही स्वीकार किया जाना चाहिए । चूंकि वेदों में भी "तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्" इत्यादि वाक्यान्तर्गत अहं,

---

1- द्व्यणुकपरिमाणजनकसंख्याजनकापेक्षाबुद्ध्याश्रयतया ईश्वरः सिद्ध्यतीति।
टिप्पणी पृ0 572

2- अन्यथा अपेक्षाबुद्धेरभावात् संख्याऽनुत्पत्तौ तद्गतपरिमाणानुत्पादेऽपरिमितस्य द्रव्यस्यानारम्भकत्वात् त्र्यणुकानुत्पत्तौ विश्वानुत्पत्तिप्रसङ्गः ।
न्या0कुसु0 पृ0 513

स्याम् अभुव, भविष्यामि इत्यादि उत्तम पुरुष के आख्यात से अभिहिता संख्या का अन्वय भी उसके स्वतन्त्रोच्चारयिता पुरुष से ही अन्वित होगी । उदयनाचार्य का कहना है कि उत्तमपुरुष से अभिहिता संख्या वक्ता से अन्वित होती है ऐसा सुप्रसिद्ध है । फिर वेद में भी उनके प्रयोग बहुतायत से हुए हैं । अतः उनसे अभिहित संख्या का भी अन्वय उसके वक्ता पुरुष में ही होगा । उनका कहना है कि यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायेगा अर्थात् उन उत्तम पुरुष में कथित संख्याओं का अन्वय स्वतन्त्रोच्चारयिता पुरुष के साथ नहीं माना जायेगा तो फिर उन संख्याओं का अन्वय कहाँ पर होगा ?[1] अतएव वेदगत अस्मद् इत्यादि संख्याओं के आश्रय स्वरूप ईश्वर की सिद्धि होती है । हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि 'तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि बहुत से वैदिक वाक्यों में प्रयुक्त उत्तम पुरुष से उनके उच्चारण करने वाले स्वतन्त्र पुरुषगत संख्या ही वाच्य है ।[2] ऐसी ही नारायणतीर्थ ने भी कहा है ।[3] अतः इस आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

1- तथा ह्युत्तमपुरुषाभिहिता सङ्ख्या वक्तारमन्वेतीति सुप्रसिद्धम् । अस्ति च तत्प्रयोगः प्रायशो वेदे । ततस्तदभिहितया तयाऽपि स एवानुगन्तव्यः अन्यथाऽनन्वयप्रसङ्गात् ।

न्या० कु० प० 572

2- वैदिकोत्तमपुरुषेण स्वतन्त्रोच्चारयितुः संख्या वाच्या 'तद् ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादिबहुषु उत्तमपुरुषश्रुतेः ।

विवृति पृ० 210

संख्याविशेष के द्वारा तीसरे प्रकार से ईश्वर सिद्धि

नैयायिकों का मन्तव्य है कि संख्याविशेष की तीसरी व्याख्या भी की जा सकती है । "सम्यक् ख्यायते कथ्यतेऽनया इति संख्या संज्ञा इत्यर्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार संख्या शब्द का अर्थ समाख्या रूप यौगिक संज्ञा है । उदयनाचार्य का कहना है समाख्याविशेष को ही संख्या विशेष कहते हैं ।[1] हरिदास भट्टाचार्य ने भी संख्या शब्द की तृतीय व्याख्या "समाख्या" कह कर की है ।[2] उदयनाचार्य का कहना है कि काठक, कालापक इत्यादि समाख्याविशेष वेदों के शाखाविशेष का स्मरण कराती हैं ।[3] उनका कहना है कि वे समाख्याएँ अर्थात् संज्ञाएँ प्रवचनमूलक नहीं हो सकतीं, क्योंकि उन-उन शाखाओं के प्रवाचक पुरुष अनन्त हैं ।[4] अतः ये समाख्याएँ उनके आद्य प्रवाचक से सम्बन्ध रखती हैं ।[5] अतएव सर्गादि में जब तक अतीन्द्रियार्थ से युक्त किसी पुरुष की कल्पना नहीं की जाती, तब तक उन नामों के उल्लेख की उपपत्ति नहीं की जा सकती । अतः वेदों में प्रयुक्त उक्त कठादि समाख्याओं का

1- समाख्याविशेषः सङ्ख्याविशेष उच्यते । न्या०कु० पृ० 572

2- सङ्ख्यापदार्थमन्यमाह समाख्या इति । विवृति पृ० 2।।

3- काठकं कालापकमित्यादयो हि समाख्याविशेषाः शाखाविशेषाणामनुस्मर्यन्ते ।
न्या०कु०पृ० 572

4- ते च न प्रवचनमात्रनिबन्धनाः प्रवक्तृणामनन्तत्वात् ।
न्या कु० पृ० 572

5- तस्मादाद्यप्रवक्तृवचननिमित्त एवायं समाख्याविशेषसम्बन्ध इत्येव साम्प्रतमिति ।
न्या०कु०पृ० 573

प्रथम प्रवक्ता परमेश्वर को छोड़कर और कोई नहीं हो सकता । अतः यह कहना सुलभ है कि अतीन्द्रियार्थदर्शी परमकारुणिक भगवान् ने काठकादि का उच्चारण किया है । अतः काठकादि समाख्याओं के नामों के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है । प्रकाशकार ने कहा है कि कठादि शरीरों को धारण करके सर्गादि में ईश्वर के द्वारा जिस शाखा का उपदेश किया गया वह शाखा इसी नाम से प्रसिद्ध हो गई ।[1] ऐसा ही टिप्पणीकार वर्द्धमान ने भी कहा है ।[2] हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि वेदों की सब शाखाओं की काठक,कालापक आदि विशेष संज्ञाएं श्रुतियों में सुनाई देती हैं । वे संज्ञाएं केवल इन शाखाओं के अध्येताओं के कारण उनके नाम पर नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनके अध्येता अनन्त हैं एवं उनके पूर्व भी अन्यों से उनका अध्ययन किया गया है । इसलिए अतीन्द्रिय अर्थों का साक्षात्कार करने वाले परम कारुणिक भगवान् ने ही सृष्टि के आदि में अस्मदादि के अदृष्टका उत्पन्न काठकादि शरीरविशेष को ग्रहण कर जिस शाखा का उपदेश किया है, वह शाखा उस नाम से प्रसिद्ध है ।[3] इसी प्रकार से नारायणतीर्थ ने भी कहा है ।[4]

1- कठादिशरीरमधिष्ठाय सर्गादावीश्वरेण या शाखा कृता सा तत्समाख्येति परिशेष इत्यर्थः । प्रकाश पृ0 573

2- एवं चातीन्द्रियार्थदर्शी परमकारुणिको भगवानेव अस्मदाद्यदृष्टाकृष्टकठकादि-शरीमधिष्ठाय यां यां शाखां प्रावोचत् तत्तच्छाखानां तन्नाम्ना व्यपदेश इति भावः । टिप्पणी पृ0572

3- सर्वासां शाखानां हि काठककालापकाद्याः समाख्याः संज्ञाविशेषाः श्रूयन्ते ते च नाध्ययनमात्रनिबन्धनाः । अध्येतृणामानन्त्यात्, आदावन्यैरपि तदध्ययनात् । तस्मादतीन्द्रियार्थदर्शी भगवानेव कारुणिकः सर्गादावस्मदाद्यदृष्ट(कृष्ट)काठकादिशरीरविशेषमधिष्ठाय यां शाखामुक्तवान् तस्याः शाखायास्तन्नाम्ना व्यपदेश इति । विवृति पृ02 ।।

4- नाध्ययननिबन्धनाः काठकादिसंज्ञाः अध्येतृणामानन्त्यात् । किन्तु स्वर्गादौ कठादिशरीरपरिग्रहेणेश्वरेण प्रोक्ता या शाखा सा काठकादिसंज्ञया व्यवह्रियत इत्ययमर्थं वाच्यम् । तथा च काठकादिसंज्ञाऽन्यथाऽनुपपत्तेरीश्वरसिद्धिरिति भावः । कुसु0कारि0व्या0पृ085

अतएव संख्याविशेष के आधार पर तृतीय प्रकार से भी ईश्वर की सिद्धि होती है ।

इस प्रकार से नैयायिकों ने पूर्वोक्त हेतुओं के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सुनिश्चित करते हैं । अतः पूर्वपक्षियों का यह कथन भी निराकृत हो जाता है जिसमें उन्होंने कहा था कि ईश्वर की सत्ता को स्थापित करने वाले प्रमाणों के अभाव में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इस प्रकार से नैयायिकों एवं वैशेषिक दो प्रकार से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में सक्षम होते हैं । पहला है - पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत ईश्वरबाधकत्व का निराकरण करके । द्वितीय अध्याय में पूर्वपक्षियों ने अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, एवं शब्दादि अन्य प्रमाणों को ईश्वरबाध के लिए प्रस्तुत किया था । उनका कहना था कि इन प्रमाणों के द्वारा ईश्वर का अभाव सिद्ध होता है । परन्तु नैयायिकों ने उन प्रमाणों में से कुछ के तो प्रमाणत्व पर ही आपत्ति करके यह सिद्ध किया है कि इन प्रमाणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से इनको ईश्वरबाध के लिए प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता । साथ ही उन्होंने प्रत्यक्षादि प्रमाण चतुष्टय को मुख्य प्रमाण मानते हुए यह सिद्ध किया था कि इन प्रमाणों के आधार पर ईश्वर का बाध नहीं होता अपितु इन प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि ही होती है ।

ईश्वर की सिद्धि में दूसरा प्रकार है-ईश्वरसत्ता के समर्थक हेतुओं को देकर । उदयनाचार्य ने ईश्वर के सत्ता के समर्थन में नौ हेतुओं को प्रस्तुत करके उनकी अनेक प्रकारक व्याख्या करके अनेक प्रकार से ईश्वर की सिद्धि की है । अन्यान्य नैयायिकों ने एवं अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी इन हेतुओं में से कई को स्वीका

करके ईश्वर की सत्ता का समर्थन किया है । इन हेतुओं की विस्तृत विवेचना मैंने तृतीय अध्याय से लेकर इस छठें अध्याय तक की है । अतः इन तमाम हेतुओं के आधार पर ईश्वर की सत्ता के सिद्ध हो जाने से पूर्वपक्षियों का ईश्वरखण्डनविषयक प्रयास निष्फल सिद्ध होता है ।

सप्तम अध्याय

ईश्वर का स्वरूप

§ सप्तम अध्याय §

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर की मीमांसा में उपन्यस्त पूर्व तर्कों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि अस्मदादि से विलक्षण कोई ईश्वर रूप चेतन पुरुष अवश्य है जो कि इस समस्त संसार को अपने बुद्धि, विवेक एवं कौशल के द्वारा नियन्त्रित करता हुआ उसे नियतरूप से संचालित करता है एवं जिसके प्रभाव के कारण यह प्रकृति कहीं पर भी अनियन्त्रित नहीं होती । उसी नियंत्रणकर्ता पुरुष के नियंत्रण में ही सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्वत, समुद्र एवं यहाँ तक कि समस्त चराचर प्रकृति गृह एवं ब्रह्माण्ड भी अपनी नियति का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं । बिना ईश्वर की कृपा के इन समस्त अचेतन पदार्थों में न तो गति उत्पन्न हो सकती है और न तो उनमें नियतता ही वर्तमान रह सकती है । चूँकि पृथिव्यादि ग्रहों की गति के ही कारण रात दिन, एवं जाड़ा, गर्मी, बरसात होते हैं अतः वह भी नहीं हो सकेगी । फिर बिना क्रिया के जगत् की उत्पत्ति ही बाधित रहेगी ।

परन्तु ईश्वर सत्ता के सिद्धि के अनन्तर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि ईश्वर की सत्ता है तो फिर उस ईश्वर का स्वरूप क्या होगा ? अतएव इस प्रश्न के समाधान के लिए न्याय-वैशेषिकानुयायी ईश्वर के स्वरूप को भी व्याख्यापित करते हैं । न्याय-वैशेषिकों के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

1- विशेष आत्मा ईश्वर है -

न्याय-वैशेषिकों ने द्रव्य पदार्थ के अन्तर्गत नौ द्रव्यों की गणना की है।[1] परन्तु वहाँ पर ईश्वर की गणना नहीं की गई है । तो यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यह ईश्वर नामक द्रव्य कहाँ से आ गया अर्थात् यदि ईश्वर को अलग एक द्रव्य के रूप में मान्यता दी जायेगी तो फिर द्रव्यों की संख्या नौ के स्थान पर दस मानी जायेगी ।

परन्तु न्याय-वैशेषिकों का मानना है कि ईश्वर नौ द्रव्यों से अतिरिक्त दसवाँ द्रव्य नहीं है अपितु द्रव्यों के गणना प्रसङ्ग में आठवें द्रव्य के रूप में जिस आत्मा की गणना की गई है उसी में ईश्वर का भी अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि ईश्वर भी आत्मा ही है । न्यायभाष्यकार ने ईश्वर का स्वरूप निश्चित करते हुए एवं उसको आत्मा द्रव्य के अन्तर्गत समाहित करते हुए कहा है कि विशिष्ट गुणों से युक्त एवं जीवात्मा से भिन्न आत्मा ही ईश्वर है ।[2] उनका कहना है कि यह आत्मजातीय होने से आत्मा की ही कोटि में आता है अन्य कोटि में नहीं ।[3] सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने भी कहा है कि वह आत्मत्व जाति ईश्वर में भी रहती है।[4]

उद्धरण --

1- क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।
   द्रव्याणि ----------------------------------॥ का० 3

2- गुणविशिष्टमात्मान्तरम् ईश्वरः । न्या०भा० 4/1/21

3- तस्यात्मकल्पात्कल्पान्तरानुपपत्तिः । वही 4/1/21

4- ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव । न्या०सि०मु० 48 पृ० 164

उनका मानना है कि द्वैत के रहते भी मोक्ष की दशा में आत्मा और ईश्वर के अभेद को बताने वाले जो श्रुति वाक्य हैं उन श्रुति वाक्यों का यही तात्पर्य है कि वह जीवात्मा भी दुःख रहित होने के कारण ईश्वर के सदृश है जैसे कि धन के अधिक होने पर लोग यह कहते हैं कि "यह पुरोहित राजा हो गया ।" इसीलिए दुःखरहित जीवात्मा ईश्वर के साथ परम समता को प्राप्त होता है ।[1] न्यायभाष्यकार का कहना है कि इस ईश्वर को आत्मसजातीय मानने के अतिरिक्त अन्य कोई कोटि सम्भव नहीं है क्योंकि इसके अनुमान में बुद्धिगुण के बिना कोई अन्य धर्म लिङ्गभूत उपपन्न नहीं किया जा सकता ।[2] उनका कहना है कि शास्त्र भी इसे प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञ, ईश्वर-इन विशेषणों से अभिहित करता है । बुद्धिगुण के बिना ये सब विशेषण सम्भव नहीं है । बुद्धि आदि आत्मगुणों के बिना कौन निरात्मक ईश्वर का जो कि प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणों से अतीत है-उपपादन कर सकता है ?[3] न्यायमञ्जरीकार ने भी ईश्वर को आत्मा द्रव्य के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है । उनका कहना है कि आत्मा के नवगुणों में से पाँच गुण ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म ईश्वर में भी हैं जब कि दुःख, द्वेष, अधर्म और संस्कार ये चार गुण

1- योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये "पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त" इतिवत् । अतएव "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रूयते । न्या० सि० मु० 44 पृ० 19।

2- न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति । न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्यं उपपादयितुम् । न्या० भा० 4/1/2।

3- आगमाच्च द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता, ईश्वर इति । बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम् । वही 4/1/2।

आत्म-विशेष ईश्वर में नहीं हैं। अतः ईश्वर आत्मा से अतिरिक्त द्रव्य नहीं है।[1]

न्याय-कन्दलीकार का कहना है कि ईश्वर भी बुद्धियुक्त होने के कारण आत्मा ही है। बुद्धि प्रभृति छः गुणों से युक्त भिन्न जातीय द्रव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मुक्त जीव में व्यभिचार होगा।[2]

कारिकावलीकार का मानना है कि बुद्धि आदि अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये छः गुण तथा संख्या आदि पाँच अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग तथा भावना नामक संस्कार अर्थात् धर्म और अधर्म ये 14 गुण आत्मा में रहते हैं जब कि संख्या आदि पाँच अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा बुद्धि, इच्छा और यत्न ये आठ गुण ईश्वर में रहते हैं।[3]

न्याय-कन्दलीकार ने अन्यों के मन्तव्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि कोई-कोई भगवान परमेश्वर में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन आठ गुणों की सत्ता स्वीकार करते हैं, जब कि कोई-कोई उनमें इच्छा और प्रयत्न को अस्वीकार करते हुए उन्हें केवल छः गुणों का ही आधार मानते हैं।[4]

1- तदेवं नवभ्य आत्मगुणेभ्यः पञ्च ज्ञानसुखेच्छाप्रयत्नधर्माः सन्तीश्वरे।
चत्वारस्तु दुःखद्वेषाधर्मसंस्कारा न सन्तीत्यात्मविशेष एवेश्वरो न द्रव्यान्तरम्।
न्या०म०भाग पृ०283

2- ईश्वरोऽपि बुद्धिगुणत्वादात्मैव, न तु षड्गुणाधिकरणाच्चतुर्दशगुणाधिकरणाद् गुणभेदेन भिद्यते, मुक्तात्मभिर्व्यभिचारात्। न्या०क०पृ०26

3- बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश। कारि०32-33

4- ~~संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे। वही034~~

4- ---अष्टगुणाधिकरणो भगवानीश्वर इति केचित्। अन्ये तु बुद्धिरेव तस्या व्याहता क्रियाशक्तिरित्येवं वदन्त इच्छा प्रयत्नावप्यनङ्गीकुर्वाणाः षड्गुणाधिकरणोऽय-मित्याहुः। न्या०क०पृ०142

न्यायभाष्यकार ने जीवात्मा और परमात्मा में भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमात्मा में अधर्म, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद नहीं होते तथा वह धर्म, ज्ञान एवं समाधिरूपी सम्पत्ति से युक्त होता है अतः जीवात्मा से भिन्न है ।[1] उनका कहना है कि ईश्वर में धर्मसमाधि के फलभूत अणिमादि आठों ऐश्वर्य रहते हैं, एवं वह स्वसंकल्पानुसार करने न करने में समर्थ होता है, वह प्रत्येक आत्मा में रहने वाले धर्म-अधर्म को तथा पृथिव्यादि भूतों को प्रवर्तित करता रहता है ।[2]

इस तरह से विवेचन करने पर यह सिद्ध होता है कि न्याय-वैशेषिकों के मत में ईश्वर भी आत्मा ही है परन्तु फिर भी आत्मा और ईश्वर में कुछ स्वरूपात्मक भेद है । आत्मा 14 गुणों का आश्रय है जब कि ईश्वर इन चौदह गुणों में से केवल आठ गुणों का ही आधार माना गया है । फिर भी आत्मा और ईश्वर दोनों में आत्मत्वजाति के होने से दोनों में साम्य भी है । न्याय-वैशेषिकों का यह भी कहना है कि आत्मा और ईश्वर में जो स्वरूपात्मक भेद है वह अपवर्ग की दशा में भी अमिट है क्योंकि उस दशा में जीवों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सात सामान्य गुण रहते हैं क्योंकि मुक्ति के समय बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावनाख्य संस्कार ये सात विशेष गुण

1- अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः

न्या० भा० 4/1/21

2- तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम् । संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः । प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति ।

वही 4/1/21

नष्ट हो जाते हैं । अतः मुक्त जीव और ईश्वर में इतना भेद अवश्य रहता है कि मुक्त जीव में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के अभाव के साथ-साथ परत्व और अपरत्व का सद्भाव रहता है, जबकि ईश्वर में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीन गुणों के रहते हुए भी परत्व और अपरत्व का अभाव रहता है । मुक्त जीव और ईश्वर में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गुण समान रूप से पाये जाते हैं ।

2- <u>ईश्वर एक है</u> -

न्याय-वैशेषिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि कर देने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कल्पना न्याय-वैशेषिकों के द्वारा की गई है वह एक है अथवा अनेक है ? पूर्वपक्षियों का कहना है कि यदि एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जायेगा तो फिर जगत में वैचित्र्य का उपपादन संभव नहीं है, क्योंकि एक कारण से ही अनेक प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

यदि न्याय-वैशेषिक ईश्वर की सत्ता दो या दो से अधिक स्वीकार करेंगे तो ईश्वर में ईश्वरत्व का बाध हो जायेगा, क्योंकि कहीं-न कहीं एक की स्वतन्त्रता दूसरे से अवश्य ही बाधित होगी ।

अतः ईश्वर की संख्या विषयक पूर्वपक्षियों की जिज्ञासा के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर एक ही है अनेक नहीं । उनका कहना है कि यदि अनेक ईश्वर की कल्पना की जायेगी तो ईश्वर में उपर्युक्त दोष अवश्य ही आ

जायेंगी । परन्तु यदि एक ही ईश्वर की सत्ता को माना जायेगा तो फिर उसके स्वातन्त्र्य एवं ऐश्वर्य पर किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं की जा सकती ।

न्याय-वैशेषिकों के मत में एक ही कर्तारूप ईश्वर की सत्ताके रहते हुए जीवों के अदृष्ट के साहाय्य से इस विचित्र संसार की उत्पत्ति संभव होती है। अतः पूर्वपक्षियों के द्वारा उपस्थापित संसार के अवैचित्र्यत्व की आपत्ति उचित नहीं है ।

ईश्वर की संख्या के विषय में न्यायकन्दलीकार श्री श्रीधराचार्य का मानना है कि ईश्वर एक है । उनका कहना है कि यदि ईश्वर अनेक मानें जायेंगे, एवं असर्वज्ञ मानें जायेंगे तो फिर वे हम लोगों की तरह सृष्टि कार्य में असमर्थ होंगे । यदि ईश्वर को अनेक मानकर सभी को सर्वज्ञ माना जायेगा तो फिर एक ही ईश्वर के सामर्थ्य से सृष्टि-कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी, एवं अन्य ईश्वरों के सामर्थ्य व्यर्थ हो जायेंगी ।[1] उनका मानना है कि एक ही प्रकार के प्राधान्य से युक्त अनेक स्वतन्त्र व्यक्तियों में सर्वदा एकमत भी नहीं रहता है ।[2] यदि एक ही ईश्वर के अभिप्राय से अन्य ईश्वरों की भी प्रवृत्ति मानें तो फिर वही ईश्वर पद का मुख्यार्थ होगा एवं तदतिरिक्त सर्वज्ञ ईश्वर न कहला सकेंगे ।[3] उनका मानना है कि अगर कार्यसम्पादन के अनुरोध से अन्य विषयों में मतभेद रहते हुए भी मठ की परिषद के

1- एक इति वदामः । बहूनामसर्वज्ञत्वेऽस्मदादिवदसामर्थ्यात्, सर्वज्ञत्वे त्वेकस्यैव सामर्थ्यादपरेषामनुपयोगात् । न्या०क०पृ०।4।

2- न च समप्रधानानां भूयसां सर्वदैकमत्ये हेतुरस्तीति । न्या०क०पृ० ।4।

3- कदाचिदनुत्पत्तिरपि कार्यस्य स्यात्, एकाभिप्रायानुरोधेन सर्वेषां प्रवृत्तावेकस्ये-श्वरत्वं नापरेषाम् । न्या०क०पृ०।4।

सभासदों की तरह सृष्टिरूप एक कार्य में सभी ईश्वरों का एक मत मानें तो फिर प्रत्येक ईश्वर में अनीश्वरता की आपत्ति होगी । अतः अन्य सभी कार्यों से विलक्षण कार्य द्वारा सिद्ध अन्य सभी कर्ताओं से विशिष्ट सृष्टिरूप कार्य का ईश्वररूप कर्ता एक ही है ।[1]

न्यायमञ्जरीकार भी प्रमाणोपन्यासपूर्वक एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि दो अथवा दो से अधिक ईश्वर को स्वीकार करने पर उनके अभिप्राय भिन्न होने से संसार के प्रति अनुग्रह में उपघात का प्रसंग होने से, एवं इच्छाविषयक विभिन्नता से उनमें से एक की ही इच्छा की पूर्ति होने से और अन्य सब की इच्छा के विघात होने से एक के अतिरिक्त सब का ऐश्वर्य बाधित हो जायेगा । अतएव एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए ।[2] उनका मानना है कि अनेकेश्वरवाद तो हृदयङ्गम ही नहीं होता क्योंकि यदि उन सबके संकल्प सदृश माने जाँय तो फिर बहुत सारे ईश्वर की संकल्पना ही क्यों की जाय ?[3] यदि

1- मठपरिषदामिव कार्यौत्पत्त्यनुरोधेन सर्वेषामविरोधे प्रत्येकमनीश्वरत्वम् । तदेवं कार्यविशेषेण सिद्धस्य कर्तृविशेषस्य सर्वज्ञत्वान्न कुत्रचिद् वस्तुनि विशेषानुपलम्भः ।
न्या0क0पृ014।-42

2-(क) अत एवैक ईश्वर दृश्यते न द्वौ बहवो वा, भिन्नाभिप्रायतया लोकानुग्रहोपघात- [वैशप्रसङ्गात् इच्छाविसंवादप्रसङ्गेन च ततः कस्यचित् संकल्पविघात-] द्वारकानैश्वर्यप्रसङ्गात्, इत्येक एवेश्वरः । न्या0म0भाग।पृ0285

(ख) जगत्सर्गे तावदेक एवेश्वर दृश्यते न द्वौ बहवो वा, भिन्नाशयकत्वने एकत्र वैश्वर्यादि, इतरत्र व्यवहारवैषम्यप्रसङ्गेन तत एकस्येश्वरत्वमिधानात् । वही पृ0336

3- अनेकेश्वरवादो हि नातीव हृदयङ्गमः ।

ते चेत सदृशसङ्कल्पाः कोऽर्थो बहुभिरीश्वरैः ।।

वही पृ0 336

यह माना जाय कि एक ही शुभ अथवा अशुभ संकल्प करता है अतः उसका संकल्प सिद्ध होता है तो फिर जो दूसरे ईश्वरहैं वे क्या करते हैं ?[1] यदि उन सबके भिन्न अभिप्राय माने जाँय तो फिर कार्यों के विप्रतिषेध से एक ईश्वर अवश्य ही अपने संकल्प से च्युत हो जायेगा फलतः वह अनीश्वरता को प्राप्त होगा ।[2] यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार सभी पार्षदों के संकल्पों के विषय में भी यही कहा जाता है कि यह राजा का संकल्प है तो ऐसा भी संभव नहीं है क्योंकि अन्यों के अर्थात् पार्षदों के संकल्पों का हनन होने से उनका मानना ही व्यर्थ है ।[3] अतः जगत् रूपी विचित्र कार्य के संपादन हेतु एक जगत् का स्रष्टा ईश्वर सिद्ध होता है ।[4]

जयन्तभट्ट का मानना है कि जगत्कर्ता के समान वही एक ईश्वर ही वेदों का भी प्रणेता है, क्योंकि नानात्व की कल्पना में प्रमाणाभाव है, एवं गौरवदोष भी है ।[5]

जयन्तभट्ट ने सभी वेदों को एककर्तृक सिद्ध करते हुए ईश्वर का एकत्व सिद्ध किया है । उनका कहना है कि सभी वेद एककर्तृक हैं क्योंकि सभी वेदों में परस्पर सम्बद्ध एक ही विषयवस्तु का उपदेश देखा जाता है ।[6] वे कहते हैं कि

1- संकल्पयति यदेकः शुभमशुभं वापि सत्यसङ्कल्पः ।
तत् सिद्ध्यति तदविभवादित्यपरस्तत्र किं कुर्यात् ।। वही पृ0 336

2- भिन्नाभिप्रायतायां नु कार्यविप्रतिषेधतः ।
नूनमेकः स्वसङ्कल्पविहत्यानीश्वरो भवेत् ।। वही पृ0 336

3- एकस्य किल सङ्कल्पो राजार्थं क्रियतामिति ।
हन्यतामिति चान्यस्य तो समाश्वासः कथम् ।। वही पृ0336

4- तेनाचित्रजगत्कार्यसंपादनानुसारतः ।
एक एवेश्वरः स्रष्टा जगतामिति साधितम् ।। वही पृ0 336

5- एवं जगत्सर्गवत् स एव वेदानामप्येकः प्रणेता भवितुमर्हति,
नानात्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च। वही पृ0336

6- अतश्चैककर्तृका वेदा यतः परस्पर व्यतिषक्तार्थोपदेशिनो दृश्यन्ते ।
वही पृ0336

एक ही विषयवस्तु का चारों वेदों में अलग-अलग उपदेश होने पर भी वे अड्.गत्व में एक ही अर्थस्वरूप विषय से अन्वित होते हैं जैसे कि होत्र कार्य का विधान ऋग्वेद से, आध्वर्य का विधान यजुर्वेद से, औदगात्र का विधान सामवेद से एवं ब्रह्मत्व का विधान अथर्ववेद से किया गया है। इसलिए पिप्पलादि शाखाभेद से उपदिष्ट सभी शाखाओं सहित चारों वेदों में एक ही अभिप्राय परिलक्षित होता है।[1] अतः इससे सभी वेदों के एककर्तृकत्व की सिद्धि होती है।[2] उनका मानना है कि जिस प्रकार पेड़ की अनेक शाखाएँ होती हैं परन्तु उनमें पुष्प, फल एवं पत्र एक ही शाखा में साथ-साथ नहीं सन्निहित होती है अपितु किसी में पुष्प तो किसी में फल एवं किसी में पत्र उपलब्ध होते हैं। फिर भी पेड़ में एकत्व की उपलब्धि होती है उसी प्रकार वेदवृक्ष में भी पृथक्-पृथक् कर्मों का उपदेश करने वाली शाखाओं में भेद होने पर भी वे सब एक ही वेदवृक्ष से सम्बन्ध रखती हैं।[3] जिस प्रकार सभी शाखाओं सहित वृक्ष की उत्पत्ति एक ही बीज से होती है उसी प्रकार सभी शाखाओं सहित सभी वेदों की उत्पत्ति एक ही पुरुषोत्तम ईश्वर के द्वारा हुई है।[4]

1- एकमेव हि कर्म वेदचतुष्टयोपदिष्टैः पृथग्भूतैरप्येकार्थसमवायिभिरङ्गैरन्वितं प्रयुज्यते। तत्र हि हौत्रमृग्वेदेन यजुर्वेदेनाध्वर्यवम्, औदगात्रं सामवेदेन, ब्रह्मत्वमथर्ववेदेन क्रियते। पैप्पलादादिशाखाभेदोपदिष्टञ्च तत्तदङ्गजातं तत्र तत्रापेक्ष्यते। तत्र सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेत्याहुः। वही पृ0336-37

2- तस्मादेक एव कर्ता सर्वशाखानाम्। वही पृ0337

3- अपि च यथा तरोर्विक्षिप्ताः शाखा भवन्ति न च कृत्स्नं पुष्पफलपत्रमेकस्यां शाखायां सन्निहितं भवति किन्तु कस्याञ्चित् कस्याञ्चित् एवं वेदस्यापि शाखाः पृथगङ्गकर्मोपदेशिन्यो विक्षिप्ताश्च। वही पृ0337-38

4- तासाञ्च वृक्षशाखानामेकस्माज्जन्म बीजतः।
तथैव सर्वशाखानामेकस्मात् पुरुषोत्तमात्॥ वही पृ0 338

3- ईश्वर अशरीरी है -

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की कल्पना अशरीरी रूप में की गई है । शायद ऐसा इसलिए है कि ईश्वर में शरीर का अभाव प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । फिर जिन हेतुओं के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की गई है उनके लिए न्याय-वैशेषिकानुयायी ईश्वर में शरीर को आवश्यक नहीं मानते क्योंकि उनकी इष्टसिद्धि बिना शरीर के ही सम्भव हो जाती है । उनका मत है कि यदि ईश्वर में शरीरत्व की कल्पना की जायेगी तो फिर उसमें इन्द्रियों की कल्पना करना आवश्यक हो जायेगा एवं उसमें भोक्तृत्व की भी कल्पना करना जरूरी होगा । नैयायिकों का मानना है कि शरीर की आवश्यकता तीन तरह से ही होती है-कार्यजनन हेतु साक्षात्प्रयत्न के अधिष्ठातृत्व के लिये, इन्द्रियाश्रय के निमित्त एवं भोगायतन के रूप में । परन्तु ईश्वर में इन तीनों में से किसी के लिए भी शरीर की आवश्यकता नहीं होती । अतः यदि ईश्वर को शरीरी माना जायेगा तो फिर उसमें रागद्वेषादि भावविकारों की भी कल्पना करनी पड़ेगी तथा साथ-साथ ईश्वर अनित्य सिद्ध होने लगेगा क्योंकि शरीरत्व और अनित्यत्व में व्याप्ति सम्बन्ध है । अतः ईश्वर को शरीरी मानने पर उसे जन्य एवं मरणधर्मा स्वीकार करना पड़ेगा । अतः नैयायिक ईश्वर में शरीरत्व को स्वीकार नहीं करते ।

ईश्वर को शरीरी स्वीकार करने पर एक यह भी आपत्ति होगी कि जगदुत्पत्ति के पूर्व वह शरीरी ईश्वर कहाँ रहेगा क्योंकि उस समय जगत् की सत्ता ही नहीं रहती । फिर दूसरी बात यह भी है कि कार्यमात्र का अभाव ही तो प्रलय है । परन्तु उस समय यदि ईश्वर को शरीरी मानेंगे तो शरीर के कार्यत्व होने से

प्रलय को प्रलय ही नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि उस समय ईश्वर के शरीररूप कार्य की सत्ता मौजूद रहेगी । यदि उस प्रलयावस्था में ईश्वर के शरीर की भी सत्ता नहीं स्वीकार करेंगे तो फिर ईश्वर ही अनित्य हो जायेगा । अतः ऐसी स्थिति में उसे नित्य नहीं कहा जा सकेगा ।

ईश्वर को शरीरी मानने पर उसमें अवयवत्व की भी आपत्ति होगी क्योंकि शरीर अवयवों का ही समूह होता है । अतः ईश्वर के अवयवी सिद्ध होने पर भी उसका नित्यत्व बाधित हो जायेगा क्योंकि जो भी वस्तु अवयवी होती है वह नित्य नहीं होती । इसलिए ईश्वर भी विनाशशील सिद्ध होने लगेगा ।

उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में ईश्वरगत शरीरत्व का निषेध करते हुए कहा है कि ईश्वर में शरीर का होना इसलिए असिद्ध है क्योंकि ईश्वर में दृश्य शरीर का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है ।[1] इनका कहना है कि यदि ईश्वर में अदृश्य शरीर की कल्पना की जायेगी तो फिर उस अदृश्य शरीर के सावयव एवं मूर्त होने के कारण सघन पत्थर आदि के भीतर रहने वाले मेढ़क के उत्पत्ति के प्रति उस अदृश्य शरीर का कर्तृत्व बिना उस अदृश्य शरीर के भड्.ग हुए संभव नहीं है क्योंकि वह बिना शरीरभड्.ग के हुए वह ईश्वर उस सघन पत्थर में प्रविष्ट नहीं हो सकता जिससे उसमें मेढक की उत्पत्ति कर सके ।[2] उनका कहना है कि यदि ईश्वर

1- शरीराभाव एव कथमिति चेत्, दृश्यस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

आ०त०वि०पृ०425

2- अदृश्यस्यापि सावयवतया मूर्ततया च निविडतरपाषाणमध्यवर्तिनि भेकादौ कार्ये कर्तव्ये नाभग्नस्य प्रवेशः ।

वही०पृ०425

शरीर को परमाणु रूप माना जायेगा, और ऐसा होने से उसे पत्थर में प्रवेश के लिए भङ्ग नहीं होना पड़ेगा- तो यह तर्क भी असमीचीन है क्योंकि उस परमाणु के छिद्ररहित होने के कारण उसमें मन नहीं रह सकेगा अतः उस शरीर में इन्द्रिया-श्रयत्वरूप लक्षण नहीं घटित हो सकेगा ।[1] यदि यह माना जाय कि यह मन शरीर में बिना प्रविष्ट हुए बाहर रहकर ही ज्ञानादि कार्य के प्रति उपयोगी हो सकता है तो ऐसी स्थिति में शरीर का मानना ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि शरीर की यही उपयोगिता है कि मन आदि इन्द्रियाँ उसमें रहती हुई कार्योत्पादन कर सकें।[2]

नारायण तीर्थ ने ईश्वर को अशरीरी सिद्ध करते हुए कहा है कि ईश्वर में शरीराभाव के बोधक "अपाणिपादो" इत्यादि सहस्रों श्रुतियों के द्वारा शरीर के लिए नियत भोगके अभाव से शरीराभाव सिद्ध हो जाने पर तथा कार्य शरीरजन्यं कार्यत्वाद् घटवद्" एतद् प्रकारक अनुमान के बाध से ईश्वर शरीरी नहीं सिद्ध होता ।[3] उनका कहना है कि ईश्वर में शरीराभाव के सिद्ध होने पर तथा

1- न च परमाणुरूपं तच्छरीरम्, अनन्तरालत्वेन निर्मनस्कतया इन्द्रियाश्रयत्वानुपपत्तेः ।
वही पृ0 425

2- न च बहिर्वृत्ति मनो ज्ञानजननोपयोगि, शरीरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।
वही पृ0 425

3- ईश्वरे शरीराभावबोधकेन "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादि श्रुतिसहस्रेण, शरीरनियतभोगाभावेन च शरीराभावसिद्धौ तादृशानुमान-बाधेनेश्वरशरीरसिद्ध्यभावात् । कु0का0र0व्या0पृ072

क्षित्यंकुरादि के प्रति शरीरकर्तृत्व के व्यभिचार होने से यह सिद्ध होता है कि घटत्व पटत्वादि से अवच्छिन्न कार्यों के प्रति ही तत्-तत् शरीर की कारणता होती है । अतः कार्यत्वमात्र से अवच्छिन्न वस्तुओं के प्रति शरीर की हेतुता असिद्ध है अतः कार्यं शरीरजन्यं कार्यत्वाद्" इस प्रकार के अनुमान में शरीर अप्रयोजक है ।[1] आत्मतत्त्वविवेक में भी कहा गया है कि कार्य के प्रति शरीर सर्वत्र कारण नहीं होता।[2] श्रीधर भट्ट ने कहा है कि कार्योत्पादन के लिए जहाँ पर इच्छा और प्रयत्न आगन्तुक गुण हैं, वहाँ शरीर की आवश्यकता भले ही हो जैसे कि अस्मदादि के द्वारा कार्योत्पादन में । परन्तु जहाँ पर ये दोनों गुण स्वाभाविक गुण हैं, वहाँ शरीर के अपेक्षा व्यर्थ है ।[3]

न्यायकन्दलीकार पूर्वपक्षियों से पूछते हैं कि शरीर का सम्बन्ध ही कर्तृत्व है ? अथवा जिन कारणों में कार्य करने का सामर्थ्य ज्ञात हो गया हो उन्हें उचित रूप से परिचालित करना ही कर्तृत्व है ? यदि आप पूर्वपक्षी यह स्वीकार करेंगे कि शरीर का सम्बन्ध ही कर्तृत्व है तो फिर सोये हुए व्यक्ति में अथवा कार्यों के प्रति उदासीन पुरुष में भी कार्यों के प्रति कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि अनुचित है । अतएव यही स्वीकार करना पड़ेगा कि कारणों को समुचित

1- ईश्वरे शरीराभावसिद्धौ क्षित्यंकुरादौ व्यभिचारेणागत्या घटत्वपटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्येव तत्तच्छरीरत्वेन हेतुतया कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति शरीरत्वेन हेतुत्वस्यासिद्धौ, उक्तानुमानस्याप्रयोजकत्वाच्च । वही पृ० 72

2- न च सर्वत्र कार्ये कायः कारणमिति । आ०त०वि०पृ०429

3- इच्छाप्रयत्नोत्पत्तावपि शरीरमपेक्षणीयमिति चेत् ? अपेक्षतां यत्र तयोरागन्तुकत्वम्, यत्र पुनरिमौ स्वाभाविकावेवासाते तत्रास्यापेक्षा व्यर्था । न्या०क०पृ०139-40

रूप से परिचालित करना ही कर्तृत्व है क्योंकि ऐसा होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है । अतः यह दूसरे प्रकार का कर्तृत्व बिना शरीर के ही सम्भव है जैसे कि अपने शरीर के लिए जीव का कर्तृत्व देखा जाता है ।[1]

न्यायमञ्जरीकार का कहना है कि यदि पूर्वपक्षी यह पूछे कि ईश्वर जगत्सर्जना के प्रति शरीरी होकर प्रवृत्त होता है अथवा अशरीरी रूप में ? तो हमारा यही मन्तव्य है कि वह अशरीरी रूप में ही रहकर जगत् की सृष्टि करता है ।[2] उन्होंने कहा है कि ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्न का योग ही कर्तृत्व होता है और ऐसा कर्तृत्व ईश्वर में विद्यमान ही है अतः ईश्वर अशरीरी रूप में ही रहकर संसार की सृष्टि करता है, और ऐसा सम्भव भी है क्योंकि स्वशरीर को प्रेरित करने में अशरीरी आत्मा का कर्तृत्व प्रत्यक्षसिद्ध है ।[3] इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार अचेतन शरीर आत्मा की इच्छा का अनुवर्तन करता है उसी प्रकार अचेतन परमाणु भी ईश्वर की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं ।[4]

1- किं शरीरित्वमेव कर्तृत्वमुत परिदृष्टसामर्थ्यकारक प्रयोजकत्वम् ? न तावच्छरीरित्वमेव कर्तृत्वम्, सुषुप्तस्योदासीनस्य च कर्तृत्वप्रसङ्गात्, किन्तु परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वम्, तस्मिन् सति कार्योत्पत्तेः । तच्चाशरीरस्यापि निर्वहति यथा स्वशरीरप्रेरणायामात्मनः ।   न्या०क०पृ० 138-39

2- यत् पुनर्विकल्पितं सशरीर ईश्वरः सृजति जगद्, अशरीरो वेति ? तत्राशरीरस्यैव स्रष्टृत्वमस्याभ्युपगच्छामः ।   न्या०म० भाग । पृ०283

3- ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते तच्चेश्वरे विद्यत एवेत्युक्तमेतत् । स्वशरीरप्रेरणे च दृष्टमशरीरस्यापि आत्मनः कर्तृत्वम् ।   वही पृ० 283

4- यथा ह्यचेतनः काय आत्मेच्छामनुवर्तते ।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः ।।   वही पृ०284

उदयनाचार्य का कहना है कि ईश्वर भोगायतन के रूप में शरीर की अपेक्षा नहीं करता । उनका मानना है कि शरीर की अपेक्षा भोग के अधिकरणरूप में हो सकती है । परन्तु जब ईश्वर में कोई भोग ही नहीं है अतएव उसके लिए भोगायतन स्वरूप शरीर की भी अपेक्षा नहीं है । अतः यदि ईश्वर को शरीर की अपेक्षा भोगायतन के रूप में स्वीकार करेंगे तो वहाँ पर भोग उपाधि स्वरूप होगा । इसलिए उसके द्वारा ईश्वर में शरीरत्व की आपत्ति नहीं की जा सकती ।[1]

ईश्वर को शरीर की अपेक्षा जगदुत्पत्ति हेतु उपकरणों के सन्चालन के लिए भी आवश्यक नहीं है क्योंकि किसी कार्य के उपकरणों को सन्चालित करने के लिए कर्ता को वहीं पर शरीर की अपेक्षा होती है जहाँ पर कार्यों के उपकरण कर्ता के साक्षात् प्रयत्न के विषय नहीं होते । जिस प्रकार कुलाल घटनिर्माण हेतु अपने शरीर के बिना दण्डादि उपकरणों को सन्चालित नहीं कर सकता । अतएव वह कुम्भकार घटनिर्माण हेतु घटनिर्माण के उपकरण स्वरूप दण्ड चक्रादि को सन्चालित करने के लिए जो प्रयत्न करता है वह अपने शरीर के माध्यम से ही करता है । अतएव उसे अपने कार्य के लिए शरीर की अपेक्षा अवश्य ही होती है ।[2] परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है क्योंकि वह बिना शरीरके ही सीधे अपने प्रयत्न से परमाणुओं में

1- नाप्यायतनतया तथाभावो भोगोपाधित्वात् । आ०त०वि०पृ० 397

2- यः साक्षादधिष्ठातुमशक्तः स साक्षादधिष्ठेयमुपादाय तत् प्रयुन्जीत ।
वही पृ० 403

गति को उत्पन्न कर सकता है । अतएव उसे शरीर की अपेक्षा कदापि नहीं है ।[1]

उनका मानना है कि कुलालादि कर्ता अवश्य ही शरीरसापेक्ष होकर घटादि कार्य करता है । परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जो भी कार्य होगा वह शरीर के प्रति सापेक्ष होकर ही होगा । कारण कि शरीरसापेक्षता के प्रति शरीरकार्यत्वरूप उपाधि वर्तमान है।[2] क्योंकि उसी कार्य के लिए कर्ता को शरीर की अपेक्षा है जो कार्य शरीर से उत्पन्न होते हैं । परन्तु वृक्ष अंकुर आदि कार्य तो शरीर से उत्पन्न नहीं होते, अतः उसके कर्ता को शरीर की भी अपेक्षा नही है ।

उनका यह भी कहना है कि यदि पूर्वपक्षी यह हठ करें कि शरीरी कर्ता का ही कार्य के साथ अन्वय गृहीत है, अतः व्याप्तिज्ञान के लिए भी शरीरी कर्ता का ही व्यतिरेकग्रह भी उपयोगी होगा । इसलिए अन्वय व्यतिरेक के द्वारा शरीरी चेतनही कर्ता सिद्ध होता है न कि अशरीरी । तो वे इस विषय में पूर्वपक्षियों से यह प्रश्न करते हैं कि क्या देह के द्वारा ही चेतन कर्ता सभी कारकों को प्रयुक्त करता है सीधे नहीं ? अथवा देह को प्रयुक्त करता हुआ ही वह अन्य कारकों को कार्यों के प्रति प्रयुक्त करता है ? उपर्युक्त दो अभिप्रायों में पूर्वपक्षी किस अभिप्राय को स्वीकार करेंगे ।[3]

1- नाप्युपकरणव्यापकतया, साक्षात् प्रयत्नानधिष्ठेयत्वोपाधित्वात् । अन्यथापि तत्प्राप्तेरिति । वही पृ० 397

2- तत्कार्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वात् । वही पृ० 397

3- देही तादृशः इति चेत्, कोऽस्यार्थः ? किं देहव्यापारसम्पादनद्वारेव सर्वाणि कारकाणि प्रयुङ्क्ते चेतनः ? आहो देहं प्रयुञ्जान एवेति ।

आ०त०वि०पृ०402

उनका मानना है कि यदि वे प्रथम अभिप्राय को स्वीकार करते हैं तो उनके उस मन्तव्य में अनवस्था दोष हो जायेगा क्योंकि जैसे अन्य कारकों को प्रयुक्त करने में देह कारणभूत है, उसी प्रकार देह को भी कारक होने के नाते उसे भी प्रयुक्त करने के लिए किसी अन्य शरीर की आवश्यकता होगी और फिर उसको भी प्रयुक्त करने के लिए तीसरे चौथे शरीर की ।[1] अतः पूर्वपक्षियों का पहला अभिप्राय ठीक नहीं है ।

यदि पूर्वपक्षियों को दूसरा अभिप्राय स्वीकार हो तो ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ पर व्यभिचार दोष है ।[2] कारण कि जादूगर बिना शरीर को प्रयुक्त किये ही ध्यान मात्र से कमलनाल के टुकड़ों को सञ्चालित कर देता है ।

अतः निष्कर्षरूप में उनका कहना है कि सँड़सी के समान या लोहपिण्ड के समान कारक के रूप में या कारकव्यापार के आश्रय के रूप में ही शरीर का अधिष्ठान आवश्यक है न कि शरीर के ही रूप में । परन्तु शरीर का कारणत्व अथवा उसका प्रयोजकत्व समस्त कार्यों के प्रति नहीं होता ।[3] अतः घट इत्यादि कार्यों के प्रति ही शरीर का कारकत्व अथवा उसका प्रयोजकत्व सम्भव है अतएव इन कार्यों के लिए शरीर की अवश्य ही अपेक्षा है । परन्तु क्षित्यादि कार्यों के प्रति शरीर का कारकत्व अथवा उसका प्रयोजकत्व सम्भव नहीं है अतः क्षित्यादि कार्यों के लिए उसके कर्ता

1- न पूर्वः, देहस्यापि कारकतया देहान्तरप्रयोज्यतायामनवस्थानात् । वही पृ0402

2- न द्वितीयः, विषकमलचालनादौ व्यभिचारात् । वही पृ0402

3- तस्मात् सन्दंशवदयःपिण्डवत् कारकतत्प्रयोजकतयैव शरीराधिष्ठाननियमो न तु शरीरत्वेनैव । न च शरीरस्य सर्वत्र कार्ये कारकत्वं तत्प्रयोजकत्वं चेति । वही पृ0404-5

ईश्वर को शरीर की अपेक्षा नहीं है । इसलिए ईश्वर बिना शरीर के धारण किये ही केवल इच्छा मात्र से क्षित्यादि कार्यों की उत्पत्ति करता है ।

4- <u>ईश्वर नित्य है -</u>

न केवल न्याय-वैशेषिक अपितु समस्त ईश्वरवादी विचारक ईश्वर को नित्य स्वीकार करते हैं । उनके द्वारा ईश्वर को नित्य स्वीकार करने के पीछे कई कारण हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है -

§1§ ईश्वर को नित्य इसलिए स्वीकार किया गया है क्योंकि ईश्वर अशरीरी है अतएव अजन्मा है । चूंकि जो शरीरी होता है वही अनित्य होता है क्योंकि शरीरी और कार्यत्व के साथ व्याप्ति सम्बन्ध है, साथ ही साथ समस्त कार्य समूह जन्य होने के कारण विनाश्य भी होते हैं । अतः ईश्वर अशरीरी होने के कारण अकार्य है अतएव नित्य है ।

§2§ ईश्वर को नित्य स्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि चूंकि ईश्वर सर्वज्ञ है अतएव वह नित्य भी होगा क्योंकि यदि उसे नित्य नहीं स्वीकार किया जायेगा तो जिस समय उसकी असत्ता रहेगी उस समय वह असर्वज्ञ हो जायेगा । अतः फिर असर्वज्ञ ईश्वर से न तो इस जगत् की सृष्टि औरप्रलय की परम्परा का सञ्चालन ही सम्भव है और न तो वह वेदकर्ता हो सकता है । यदि उसे उसके असर्वज्ञ होने की स्थिति में भी उसे वेद-कर्ता स्वीकार करेंगे तो वेदों का प्रामाण्य भी उसके असर्वज्ञकर्तृक होने से खण्डित हो जायेगा ।

§3§ ईश्वर को इसलिए भी नित्य माना जाता है जिससे प्रलय के बाद जगत् की पुनः उत्पत्ति हो सके । कारण कि संसार का विनाश हो जाने के पश्चात् यदि

ईश्वर की सत्ता अस्वीकार कर दी जायेगी तो फिर बिना ईश्वर के पुनः सृष्टि कैसे हो सकेगी ? इसी प्रकार यदि ईश्वर को सृष्टि काल में अस्वीकार करेंगे तो फिर सृष्टि की परम्परा भी अकारण हो जायेगी, ऐसी स्थिति में समस्त कार्यों की उत्पत्ति बिना कारण के ही होने लगेगी ।

(4) ईश्वर इसलिए भी नित्य है क्योंकि वह नित्य होकर ही जीवों को उनके द्वारा किये गये धर्माधर्म के आधार पर उनको तदनुरूप सुख दुःख रूप भोग प्रस्तुत कर सकता है । यदि ईश्वर को अनित्य स्वीकार करेंगे तो ईश्वर भी अनित्य होने के कारण अल्पज्ञ हो जायेगा फलतः वह जीवों के द्वारा किये गये अदृष्ट के आधार पर उनको भोग का संपादन नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसको जीवों के द्वारा किये गये यज्ञादि के फलरूप अतीन्द्रिय स्वर्गादि का ज्ञान ही नहीं रहेगा और न तो उसको यही ज्ञान रहेगा कि किस कर्म का क्या फल होना चाहिए ? जिस प्रकार जीव अल्पज्ञ होने के कारण न तो अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल को ही जानता है और न तो अन्य जीवों के कर्मों के फल को । अतः ईश्वर के भी असर्वज्ञ होने से अल्पज्ञ जीव की तरह ईश्वर की भी स्थिति हो जायेगी । फलतः विचित्र प्रकार के अदृष्ट से होने वाली विचित्र प्रकार की सृष्टि नहीं हो सकेगी ।

(5) यदि ईश्वर को अनित्य स्वीकार किया जायेगा तो फिर सर्गादि में उसकी असत्ता होने के कारण न तो ब्राह्मणादि वर्ण-व्यवस्था का सन्चालन ही सम्भव हो सकेगा और न तो लोगों में शब्द शक्ति का ही ज्ञान रहेगा । फलतः लोक-व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा । सर्गादि के समय ईश्वर की असत्ता होने पर घटादि निर्माण भी असंभव होगा क्योंकि घटादि निर्माण के प्रति नैपुण्य वृद्धपुरुषों के माध्यम से ही होता है ।

महर्षि पतञ्जलि ने भी ईश्वर के नित्यत्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि वह ईश्वर काल से अवच्छिन्न न होने के कारण पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है ।[1] महर्षि व्यास ने कहा है कि वह ईश्वर पूर्ववर्ती गुरुओं का गुरु इसलिए है क्योंकि पूर्ववर्ती गुरु समय से अवच्छिन्न थे जब कि ईश्वर को समय भी सीमा में बांधने के लिए नहीं उपस्थित होता । वह ईश्वर जिस प्रकार इस सृष्टि के पहले उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ विद्यमान था वैसे ही विगत सभी सृष्टियों के पहले भी विद्यमान समझा जाना चाहिए ।[2]

अतः ईश्वर की नित्यता स्वीकार की जाती है ।

5- ईश्वर सर्वज्ञ है -

न्याय-वैशेषिकानुयायी ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं । वे लोग ईश्वर की सर्वज्ञता के ही आधार पर तो उसे जगत्कर्ता, वेदकर्ता एवं अदृष्टादि का अधिष्ठाता स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि यदि ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर न तो जगत् की उत्पत्ति ही सम्भव हो सकेगी और न तो वेदों की रचना ही संभव हो सकेगी । यदि ईश्वर को असर्वज्ञ माना जायेगा तो फिर वह

1- पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । यो0सू0 1/26

2- पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः । यो0भा0 1/26

प्राणियों के उनके कर्मानुसार सुख दुःख का प्रदाता भी नहीं हो सकेगा अतः कार्य-कारणभाव का ही लोप होने लगेगा फलतः प्रत्येक कार्य स्वाभाविक हो जायेगा ।

उनका मानना है कि यदि ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं माना जायेगा तो फिर परमाणुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अस्मदादिक जैसे शरीरधारियों को होना सम्भव नहीं है क्योंकि परमाणु अतीन्द्रियविषयक हैं । अतः अस्मदादिकों को अतीन्द्रिय परमाणुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान न हो सकने से हममें द्व्यणुकोत्पादक शक्ति का भी अभाव रहेगा क्योंकि कर्ता वही होता है जो कि उपादानगोचरापरोक्ष ज्ञानवान् चिकीर्षावान् एवं प्रयत्नवान् हो ।[1] अतः कर्तृत्व की इस परिभाषा के अनुसार परमाणु जैसे उपादान कारणों के प्रति हम जैसे लोगों का कर्तृत्व सम्भव नहीं है क्योंकि अस्मदादिकों के परमाणुविषयक न तो अपरोक्षज्ञान है और न तो सर्गादि काल में हममे जगत् की उत्पत्ति हेतु चिकीर्षा ही सम्भव है क्योंकि उस समय अस्मदादिकों की सत्ता का ही अभाव है । इसी लिए उस समय हम जगत् के उत्पत्ति के प्रति प्रयत्नवान् भी नहीं हो सकते । इसीलिए जगत् की उत्पत्ति के लिए अस्मदादिक शरीरियों से भिन्न ईश्वर नामक चेतन पुरुष की कल्पना की गई है । अतः ईश्वर को सर्वज्ञ भी स्वीकार करना पड़ेगा ।

उपर्युक्त विधि से जिस प्रकार ईश्वर के असर्वज्ञ की स्थिति में जगत् की उत्पत्ति संभव नहीं है उसी प्रकार से प्रलय की उत्पत्ति वेद की रचना एवं

1- सकर्तृकत्वं च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम् ।

विवृति पृ० 170

सांसारिक प्राणियों में भोग्यस्वरूप सुख दुःख का वैचित्र्य भी बिना ईश्वर को सर्वज्ञ माने सम्भव नहीं है । अतः जिन जिन हेतुओं के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है । उन समस्त हेतुओं के आधार पर ईश्वर में सर्वज्ञता का भी अनुमान होता है क्योंकि उसके असर्वज्ञ हो जाने पर ईश्वर में और हम जैसे शरीरधारियों में कोई विशेष नहीं रह सकेगा । फलतः वे समस्त कार्य जिनकी उत्पत्ति के लिए ईश्वर की कल्पना की गई है । अनुपपन्न हो जायेंगे ।

उदयनाचार्य ने ईश्वर के सर्वज्ञत्व के विषय में कहा है कि यदि क्षित्यादि का कर्ता शरीररहित है तो उसका ज्ञान अनित्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनित्यज्ञान और शरीरत्व में कार्य-कारणभाव का नियम होने से देहरूप कारण के अभाव में अनित्य-ज्ञान का भी अभाव हो जायेगा । इसलिए उसका ज्ञान नित्य होगा और सर्व-विषयक भी होगा क्योंकि नियतविषयता अनित्यत्व से व्याप्त है अर्थात् जो जो अनित्य होता है वह-वह निर्धारित विषयक होता है । अतएव नित्य-ज्ञान तो अनियत विषयक होने से सर्वविषयक ही होगा । कारण कि नित्यज्ञान में सामग्री की अधीनता नहीं रहने से विषय का नियम भी नहीं रहता । अतः अनित्यज्ञान ही सामग्री के अधीन उत्पन्न होता है और नियतविषयक होता है । इसलिए नित्यज्ञान सर्वविषयक ही होगा ।[1] इनका कहना है कि द्व्यणुक बनाने वाला ईश्वर परमाणु, अदृष्ट तथा

1- न तावद् देहव्यतिरेकेऽनित्यज्ञानसम्भवः, तयो कार्यकारणभावनियमात् । ततो नित्यं भवेत् ततः सर्वविषयं च । नियतविषयताया अनित्यत्वेन व्यापनात्। विषयनियमस्य सामग्रीशक्तिसमवधानाधीनतया नित्यात् तस्याः स्वव्यापकानुपा-दाय निवर्तमानाया अनित्ये विश्रमात् । आ०त०वि०पृ०399

द्व्यणुक से किये जाने वाले त्र्यणुकादि वस्तुओं के भोगपर्यन्त द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छवों पदार्थों को निश्चित ही जानता है ।[1] जिस प्रकार कुम्भकार कपाल चक्रादि से लेकर बनाये जाने वाले घट के उपभोगपर्यन्त की सम्पूर्ण प्रक्रिया से अवगत रहता है ।

इन्होंने आगे कहा है कि ईश्वर को सामान्य अर्थात् जाति का ज्ञान इसलिए रहता है क्योंकि अवच्छेद्य एवं अवच्छेदक के ज्ञान के बिना अमुक का उपादान कारण अमुक है इसका भी परिज्ञान असंभव है । साथ ही वह इसलिए भी सर्वज्ञ है क्योंकि जो कर्ता जिस जाति के एक कार्य को करने में या जानने में समर्थ रहता है वह उस जाति के समस्त कार्यों को करने या जानने में समर्थ रहता है यह नियम है ।[2]

उदयनाचार्य का मानना है कि वेदों के असर्वज्ञ प्रणीत होने पर उनका महाजनपरिग्रह होना असम्भव है, इसलिए वेदों में सर्वज्ञपूर्वकत्व का होना निश्चित होता है । अतः ईश्वर सर्वज्ञ है ।[3]

जयन्तभट्ट ने भी ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध किया है । उनका कहना है कि पृथिव्यादि कार्य अस्मदादि से विलक्षण सर्वज्ञ एक कर्ता के द्वारा किये गये हैं, क्योंकि पृथिव्यादि में कार्यत्व सिद्ध है और उसका कर्तृत्व अस्मदादिकों में सम्भव नहीं है ।[4]

1- एकद्व्यणुककारी च परमाणुमदृष्टमुपकार्यत्र्यणुकादिभोगपर्यन्तं द्रव्यादिषट्कं च जानाति नूनमित्यविवादम्, एषामुपादानादिरूपत्वात् । आ०त०वि०पृ०423

2- अवच्छेद्यावच्छेदकभावापरिज्ञानेन चोपादानादिपरिज्ञानानुपपत्तेः । यश्च यज्जातीयमेकं कर्तुं ज्ञातुं वा समर्थः स तज्जातीयं सर्वमेवेति नियमः, सामर्थ्यस्य जाति नियतत्वात् । आ०त०वि०पृ०423

3- सोऽयमीदृशो महाजनपरिग्रहोऽसर्वज्ञपूर्वकत्वे सम्भवन् सर्वज्ञपूर्वकत्वेन व्याप्यते । आ०त०वि०पृ०437

4- पृथिव्यादिकार्यम् अस्मदादिविलक्षण सर्वज्ञैककर्तृकम्, अस्मदादिषु बाधकोत्पत्तौ सत्यां कार्यत्वादिति । न्या०मं०भाग । पृ०28।

ईश्वर के सर्वज्ञता के साधन में वे दूसरा तर्क देते हुए कहते हैं कि पक्षधर्मता के बल से भी अस्मदादिकों से विशेष रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। क्योंकि एतद् प्रकारक दृश्यमान अनेकरूप का अपरिमित एवं अनन्त प्राणिगत विचित्र प्रकार के सुख दुःख के साधनभूत भुवनादि कार्यों का कर्तृत्व अनतिशयपुरुष में शक्य नहीं है। जिस प्रकार चन्दनधूम से भिन्न धूम में विलक्षणता को देखकर चन्दनान्य आग का अनुमान होता है, उसी प्रकार विलक्षण कार्य से विलक्षण कर्ता का ही अनुमान होता है। जिस प्रकार पटनिर्माण के लिए पटनिर्माण में कुशल कुविन्द की एवं कलशादि निर्माण के लिए सम्पूर्ण कलशादि कार्यों की उत्पत्ति की विधि प्रयोजन आदि से भिज्ञ कुलाल की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार इस त्रैलोक्य के सम्पूर्ण प्राणियों के सुख दुःख के साधनभूत संसार के सृष्टि एवं संहार के उत्पादन की विधि एवं प्रयोजन आदि से भिज्ञ स्रष्टा महेश्वर की कल्पना की जाती है। अतः वह महेश्वर सर्वज्ञ है।[1] उनका कहना है कि जिस प्रकार नियतविषयक वृत्ति वाले चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा उनका अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ सर्वज्ञ होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञों के कर्मानुसार विनियोग में प्रयुक्त होने वाला ईश्वर क्षेत्रज्ञ की अपेक्षा सर्वज्ञ होता है।[2] आगे वे कहते हैं कि पुरुषों में ही रागादि मल होने के

1- अपरे पक्षधर्मताबलादेव विशेषलाभमभ्युपगच्छन्ति। न हीदृशं परिदृश्यमानम् अनेकरूपम् अपरिमितम् अनन्तप्राणिगतविचित्रसुखदुःखसाधनं भुवनादिकार्यम् अनतिशयेन पुंसा कर्तुं शक्यमिति। यथा चन्दनधूमभितरधूमविलक्षणमवलोक्य चन्दन एव वह्निरनुमीयते तथा विलक्षणाद् कार्याद् विलक्षण एव कर्तानुमास्यते, यथा इतरकेभ्यः इव तत्कुशलः कुविन्दः यथा च कुलालः सकलकलशादिकार्यकलापोत्पत्तिविधानप्रयोजनादिभिज्ञो भवंस्तस्य कार्यचक्रस्य कर्ता तथा इयस्त्रैलोक्यस्य निरवधिप्राणिसुखदुःखसाधनस्य सृष्टिसंहारविधानं सप्रयोजनं बहुशाखं जानन्नेव स्रष्टा भवितुमर्हति महेश्वरः, तस्माद् सर्वज्ञः। न्या०म०भाग। पृ०28।

2- अपि च यथा नियतविषयवृत्तीनां चक्षुरादीन्द्रियाणामधिष्ठाता क्षेत्रज्ञः तदपेक्षया सर्वज्ञः एवं सकलक्षेत्रज्ञकर्मविनियोगेषु प्रभवन्नीश्वरस्तदपेक्षया सर्वज्ञः। न्या०म०भाग। पृ०28।

कारण वे ही असर्वज्ञ होते हैं जब कि ईश्वर में रागादि का स्पर्श मात्र भी न होने से वह सर्वज्ञ ही होगा ।[1]

उनका मानना है कि वह ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण ही इस संसार की उत्पत्ति करने में सक्षम है क्योंकि यह संसार विचित्र प्रकार के प्राणियों के विचित्र प्रकार के फलभोग का आश्रय है ।[2] अतः इन सब का कर्ता पुरुष सर्वज्ञ है- ऐसा निश्चित होता है । कारण कि कार्य के अनुकूल ही कर्तारूप निमित्तकारण की कल्पना की जाती है ।[3]

न्यायकन्दलीकार श्री श्रीधरभट्ट ने किसी पूर्व आचार्य के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सभी विषयों के ज्ञान के बिना सृष्टि जैसा कार्य करना सम्भव नहीं है । अतः सृष्टि के लिए जीवों से भिन्न सहजज्ञान से युक्त कर्तृत्व स्वभाव वाले किसी अधिष्ठाता की कल्पना करनी होगी, क्योंकि जड़ वस्तुओं की प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठाता के बिना सम्भव ही नहीं है । अतः सर्वविषयक ज्ञान से युक्त ईश्वररूप अधिष्ठाता अवश्य है ।[4]

1- पुंसामसर्ववित्त्वं हि रागादि मलबन्धनम् ।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित् ।। न्या० म०भाग । पृ० 282

2- उच्यते तर्हि सर्वज्ञः स्रष्टा प्रभवतीदृशम् ।
विचित्रं प्राणिभृत्कर्मफलभोगाश्रयं जगत् ।। न्या०म०भाग । पृ०335

3- कर्ता सर्वस्य सर्वज्ञः पुरुषोऽस्तीति साधितम् ।
कार्येणानुगुणं कल्प्यं निमित्तमिति च स्थितम् ।। वही पृ० 346

4- अनवबोधे च तेषां नाधिष्ठातार इति तेभ्यः परः सर्वार्थदर्शिसहजज्ञानमयः कर्तृस्वभावः कोऽप्यधिष्ठाता कल्पनीयः चेतनमधिष्ठातारमन्तरेणाचेतनानां प्रवृत्त्यभावात् । न्या०क०पृ०14।

हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि कर्तृत्वाभावबोधक शब्द यदि अनाप्तोक्त है, तो प्रमाण नहीं है यदि आप्तोक्त है। तो इस विषय के ज्ञान वाला वक्ता ईश्वर इन्द्रियादि के न होने से नित्य और सर्वविषयक ज्ञान वाला होगा । अतः वेदकर्ता ईश्वर नित्य एवं सर्वज्ञ सिद्ध होता है ।[1]

इसी प्रकार से नारायणतीर्थ ने भी ईश्वर को सर्वज्ञ बतलाया है ।उनका कहना है कि उपदर्शित वेदवाक्य यदि अनाप्तोक्त है तो वह वेद प्रमाण नहीं है क्योंकि अनाप्तोक्त में प्रामाण्य का अभाव होता है । अतः उसके अप्रामाण्य होने से वह वेदवाक्य ईश्वर में सर्वज्ञत्व का खण्डन नहीं कर सकता । यदि वह वेदवाक्य आप्तोक्त है तो अज्ञात अर्थ में आप्तता नहीं बनती है । अतः उनके वक्ता को अवश्य ही उन वैदिकवाक्यों के अर्थ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होना चाहिए । परन्तु उनका ज्ञान अतीन्द्रिय होने से असर्वज्ञ में सम्भव नहीं है । अतएव आगम प्रमाण के अनुरोध से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है ।[2]

1- अयं हि सर्वकर्तृत्वाभावावेदकः शब्दः अनाप्तोक्तश्चेत् न प्रमाणम् । आप्तोक्तश्चेत् एतदर्थगोचरज्ञानवतो नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्वं इन्द्रियाद्यभावात् । आगमस्य च नित्यत्वं दूषितमेव प्रागिति वेदकर्ता नित्यः सर्वज्ञः सिध्यति ।

विवृति पृ0 135

2- उपदर्शितवाक्यं यद्यनाप्तोक्तं तर्हि तन्न प्रमाणम्, अनाप्तोक्तेरप्रमाणत्वात् । तथा चाप्रमाणत्वाद एव न तद्बाधकम् । यद्याप्तोक्तस्तर्हि अदृष्टे अर्थे=अज्ञाते क्वचिद आप्तता "नेति" तदर्थगोचरयथार्थज्ञानवत्वं तद वक्तुरावश्यकत्वम् एष्टव्यम् । तच्च ज्ञानं तदर्थातीन्द्रियगोचरं नासर्वज्ञे सम्भवतीत्येतदागमप्रामाण्यानुरोधेनापि सर्वज्ञो भगवान् आयाति ।

कुसु0कारि0व्या0पृ05।

न्याय-वैशेषिकों के अतिरिक्त भी ईश्वर को मानने वाले अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी ईश्वर की सर्वज्ञता स्वीकार की है। माधवाचार्य ने शैवों की तरफ से कहा है कि ईश्वर ने सभी वस्तुओं का निर्माण किया है इसलिए उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। क्योंकि अज्ञ व्यक्ति में कारणत्व असम्भव है।[1]

श्री मृगेन्द्र ने कहा है कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति करने के कारण वह सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वस्तुओं को साधन, अंग और उनके फल के साथ जानता है। जो व्यक्ति जिस काम को जानता है वही वह काम करता है-यह अच्छी तरह निश्चित है।[2] जैन मतानुयायी श्री अर्हत् (जैनों के ईश्वर) को सर्वज्ञ मानते हैं, जैसा कि हेमचन्द्रसूरि ने आप्तनिश्चयालंकार में अर्हत् के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि जो सब कुछ जानता है, राग आदि दोषों को जीत चुका है, तीन लोकों में पूजित है, वस्तुएं जैसी हों, उन्हें वैसा ही कहता है, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[3] श्री शङ्कराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि अनेक विद्यास्थानों से उपकृत दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्रों का योनि ब्रह्म है।

1- सर्वकर्तृत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अज्ञस्य कारणासम्भवात्।
स०द०सं०शैव दर्शनम् पृ0280

2- सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात्साधनाङ्गफलैः सह।
यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम्॥ वही पृ0 280

3- सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः॥
आप्तनिश्चयालंकार

ऐसे ऋग्वेदादि रूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर किसी अन्य से नहीं हो सकती ।[1] इनका कहना है कि अनेक शाखाभेद से भिन्न देव, मनुष्य, पशु, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का जो हेतु है और सर्वज्ञान के भण्डार हैं ऐसे ऋग्वेदादि वेदों की अनायास ही लीलान्याय से पुरुष निःश्वास की तरह जिस महान् सद्रूप कारण से उत्पत्ति होती है, उस महान् सद्रूप ब्रह्म के निरतिशय सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्व के विषय में तो कहना ही क्या है ।[2]

1- महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यः संभवोऽस्ति ।

शा०भा० 1/1/3/3

2- किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः ----------इत्यादिश्रुतेः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति ।

शा०भा० 1/1/3/3

योगशास्त्रियों ने भी ईश्वर की सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने तो यहाँ तक कहा है कि इस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त है।[1] महर्षि व्यास ने कहा है कि अतीन्द्रिय ज्ञान जिसमें अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, वह सर्वज्ञ है, और वह पुरुषविशेष ईश्वर ही है।[2] राजमार्तण्डवृत्तिकार ने भी ईश्वर में सर्वज्ञत्व की पराकाष्ठा को माना है।[3]

श्रुतियों में भी ईश्वर की सर्वज्ञता का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि बिना हाथ पाँव का होता हुआ भी वह परमेश्वर सब कुछ प्राप्त करता है, बिना आँखों के देखता है एवं बिना कानों के सुनता है। वह समस्त ज्ञातव्य विषयों का ज्ञाता है और उसका ज्ञाता कोई भी नहीं है। ज्ञानी जन उसे आदि एवं महान बतलाते हैं।[4]

1- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। यो0सू0 1/25

2- यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति।
यो0भा0 1/25

3- तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वञ्च मूलत्वाद् बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्।
रा0मा0वृत्ति पृ015

4- अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न चितस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/19

यहाँ पर अनीश्वरवादी पूर्वपक्षी यह आक्षेप कर सकते हैं कि यदि ईश्वर को सर्वज्ञ माना जायेगा तो फिर सर्वपदार्थ के अन्तर्गत भ्रान्ति रूप गुण पदार्थ का भी ज्ञान उसमें अवश्य रहेगा । चूँकि जब ज्ञानविषयक ज्ञान होता है तो उस समय वह पूर्वज्ञान भी पश्चात्वर्ती ज्ञान का विषय होता है । अतः यदि ईश्वर में भ्रान्ति विषयक ज्ञान होगा तो फिर भ्रान्ति का विषय भी ईश्वरीय ज्ञान का विषय होगा । फलतः ईश्वर का ज्ञान भी तदभाववति तत्प्रकारक होने से भ्रान्तिरूप ही होगा, जिससे ईश्वर के भ्रान्त होने की आपत्ति होगी। फिर यदि ईश्वर में भ्रान्ति विषयक ज्ञान नहीं स्वीकार करेंगे तो फिर यह मानना होगा कि वेदों में हम लोगों की भ्रान्ति को मिटाने के लिए जो उपाय निर्दिष्ट हैं, वे सर्वज्ञ पुरुष के द्वारा निर्दिष्ट नहीं है । अतः ऐसी स्थिति में न्याय-वैशेषिकों के मत से वेदों का प्रामाण्य ही अनुपपन्न हो जायेगा ।[1]

इस पूर्वपक्ष के समाधान में नैयायिकों का कहना है कि "शुक्ताविदं रजतम्" यह ज्ञान भ्रम इसलिए कहलाता है क्योंकि यहाँ पर ज्ञाता को शुक्तिविशेष्यक रजतत्वप्रकारक ज्ञान होता है, और यह ज्ञान तदभाववति तत्प्रकारक है । अर्थात

1- स्यादेतत्-तथापीश्वरज्ञानं न प्रमा, विपर्ययत्वात् । यदा खल्वेतदस्मदादिविभ्रमानालम्बते, तदैतस्य विषयमस्पृशतो न ज्ञानावगाहनसम्भव इति तदर्थोऽप्यालम्बनमभ्युपेयम्, तथा च तदपि विपर्ययः, विपरीतार्थालम्बनत्वात् । तदनवगाहने वा अस्मदादेर्विभ्रमानविदुषस्तदुपशमायोपदेशानामसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति ।

न्या०कुसु० पृ० 477

शुक्ति में रजतत्व का सर्वथा अभाव होने पर भी उसमें रजताकारक ज्ञान होता है। परन्तु 'तादृश ज्ञानवानहम्' यह अनुव्यवसायरूप ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है क्योंकि "तादृश-ज्ञानवानहम्" में विशेष्य है "अहम्" पदार्थ आत्मा एवं "तादृशज्ञानवान्" है भ्रमात्मक ज्ञान। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मारूप "अहम्" विशेष्य में तादृशज्ञानवान् रूप भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता अवश्य है। इसलिए यह जो ज्ञान हुआ वह तद्वति-तत्प्रकारक है न कि तदभाववति तत्प्रकारक है। अतएव यह अनुव्यवसाय प्रमा है, न कि भ्रम। प्रकाशकार ने ईश्वरज्ञान में भ्रमत्व का निषेध किया है। उनका कहना है कि शुक्ति में रजतत्व के प्रकारक ज्ञान से युक्त जो ज्ञान है वह भ्रम नहीं है क्योंकि वही भ्रम का वास्तविक स्वरूप है। उनका कहना है कि शुक्ति में यह रजत है इस ज्ञान में शुक्तिविषयक रजतत्व प्रकारक ज्ञान ही भ्रम है, परन्तु ईश्वर ज्ञान में रजतत्वप्रकारकत्व ही प्रकार है इसलिए यह भ्रम नहीं है।[1] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर को यह ज्ञान है कि "रजतत्वेन शुक्तिं जानामि।" अतएव शुक्ति में रजत का ज्ञान होते हुए भी यह "रजतत्वेन शुक्तिं जानाम्यहम्" इत्याकारक ज्ञान भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान का मुख्य विशेष्य है "अहम्" पदार्थ आत्मा, एवं उसमें भ्रान्तिरूप अर्थात् "शुक्ताविदं रजतम्" यह ज्ञान प्रकार-विधया अर्थात् "रजतत्वेन शुक्तिं जानामि" विधया भासित होता है अतएव यह

1- शुक्तौ रजतत्वप्रकारकज्ञानवानिति ज्ञानं न भ्रमः भ्रान्तस्य तथा त्वात्। शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञाने रजतत्वं प्रकारः तेन तद्भ्रमः ईश्वरज्ञाने तु रजतत्व-प्रकारकत्वं प्रकार इति न भ्रमत्वम्।

प्रकाश पृ० 477

ज्ञान तदभाववति तत्प्रकारक न होकर तद्वतितत्प्रकारक है । अतः यह ज्ञान भ्रम भ्रान्ति न होकर यथार्थ है ।

हरिदास भट्टाचार्य का कहना है कि ईश्वर ज्ञान के भ्रमविषयक होने पर उसके भ्रम विषय का ग्राहक होने से उसमें भ्रमत्व प्राप्त होगा-ऐसा नही कहना चाहिए, क्योंकि व्यधिकरण प्रकारकत्वाभाव के कारण ईश्वर ज्ञानमें अप्रमात्व नहीं है । ईश्वर को उस भ्रमनिष्ठ शुक्तिविशेष्यकत्व में रजतत्व प्रकारकत्व की जो प्रतीति होती है वह सत् ही है । अतः उसके तद्विषयक होने से ईश्वरज्ञान के प्रमात्व की क्षति नहीं होती ।[1] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि व्यधिकरण-प्रकारक ज्ञान ही भ्रम कहलाता है अर्थात् जो जिस अधिकरण में नहीं रहता है उस वस्तु का उस अधिकरण में ज्ञान होना ही भ्रम है । जैसे कि रजतत्व रजत अधिकरण में ही रह सकता है शुक्ति रूपी अधिकरण में कदापि नहीं । फिर भी यदि शुक्ति अधिकरण में रजतत्व का जहाँ पर ज्ञान होगा वह भ्रम होगा । परन्तु ईश्वर के ज्ञान में व्यधिकरणप्रकारकत्व का अभाव है, क्योंकि वह इस ज्ञान को कि-इस व्यक्ति का ज्ञान शुक्तिविशेष्यक रजतत्वप्रकारक है-जानता है, एवं उसका यह ज्ञान यथार्थ ही है । अतः ईश्वर के ज्ञान में व्यधिकरण प्रकारकत्वाभाव के कारण अप्रमात्व नहीं है । अतः ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है ।

1- न चेश्वर ज्ञानस्य भ्रमविषयावगाहित्वेन भ्रमत्वापत्तिरिति वाच्यम् । व्यधिकरणप्रकारकत्वाभावेन अप्रमात्वाभावात् । भ्रमनिष्ठं शुक्तिविशेष्यकत्वं रजतत्वप्रकारकत्वं च सदेव तदवगाहितया ईश्वरज्ञानस्य न प्रमात्वापत्तेः ।

विवृति पृ० 166

6- <u>ईश्वर नित्य ज्ञानवान् है</u> -

न्यायवैशेषिकानुयायी ईश्वरगत ज्ञान को नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर को होने वाला ज्ञान नित्य इसलिए है क्योंकि वह ज्ञान किसी से जन्य नहीं है। चूंकि शरीराधिष्ठित इन्द्रियजन्य ज्ञान ही अनित्य देखे जाते हैं परन्तु ईश्वर में शरीराभाव होने के कारण उसमें इन्द्रियों का अधिष्ठान संभव नहीं है। अतः तज्जन्य ज्ञान भी ईश्वर में नहीं है। अनित्यज्ञान के लिए इन्द्रियार्थ संनिकर्ष का होना आवश्यक है, अर्थात् जो-जो ज्ञान इन्द्रियार्थसंनिकर्षज होगा, वही-वही ज्ञान अनित्य भी होगा जैसे कि अस्मदादिक शरीरधारियों का ज्ञान होता है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियार्थसंनिकर्षज नहीं होता क्योंकि उसमें शरीराभाव होने से इन्द्रियों का भी अभाव होता है। अतएव इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष का भी अभाव होने से तज्जन्य अनित्य ज्ञान का भी अभाव सिद्ध होता है।

उदयनाचार्य ईश्वरगत ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर का ज्ञान अनित्य इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वह ईश्वर अशरीरी है। अनित्यज्ञान और शरीर में कार्यकारणभाव पाया जाता है अतएव शरीररूप कारणाभाव में कार्यस्वरूप अनित्यज्ञान का भी अभाव निश्चित है। अतः उसका ज्ञान नित्य होगा।[1] उनका कहना है कि यदि ईश्वरज्ञान कार्य होता तो

1- न तावद् देहव्यतिरेकेऽनित्यज्ञानं संभवः, तयो कार्यकारणभाव नियमात्। ततो नित्यं भवेत् ततः सर्वविषयं च। आ०त०वि०पृ०399

वह अनित्य होता । परन्तु ईश्वरज्ञानजन्य तो है नहीं क्योंकि शरीराभाव में शरीराश्रित इन्द्रियों का भी ईश्वर में अभाव है जबकि इन्द्रियाँ ही ज्ञानोत्पत्ति की हेतु हैं । अतः हेत्वभाव में जन्यज्ञान की भी उत्पत्ति असंभव है ।[1]

न्यायमञ्जरीकार श्री भट्टजयन्तभट्ट का कहना है कि यदि ईश्वर को क्षण भर के लिए भी अज्ञाता मान लिया जायेगा तो उसकी इच्छा से प्रेर्यमाण कर्मों के अधीन होने वाले नाना प्रकार के व्यवहार के विलोप का प्रसङ्ग उपस्थित होने लगेगा ।[2] उनका कहना है कि यदि कोई यह कहे कि प्रलय की वेला में ईश्वरगत ज्ञान के नित्यत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है ? तो यह आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रलयपर्यन्त उसके ज्ञान की नित्यता के सिद्ध हो जाने पर प्रलयकाल में भी उसके विनाश के कारणों का अभाव होने से उसके समान ही उसके ज्ञान की भी नित्यता रहेगी । पुनः सर्गकाल में तदुत्पत्ति के कारणों का अभाव होने से भी उसके ज्ञानों की नित्यता बनी रहेगी ।[3] अतः उस ईश्वर का ज्ञान अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहितादि समस्त वस्तुविषयक होने पर भिन्न अर्थात् अनेक नहीं है, क्योंकि ऐसा न मानने पर कर्मों के योगपद्य के विकल्प की अनुपपत्ति

1- सम्भवेदपि यदि कार्यमस्य ज्ञानं स्यात्, न च तत्तथा । कथमिति चेत्,शरीरापाये तदाश्रितानामिन्द्रियादीनामपाभात् । आ०त०वि०पृ०424

2- तस्मिन् क्षणमप्यज्ञातरि सति तदिच्छाप्रेर्यमाणकर्माधीननानाप्रकारव्यवहारविराम-प्रसङ्गात् । न्या०म०भाग । पृ0282

3- आप्रलयात् सिद्धे नित्यत्वे तदा विनाशकारणाभावादस्यात्मन इव तज्ज्ञानस्य नित्यत्वं सेत्स्यति । पुनश्च सर्गकाले तदुत्पत्तिकारणाभावादपि नित्यत्वं तज्ज्ञानानाम् । न्या0म0भाग । पृ0 282

होती है । यदि कर्मों के क्रम को स्वीकार किया जायेगा तो कभी उसमें अनानृत्व होने पर व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग होगा ।[1]

विवृतिकार श्री हरिदास भट्टाचार्य का भी कहना है कि सर्गादि में द्व्यणुक के परिमाण का हेतुभूत परमाणु में रहने वाली द्वित्व संख्या अस्मदादि की अपेक्षाबुद्धि से जन्य नहीं है, इसलिए उस समय की अपेक्षा बुद्धि ईश्वर की माननी होगी । अतः 'विश्वविदव्ययः' इस वाक्य से विशिष्ट का नित्यत्व अर्थात् अव्ययत्व साध्य होने से ईश्वर के नित्यसर्वविषयक ज्ञान की सिद्धि होती है ।[2] कुसुमाञ्जलि-कारिका व्याख्याकार श्री नारायणतीर्थ ने 'कार्यायोजन०'[3] इत्यादि की व्याख्या में उपर्युक्त अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहा है कि कार्यत्व, आयोजनत्व, धृतित्व आदि-पदत्व, प्रत्ययत्व, वाक्यत्व, संख्याविशेषत्वात्मक अनेक प्रकार के हेतुओं से प्रयोज्य अनुमिति का विषय विश्वविषयक नित्य ज्ञान का आश्रय नित्य ईश्वर है-यह इस सम्पूर्ण कारिका का अर्थ है ।[4] उनका कहना है कि यहाँ विश्वविषयक ज्ञान में नित्यत्व विशिष्ट के भी अन्वय का बोध होता है ।[5]

1- एवञ्च तत् अतीतानागतक्रमव्यवहितादिसमस्तवस्तुविषयम् न भिन्नम्, कर्मयौगपद्यविकल्पानुपपत्तेः । क्रमाश्रयणे क्वचिदनानृतं स्यादिति व्यवहारलोपः ।
न्या०म०भाग । पृ० 282

2- सर्गादौ द्व्यणुकपरिमाणहेतुपरमाणुनिष्ठद्वित्वसंख्या नास्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजन्या अतस्तदानीन्तनापेक्षाबुद्धिरीश्वरस्यैवेति । "विश्वविदव्ययः" इति विशिष्टस्याव्ययत्वं, तेन नित्यसर्वविषयकज्ञानसिद्धिः । विवृति पृ० 174

3- न्या० कुसु० 5/1

4- तथा च कार्यत्वायोजनत्वधृतित्वादिपदत्वप्रत्ययत्ववाक्यत्वसंख्याविशेषत्वात्मकबहुविधहेतुप्रयोज्यानुमितिविषयो विश्वविषयकनित्यज्ञानाश्रयो नित्येश्वर इति सम्पूर्णकारिकार्थः । कुसु०का०व्या०पृ०69

5- अत्र विश्वविषयकज्ञाने नित्यत्वविशिष्टस्याप्यन्वयो बोध्यः । कुसु०का०व्या०पृ०69

न्यायकन्दलीकार का कहना है कि ईश्वर में बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न इन सबों का नित्यत्व भी युक्ति विरुद्ध नहीं है, क्योंकि आश्रय के भेद से रूपादि गुणों की नित्यता और अनित्यता दोनों प्रकार की गति देखी जाती है। अतः बुद्ध्यादि भी जीव और ईश्वर रूप आश्रयों के भेद से अनित्य और नित्य दोनों प्रकार की होंगी।[1]

7- ईश्वर नित्य मुक्त है -

न्याय-वैशेषिकानुयायी ईश्वर को नित्य मुक्त स्वीकार करते हैं। न्यायकन्दलीकार का कहना है कि वे बद्ध तो नहीं है क्योंकि उनमें बन्धन के कारणस्वरूप क्लेशकर्मादि का अभाव है, एवं वे मुक्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि मुक्ति और बन्धविच्छेद दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। वे नित्यमुक्त हो सकते हैं, जैसा कि भगवान पतञ्जलि ने भी "क्लेशकर्मविपाकाशयैः" इत्यादि सूत्र से कहा है।[2]

1- न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद् विरोधः। दृष्टा हि रूपादीनां गुणानामाश्रयभेदेन द्वयी गतिः -नित्यतानित्यता च। तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यतीति। न्या०क०पृ० 140

2- न तावद् बद्धः बन्धनसमाजातस्य बन्धहेतोः क्लेशादेरसम्भवात्। मुक्तोऽपि न भवति बन्धविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तेः। नित्यमुक्तस्तु स्यात्, यदाह तत्रभवान पतञ्जलिः "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" इति। न्या०क० पृ० 142

महर्षि व्यास भी ईश्वर को नित्य मुक्त मानते हैं । उनका भी कहना है कि यद्यपि कैवल्य प्राप्त कर चुकने वाले बहुत से केवली होते हैं, परन्तु उन्होंने प्राकृतिक वैकारिक और दक्षिणा इन तीन बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त किया है । परन्तु ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध हुआ और न कभी होगा । जैसे मुक्त पुरुष की पूर्वकाल में बन्धन की स्थिति प्रकट होती है, वैसी ईश्वर की नहीं। ईश्वर तो सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है ।[1]

8- ईश्वर रागादि मलों से रहित है -

न केवल न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुयायी अपितु समस्त ईश्वरवादी सम्प्रदाय ईश्वर को रागादि मलों से रहित मानते हैं । उन सब के अनुसार ईश्वर इसलिए इन सभी दोषों से दूर है क्योंकि वह सर्वज्ञ है । वह सर्वज्ञ होने के कारण सभी पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है । न्याय-मञ्जरीकार के अनुसार वह ईश्वर परम ज्ञाता, नित्य आनन्दयुक्त, कृपालु एवं क्लेश,कर्म,विपाकादि परामर्श से रहित है ।[2] उनकाकहना है कि पुरुषों के असर्वज्ञ होने से ही उसमें रागादि मल

1- कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते,नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । यो०भा० 1/24

2- स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्द कृपान्वितः ।
क्लेशकर्म विपाकादिपरामर्शविवर्जितः ।। न्या०म०भाग,1 पृ० 267

का बन्धन होता है । परन्तु ईश्वर में उसके सर्वज्ञ होने से रागादि का स्पर्श भी नहीं होता । दुष्टानिष्ट पदार्थों के भोग के प्रति शरीरी ही उद्यत होते हैं । परन्तु जो नित्य आनन्दात्मक एवं शिव है उसमें रागादि दोष कैसे हो सकते हैं ?[1] चूंकि रागादिदोष मिथ्याज्ञानमूलक हैं अतएव वे नित्य निर्मल ज्ञानवान् ईश्वर में कैसे रह सकते हैं ?[2]

न्यायकन्दलीकार ने भी कहा है कि ईश्वर चूंकि सर्वज्ञ है, किसी भी विषय का कोई भी विशेष उसको अज्ञात नहीं है । अतः विषयों के अज्ञान से ~~होने~~ ~~वाला~~ उत्पन्न होने वाला मिथ्याज्ञान भी उसमें नहीं हैं । इसी कारण से उसमें मिथ्याज्ञानमूलक राग और द्वेष भी नहीं है । अतएव राग और द्वेष से होने वाली प्रवृत्तियाँ भी उसमें नहीं हैं, फिर प्रवृत्ति, धर्म और अधर्म की उसमें सत्ता कैसे हो सकती है ? धर्म और अधर्म के न रहने से उसमें सुख और दुःख भी नहीं है । सर्वदा सभी विषयों के अनुभव के रहने के कारण उनमें स्मृति और संस्कार भी नहीं है ।[3]

1- पुंसामसर्ववित्त्वं हि रागादिमलबन्धनम् ।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित् ।।
दुष्टानिष्टार्थसम्भोगप्रभवाः खलु देहिनाम् ।
रागादयः कथन्ते स्युर्नित्यानन्दात्मके शिवे ।। न्या०म०भाग०।पृ०282

2- मिथ्याज्ञानमूलाश्च रागादयो दोषास्ते कथं नित्यनिर्मलज्ञानवतीश्वरे भवेयुः ?
न्या०म०भाग।पृ०282

3- अतो न तस्मिन्विषयं मिथ्याज्ञानम्, मिथ्याज्ञानाभावे च न तन्मूलौ रागद्वेषौ, तयोरभावान्न तत्पूर्विका प्रवृत्तिः, प्रवृत्यभावे च न तत्साध्यौ धर्म्माधर्म्मौ तयोरभावात् तज्जयोरपि सुखदुःखयोरभावः, सर्वदैवचानुभवसद्भावात् स्मृतिसंस्कारावपि नासाते इति । न्या०क०पृ०।42

उदयनाचार्य ने भी कहा है कि ईश्वर में दोषाभाव के कारण दुर्जनता नहीं है क्योंकि कुटिलता का कारण रागादिदोष है । ईश्वर में दोषों का सर्वथा अभाव इसलिए है क्योंकि उसमें मोह नहीं है एवं उसमें मोह इसलिए नहीं है क्योंकि उसमें सर्वज्ञता है ।[1]

उपर्युक्त प्रकार से विवेचित ईश्वरके स्वरूप के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिका-नुयायी ईश्वर को परम कृपालु एवं सर्वथा स्वतन्त्र तथा नित्य ऐश्वर्यमुक्त और आप्त स्वीकार करते हैं । उनका मानना है कि ईश्वर जीवों पर कृपा करके उनको मुक्त कराने के उद्देश्य से ही इस संसार की सृष्टि करता है एवं वेदों का उपदेश करता है । अपने इन कार्यों के करने में वह स्वतन्त्र है वह परतन्त्र होकर इस संसार की रचना एवं वेदों का उपदेश नहीं करता, अपितु वह अपने इन कार्यों के प्रति पूर्ण स्वतन्त्र है एवं इन कार्यों के करने में वह कभी ऐश्वर्यमुक्त नहीं होता । मैं इस विषय में यहाँ पर पुनरावृत्ति के भय से ज्यादा प्रकाश नहीं डाल रहा क्योंकि मेरे द्वारा ईश्वर की कृपालुता, एवं उसकी स्वतन्त्रता के विषय में तृतीय अध्याय में तथा उसकी आप्तता के विषय में चतुर्थ अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचन किया जा चुका है ।

1- अथ दौर्जन्यादेव किं नैवमिति चेत्, न दोषाभावात्, तदभावश्च मोहाभावात्, तदभावोऽपि सर्वज्ञत्वादिति ।

आ०त०वि०पृ०422-23

अष्टम अध्याय

उपसंहार

(अष्टम अध्याय)

उपसंहार

न्याय-वैशेषिक दर्शन सर्वसाधारण का दर्शन है । सामान्य प्रतिभा और अनुमानात्मक प्रज्ञा जिन बातों का अस्तित्व सहज ही स्वीकार कर लेती है उन्हीं के प्रदर्शन की युक्तिपूर्वक चेष्टा न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन कीआधार शिला है । भारतीय जनमानस में ईश्वर जैसी किसी परा-शक्ति में अटूट आस्था की सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है । यद्यपि बीच-बीच में ईश्वर-विरोधी विचारधाराएं भी किसी कालखण्ड और किसी देशभाग में सिर उठाती दिखाई पड़ती है फिर भी ईश्वरवाद की अजस्र अप्रतिहत गति और वेगवती स्रोतस्विनी के सामने में विचारधारायें बालू की भीत की तरह समाप्त होती रही हैं ।

चूंकि भारतीय जनमानस धार्मिक विचारों से ओतप्रोत है । अतः यदि धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो भी धर्म के आधार रूप में ईश्वर की सत्ता सुनिश्चित होती है कारण कि धर्म का आधार ईश्वर ही है । धर्म के क्षेत्र में ईश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है । ईश्वरवाद की कल्पना केवल न्याय-वैशेषिकों की ही नहीं है अपितु पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति में परिगणित किये जाने वाले समस्त धर्मों में से अधिकांश धर्म ईश्वरवाद का खुलकर समर्थन करते हैं । अधिकांश ऐतिहासिक धर्मों का अस्तित्व भी ईश्वरसत्तामूलक है । हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म और पारसी धर्म में भी ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास

किया गया है, क्योंकि इन विभिन्न धर्मानुयायियों में भी ईश्वर के प्रति श्रद्धा प्रेम एवं समर्पण की भावना देखने को मिलती है । इसी लिए ये समस्त धर्मानुयायी ईश्वर के प्रति धार्मिक व्यवहार यथा पूजा, अर्चना, प्रार्थना, कर्मकाण्ड आदि क्रियाएं भी करते हैं ।

यदि धर्म को ईश्वर मूलक न स्वीकार करके उसे स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जायेगा तो फिर उस धर्म विशेष के निर्मूल सिद्ध होने पर वह अस्तित्वहीन एवं अविश्वसनीय हो जायेगा, तथा उस धर्म के प्रति किसी की निष्ठा नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक धर्म पर लोगों की जो निष्ठा जुड़ी हुई है वह ईश्वरमूलक होने से अर्थात् ईश्वरोक्त होने से ही है । यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर मनुष्य किस शक्ति के प्रति अपने विश्वास और भावनाओं को प्रकट करने के लिए धर्माचरण करेगा । इसीलिए विभिन्न धर्मानुयायियों के द्वारा धर्म की जितनी परिभाषाएं दी गयी है उनमें अधिकांश रूप में ईश्वर की सत्ता का उल्लेख किया गया है । वे धर्मानुयायी चाहे पाश्चात्य विचारक हो अथवा भारतीय विचारक हों । सभी धर्मानुयायी धर्म के उपदेष्टा पुरुष के वचनों पर विश्वास करके उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर उसकी समता प्राप्त करना चाहते हैं । अतः धर्म ईश्वर से मिलने का साधन है । पाश्चात्य धर्मविचारकों में डेकार्ट, लाक, बर्कले, प्रिंगल,पेटीशन, सोरले,फिलन्ट और जेम्सवार्ड आदि दार्शनिक ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करते हैं जबकि भारतीय दार्शनिकों में नैयायिक, वैशेषिक,वेदान्ती एवं योगानुयायी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं । वेद, पुराण, उपनिषद् तथा गीता में तो ईश्वर का ही गुणगान किया गया है ।

विभिन्न धर्मानुयायियों के द्वारा ईश्वर की सत्ता को अनिवार्य रूप से स्वीकार करनेके कारण यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के अभाव में धर्म की सत्ता ही सम्भव नहीं है । कुछ ऐसे धर्म अवश्य है जो कि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करते हुए भी धर्म पर विश्वास करते हैं जैसे कि बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म । परन्तु ऐसे अनीश्वरवादी यद्यपि ईश्वर में विश्वास नहीं करते, परन्तु उनका भी किसी शक्ति या मानवीय मूल्यों में तो अवश्य ही विश्वास रहता है । अतएव यह कहा जा सकता है कि अनीश्वरवादी भी किसी न किसी रूप में ईश्वर में आस्था रखते ही हैं, क्योंकि मानवीय मूल्य ईश्वरीय गुणों के ही पर्याय कहे जा सकते हैं ।

नैयायिकों का यह कहना ठीक ही है कि संसार ईश्वर-रचित है, क्योंकि संसार की रचना किसी सर्वज्ञ चेतन प्रयत्न के द्वारा ही सम्भव है । ईश्वर ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जो कि संसार की रचना करने में सक्षम है। कारण कि वह नित्य, सर्वज्ञ, अशरीरी, नित्य प्रयत्नवान एवं परम कृपालु है । वेदों का प्रामाण्य भी उनके ईश्वरकर्तृक होने से ही है, क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के सर्वज्ञ होने में प्रमाण नहीं है, जबकि किसी सर्वज्ञ की रचना ही प्रामाणिक हो सकती है । ईश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि उसके भूत, भविष्य एवं वर्तमान का अर्थात् सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक विषयों का ज्ञान होने से होती है । ईश्वर को स्वीकार करने से वर्ण व्यवस्था का सन्चालन, शब्दसङ्केतग्रह एवं घटादि वस्तुओं के निर्माण की परम्परा का भी निर्वाह हो जाता है । यदि ईश्वर को अस्वीकार कर दिया जायेगा तो उपर्युक्त में से कोई भी कार्य नहीं हो सकेगा । ईश्वराभाव में अस्मदादि जैसे लोगों से न तो संसार की उत्पत्ति हो सकती है और न तो

वेदों का प्रामाण्य ही सुनिश्चित हो सकता है क्योंकि हम जैसे अल्पज्ञों से ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि हम इस अचिन्तनीय संसार की, एवं अतीन्द्रिय विषयों का उल्लेख करने वाले वेदों की रचना कर सकें। ईश्वराभाव में वर्णव्यवस्था का सञ्चालन भी असम्भव है क्योंकि सर्गादि के समय ब्राह्मणादि वर्णों का कोई निर्धारक नहीं रहेगा। क्योंकि ब्राह्मणादि वर्णों का निर्धारण उनके माता-पिता के कारण ही होता है जब कि प्रलय के बाद सृष्टि के समय किसी की भी सत्ता नहीं रहती जिससे कि उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली सन्तान को तत्-तत् वर्ण से जाना जाय।

यदि ईश्वर को अस्वीकार कर दिया जायेगा तो न तो यही निश्चित हो पायेगा कि कौन सा शब्द किस अर्थ को ज्ञापित करता है और न तो घटादि कार्यों का निर्माण कार्य ही सम्भव हो सकेगा, क्योंकि ये दोनों कार्य वृद्ध व्यवहार पूर्वक होते है, जब कि सर्गादि के समय किसी भी वृद्ध का अभाव होता है। अतः शब्द सङ्केत एवं घटादि जैसे निर्माण कार्य की जो परम्परा चल रही है वह ईश्वराभाव में सम्भव नही है।

नैयायिकों की निमित्तेश्वर कारणवाद की कल्पना महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के द्वारा ईश्वर के स्वरूप और उसकेगुणों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही ईश्वर का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है यह भी स्पष्ट हो जाता है। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये गये हैं। कुछ लोगों के अनुसार ईश्वर जगत् का केवल उपादान कारण है जैसे दूध दही का उपादान कारण है तो कुछ विचारकों के मत में

ईश्वर जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है जैसे मकड़ी स्व-निर्मित जाले के प्रति उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है । परन्तु न्याय-वैशेषिकों की दृष्टि से ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है जैसे कि बढ़ई मेज का केवल निमित्त कारण है । उनके मतानुसार जगत के उपादान कारण अचेतन परमाणु हैं । अतः उनके अनुसार चेतन ईश्वर अचेतन परमाणुओं से संसार की रचना करता है । उनके अनुसार यह संसार अपने उपादान कारण स्वरूप परमाणुओं के रहते हुए भी अपनी उत्पत्ति के लिए ईश्वर पर निर्भर है । जिस प्रकार चेतन ईश्वर अचेतन परमाणुओं से संसार की रचना करता है इसी प्रकार वह इस अचेतन संसार की स्थिति एवं प्रलय के लिए भी अवश्य स्वीकरणीय है ।

अतः नैयायिकों का ईश्वरसत्ताविषयक विचार धार्मिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से उचित कहा जा सकता है । ईश्वरवाद के आधार पर इस समस्या का भी समाधान स्वयमेव हो जाता है कि जो संसारगत अन्यान्य जीवों में सुख दुःख का जो तारतम्य है वह उन जीवों के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल है एवं ईश्वर जीवों के द्वारा किये गये कर्मों का ही फल इन जीवों को देता है । इस ईश्वरवाद के आधार पर नैयायिकों के कार्यकारणवाद की भी समीचीनता स्पष्ट हो जाती है । नैयायिकों के मत में जीव ईश्वर के साथ बँधा भी हुआ है एवं स्वतन्त्र भी है जिस प्रकार कि खूँटे में बँधी हुई गाय खूँटे के आस-पास घूमने के लिए स्वतन्त्र भी है, परन्तु फिर भी बँधी हुई है । इसी प्रकार जीव कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है परन्तु वह स्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए विवश भी है ।

न्याय-वैशेषिकों का ईश्वरवाद वैदिक मान्यताओं के अनुरूप ही है । यद्यपि यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक युग में ईश्वर के स्वरूप का गुणगान प्राकृतिक शक्तियों के रूप में किया गया है । अतः वहाँ पर ईश्वर का स्वरूप न्याय-वैशेषिकों के ईश्वर के सदृश तो नहीं है क्योंकि वहाँ पर प्रकृति की अनेक शक्तियों के आधार पर उनके अनेक अधिष्ठाताओं की कल्पना की गई है । अतएव उस समय अनेकेश्वरवाद की मान्यता प्रचलित थी । वेदों में सूर्य, अग्नि, उषा, पृथ्वी, इन्द्र, चन्द्र, मरुत् इत्यादि अन्यान्य देवी देवताओं की कल्पना करके यह स्वीकार किया गया है कि विभिन्न प्राकृतिक घटनायें इन्हीं देवताओं के कारण ही घटित होती है । अतः इस प्रकार की धारणा के आधार पर ही वैदिक लोग वर्षा के लिए इन्द्र की पूजा और समुद्र यात्रा के लिए नेपचुन की पूजा करते थे । परन्तु वैदिक युग में भी अनेक देवताओं में से कभी-कभी एक ही देवता को श्रेष्ठ मानकर प्रधानरूप से उसी की पूजा की जाती थी । शायद इसी आधार पर कालोपरान्त अनेक देववाद के स्थान पर एकदेववाद की धारणा को बल मिला होगा एवं उसी प्रधान एक देव को ही ईश्वर की संज्ञा दी गई होगी । कुछ लोगों का मन्तव्य है कि वैदिक ऋषि विभिन्न देवी देवताओं को एक ही सत्ता के विभिन्न आकार मानकर उनको अलग-अलग नामों से अभिहित करते थे । ऐसा कहने वाले लोगों के मन्तव्य की पुष्टि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यादि वैदिक मन्त्रों से भी होती है । अतः इसी आधार पर नैयायिकों की एकेश्वरवाद विषयक अवधारणा भी सर्वथा उचित एवं वेदसम्मत है क्योंकि वैदिक धर्म में भी प्रधानरूप से एकेश्वरवाद की ही स्थापना की गई है-अनेकेश्वरवाद की नहीं

जैसा कि कहा जा चुका है कि केवल न्याय-वैशेषिकानुयायी ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते अपितु भारतीय दर्शन में वेद को प्रामाण्य मानने वाले जितने सम्प्रदाय हैं उनमें मीमांसा को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जगत्सृष्टि के लिए ईश्वर की आवश्यकता को महसूस करते हैं। यहाँ तक सांख्य शास्त्र में भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया गया है। यद्यपि सांख्य शास्त्र के विरोधी उस पर निरीश्वरवादी होने का आक्षेप करते हुए कहते हैं कि महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्रों में ईश्वर का खण्डन किया है। ऐसे लोगों का मानना है कि सांख्य शास्त्र में प्रकृति को ही जगत् की उत्पत्ति का कारण माना गया है, ईश्वर का कहीं जिक्र नहीं किया गया। दूसरी बात यह भी है कि सांख्यशास्त्र में वर्णित पच्चीस तत्वों में से चौबीस तत्व प्रकृति के हैं और पच्चीसवाँ तत्व जो पुरुष है वह जगत्कर्ता नहीं अपितु साधारण जीव प्रतीत होता है।

परन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो सांख्यशास्त्र अनीश्वरवादी नहीं है। सांख्यसूत्र के सूत्रों का मनन करने पर उसको अनीश्वरवादी कहना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि साम्प्रदायिक विवादों में प्रतिपक्षी को हराने के लिए हर तरह की युक्तियाँ और वादों को तोड-मरोड़ कर मनमाना अर्थ निकालने का प्रयास किया जाता है। यदि निष्पक्षरूप से जिज्ञासु व्यक्ति के द्वारा सांख्य शास्त्र के विरोधियों के खण्डन मण्डन को महत्त्व न देकर ठीक से मनन किया जाय तो सांख्य शास्त्र भी ईश्वरवादी सिद्ध होता है क्योंकि सांख्यसूत्र में भी कहा गया है कि चराचर जगत् अपनी उत्पत्ति के लिए पराधीन है अतः उसकी रचना ईश्वर

की प्रेरणा से हुई है ।[1] आगे कपिल ने कहा है कि वह ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है ।[2] अगले सूत्र में ईश्वर की सत्ता को भी सिद्ध मानते हैं ।[3] अतः मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त सभी वैदिक भारतीय दर्शनों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है ।

परन्तु आज हम वैज्ञानिक युग में जी रहे हैं । विभिन्न भौतिक खोजों और प्रयोग परक आविष्कारों ने भारतीय धर्म और दर्शन के अनेक सिद्धान्तों को पुनर्विवेचित करने को विवश कर दिया है । एक ओर कार्ल मार्क्स जैसा विचारक जिसने अपनी समाजवादी धर्मविहीन,अनीश्वरवादी मान्यता से पूरी दुनियां को न केवल चकाचौंध कर दिया है बल्कि विश्वकी विशाल आबादी को अपनी विचारधारा का अनुगमन करने को भी विवश किया है । दूसरी ओर नीत्शे की ईश्वर मर चुका है जैसी घोषणा और फ्रायड आदि विभिन्न मनो-वैज्ञानिकों के विचार के सामने विश्व नतमस्तक हैं । अर्वाचीन दार्शनिकों के विचार गणित और भौतिकी के अन्यान्य आविष्कारों से प्रभावित होते रहे हैं, जिससे वैज्ञानिक आविष्कारों के ऐतिहासिक क्रम से ही दार्शनिक विचारों में भी परिवर्तन आता रहा है । यह सत्य है कि वैज्ञानिक खोजों के द्वारा ईश्वर

1- अकार्यत्वेत तद्योगः पारवश्यात् । सा0सू03/55

2- स हि सर्ववित् सर्वकर्ता । सा0सू03/56

3- ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । सा0सू0/3/58

का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सका । इसलिए एक बार फिर विश्व के समस्त विचारकों के सामने एक चुनौती उपस्थित हो गई है कि धर्म और आस्था से जुड़े हुए ईश्वर जैसे तत्त्व को कैसे स्वीकार किया जाय ? यहाँ तक बहुत से लोग ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए भी जगत्सन्चालन में किसी प्रकार का संकट नहीं देखते । उनके अनुसार यह संसार और इसकी रचना उसके नानाविध जीवों, उनके कर्मों और फल भोग आदि का किसी ईश्वर जैसी सत्ता से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । विभिन्न भौतिकीय घटकों के विशेष परिस्थितियों में संयोजन और वियोजन से सब प्रकार के जागतिक नियम नियन्त्रित होते हैं । इसलिए ईश्वर की अवधारणा को नकार देना ही उपयुक्त है ।

यह सही है कि किसी भी वैज्ञानिक ने अब तक अपने किसी आविष्कार अथवा दूरबीन आदि यंत्र विशेष के द्वारा ईश्वर का साक्षात् अनुभव नहीं किया, फिर भी कतिपय आविष्कारों के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध न होने पर भी ईश्वर को असिद्ध नहीं माना जा सकता । वैदिक ऋषियों ने योगज प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का या किसी पराशक्ति का साक्षात्कार किया था। उपनिषदें उस तत्त्व को सकारात्मक रूप से कह पाने में या वर्णित करने में जब असमर्थ हो गई तो निषेधमुखेन उसका व्यपदेश करने में निरंतर प्रवृत्त रहीं । जिस तत्त्व को मन, वाणी से परे माना गया है उस अभौतिकीय तत्त्व का भौतिक उपादानों से सिद्ध किया जाना क्या कभी भी संभव होगा ? अस्तु जब तक कि किसी वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा ईश्वर का साक्षात् खण्डन न कर दिया जाय, तब तक ईश्वर जैसी अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाने का अवसर नहीं है । यह हो सकता है कि यदि वैज्ञानिक उपनिषदों की ही तरह उस पराशक्ति का निषेध मुखेन आविष्कार

करें तो समस्त भौतिक तत्त्वों का आविष्कार करते-करते जो कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों की विजयसूची से बच जाय, ऐसी ईश्वर जैसी सुदृढ अवधारणा को वैज्ञानिक जगत सिद्ध स्वीकार कर ले ।

चूँकि न्याय-वैशेषिकदर्शन सफल और सार्थक दुनियादारी का दर्शन है । संसार में यथार्थ और आदर्श का सन्तुलन हमेशा से बना रहा है । आदर्श समाज की स्थापना और आदर्श व्यक्ति का निर्माण यही दो परम लक्ष्य मानवता के हो सकते हैं । किसी समय हमारे ऋषियों ने दोनों लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर वर्ण और आश्रम की व्यवस्थाओं को जन्म दिया था । ऐसा लगता है कि भौतिक संसाधनों की आड़ में हम अपने लक्ष्य से भटके जा रहे हैं और भोगात्मक प्रबल इच्छा शक्ति तथा अहङ्कार प्रदर्शन आज हमारे लक्ष्य हो गये हैं, जिसका परिणाम है कि आज व्यक्ति से व्यक्ति का टकराव बढ़ गया है एवं व्यक्ति के अहङ्कार ने आदर्श समाज की संरचना के लक्ष्य को जोरदार ठोकर मारी है । आज पूरी मानवता संत्रस्त और उद्वेलित है । ऐसे में न्याय-वैशेषिक काईश्वर जो कृपा, करुणा, दयाऔर अगम्यमयमित्व का घनीभूत रूप है, इस कम्पित मानवता को सहारा दे सकता है । सच तो यह है कि हमें परस्पर सौहार्द और विश्वास की भावना से काम लेना है । श्रद्धा और विश्वासरूप मानव मूल्यों को पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने समय-समय पर स्वीकृति प्रदान की है एवं श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र ईश्वर से भिन्न और कोई हो नहीं सकता । यदि हम ईश्वर पर विश्वास नहीं करेंगे तो हम न केवल दूसरे लोगों पर अविश्वास करेंगे अपितु स्वयं अपने पर

भी दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना हमारे लिए असम्भव हो जायेगा । मनुष्य का यह अहङ्कार कि ईश्वर नहीं है पूरी मनुष्यता को निगल जायेगा । सम्भवतः इसी लिए राधाकृष्णन जैसे महान् दार्शनिक को मानव की उस विश्वास परक खोज के सामने नतमस्तक होना पड़ा जिसने ईश्वर जैसे विचार को विकसित किया। इसलिए जब तक मनुष्य का मनुष्य से काम पड़ेगा, जब तक मनुष्य समाज में रहेगा और जब तक मनुष्य सामाजिक प्राणी बना रहेगा तब तक ईश्वर-विषयक उसके विचार उसके लिए अपरिहार्य बने रहेंगे । जब-जब समाज में महान् सामाजिक आर्थिक,प्राकृतिक किसी भी प्रकार के विप्लव सामने आयेंगे, जब-जब व्यक्ति अथवा समूह की किसी दूसरे व्यक्ति या समूह से टकराहट होगी, जब-जब व्यक्ति का सामना किसी आकस्मिक, अलक्ष्य, सुख अथवा दुःख प्रधान संवेदन से होगा और जब-जब मनुष्य के मन में मानवता को आदर्श के द्वारा आगे बढ़ाने की ललक उत्पन्न होगी तब-तब न्याय-वैशेषिक का ईश्वरदर्शन उसके लिए आकाशदीप का कार्य करेगा।

संदर्भग्रन्थ सूचिका

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
अथर्ववेद	-	-
अध्यात्म-रामायण	-	-
अनर्घ राघव	मुरारिमिश्र	-
अभिधान चिन्तामणि	-	-
अर्थशास्त्र	कौटिल्य	-
अष्टाध्यायी	पाणिनि	रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत
आत्मतत्वविवेक	उदयनाचार्य	जवाहर नगर वाराणसी
आप्तनिश्चयालंकार	-	-
आपस्तम्बसूत्र	-	-
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा	श्रीमदुत्पलदेवाचार्य	माधवानन्द आश्रम गुजरात
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	" "
उपस्कार	शंकरमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
कठोपनिषद्	-	गीताप्रेस गोरखपुर
कणादगौतमीयम्	-	भारतीय संस्कृत भवन जालन्धर

कणादरहस्यम्	शंकरमिश्र	चौखम्भा वाराणसी
कबीरग्रन्थावली	कबीर	-
कारिकावली (भाषापरिच्छेद)	विश्वनाथ	श्री हरिकृष्णनिबन्ध-भवनम् वाराणसी
काशिका	जयादित्य एवं वामन	-
किरणावली	उदयनाचार्य	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी
किरणावली-प्रकाश	वर्धमान	ए०सो०कलकत्ता
किरणावली भास्कर	पद्मनाभमिश्र	-
कुसुमाञ्जलि-कारिका-व्याख्या	नारायणतीर्थ	कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी
कौषीतकि उपनिषद्	-	संस्कृति संस्थान बरेली
कृष्णाष्टकम्	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर
गान्धर्वतन्त्र	-	-
गूढार्थदीपिका (भगवद्गीता की टीका)	मधुसूदन	-
चन्द्रकान्तभाष्य	चन्द्रकान्त	गुजराती प्रेस
जैमिनि सूत्र	जैमिनि	-
टिप्पणी	बच्चा झा	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
तत्त्वकौमुदी	वाचस्पतिमिश्र	प्रेम प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित	बौद्धभारती, वाराणसी

तत्वसंग्रह-पञ्चिका	कमलशील	बड़ौदा
तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	आनन्दाश्रम पूना
तर्कभाषा	केशवमिश्र	साहित्यभण्डार मेरठ
तार्किकरक्षा	वरदाचार्य	-
तैत्तिरीय आरण्यक	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
दुर्गासप्तशती	-	गीता प्रेस गोरखपुर
न्यायकणिका	वाचस्पति मिश्र	-
न्यायकन्दली	श्रीधरभट्ट	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि०वाराणसी
न्यायकन्दलीपञ्जिका	राजशेखर	-
न्याय-कुमुदचन्द्र	-	बम्बई
न्याय-कुसुमाञ्जलि उ	उदयनाचार्य	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
न्याय कोश	झल्कीकर मीमांसकाचार्य	दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना
न्यायभाष्य	वात्स्यायन	बौद्धभारती, वाराणसी
न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्ट	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी
न्याय-रत्नाकर	पार्थसारथि मिश्र	चौखम्भा संस्कृत सिरीज
न्याय-रत्नावली	वासुदेव	चौखम्भा वाराणसी

न्यायलीलावती	श्री वल्लभ	चौखम्भा, वाराणसी
न्याय-वार्तिक	उद्योतकर	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली
न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका	वाचस्पतिमिश्र	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-परिशुद्धि, उदयनाचार्य		मिथिला विद्यापीठ दरभंगा
न्यायबिन्दु	धर्मकीर्ति	साहित्यभण्डार मेरठ
न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तर	साहित्यभण्डार मेरठ
न्यायवृत्ति	अभयतिलक	ए०सो०कलकत्ता
न्यायसूचीनिबन्ध	वाचस्पतिमिश्र	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली
न्यायसूत्र	गौतम	बौद्धभारती वाराणसी
न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	-
नयचक्र	मल्लवादी	वैशेषिक-दर्शन के परिशिष्ट में प्रकाशित बड़ौदा
नयचक्रवृत्ति	सिंहसूरि	-
नारायणश्रुति	-	-
नैषधचरित	श्री हर्ष	-
नैषधचरित प्रकाश	नारायणभट्ट	बम्बई
पद्म-पुराण	-	-
परमेश्वरस्तुतिसारस्तोत्रम्	ब्रह्मानन्द	गीता प्रेस गोरखपुर
पाराशर-उपपुराण	-	-

परिशुद्धि-प्रकाश	-	-
पिङ्गल-प्रकाशिका	-	-
प्रकाश	वर्धमान	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
प्रकाशिका	मेघ ठक्कुर	-
प्रतिमानाटकम्	भास	-
प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी
प्रमाणसमुच्चय	दिङ्नागाचार्य	वै०द० के परिशिष्ट में अंशतः अनूदित, बड़ौदा
प्रमाणसमुच्चयवृत्ति	-	-
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	बम्बई
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तदेव	चौखम्भा विश्वभारती वाराणसी
ब्रह्मसूत्र	बादरायण	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
ब्रह्माण्ड-पुराण	-	-
बोधिनी	वरदराज	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
भक्तिमाहात्म्य	-	-
भगवद्गीता	व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर
भागवत-पुराण	व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर
भादुर्णी कौतावली	-	-

भामती	वाचस्पति मिश्र	-
भारतीतीर्थ-दीपिका	-	-
मकरन्द	रुचिदत्तोपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
मत्स्य-पुराण	-	-
मनुस्मृति	मनु	चौक वाराणसी
महाभारत	व्यास	-
महाभाष्य	पतञ्जलि	-
माठरवृत्ति	माठराचार्य	-
मुक्तावली	विश्वनाथ	मोतीलाल बनारसीदास
मुण्डकोपनिषद्	-	गीता प्रेस गोरखपुर
मैत्रायिण्युपनिषद्	-	संस्कृति संस्थान बरेली
युक्तिदीपिका	-	कलकत्ता
योगसूत्र	पतञ्जलि	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
ऋग्वेद	-	-
राजमार्तण्डवृत्ति	भोजराज	-
लक्षणावली	उदयनाचार्य	-
व्यासभाष्य	व्यास	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
व्योमवती	व्योमशिव	चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन वाराणसी

वायु-पुराण	-	-
विद्वत्तोषिणी	-	-
विवृति	हरिदास भट्टाचार्य	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी
विशालामलवती	जिनेन्द्रबुद्धि	-
विष्णु-पुराण	-	-
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	-	-
वीतरागस्तुति	हेमचन्द्र	-
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौखम्भा संस्कृतसीरीज वाराणसी
वैशेषिक-सूत्र	कणाद	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
वैशेषिकसूत्रवृत्ति	चन्द्रानन्द	बड़ौदा
बृहदारण्यक	-	-
श्लोकवार्तिक	कुमारिल भट्ट	दरभंगा संस्कृत वि०वि०
श्वेताश्वतरोपनिषद	-	गीता प्रेस गोरखपुर
शाण्डिल्योपनिषद	-	संस्कृति संस्थान बरेली
शाबरभाष्य	शबर	आनन्दाश्रम संस्था पूना
शारीरक-भाष्य-रत्नप्रभा	गोविन्दानन्द	-
शिवराजविजय	अम्बिकादत्त व्यास	ज्ञानप्रकाशन मेरठ

शङ्ख-संहिता	-	-
षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति	मणिभद्रसूरि	-
स्कन्द-पुराण	-	-
स्याद्वादरत्नाकर	देवसूरि	-
सम्मतितर्कप्रकरण	-	अहमदाबाद
सम्मतितर्क-व्याख्या	अभयदेवसूरि	-
सर्वदर्शन-संग्रह	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	-
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	संस्कृति संस्थान बरेली
सूक्ति	जगदीश तर्कालंकार	चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
सेतु	पद्मनाभमिश्र	-
हर्षचरित	बाणभट्ट	साहित्यभण्डार मेरठ
ईशोपनिषद्	-	संस्कृति संस्थान बरेली
त्रिकाण्डकोश	-	-
ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली	ज्ञानश्रीमित्र	-

अंग्रेजी ग्रन्थ

1- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक - सतीश चन्द्र विद्याभूषण

2- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी - डॉ0सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

3- क्रिटिक्यू आफ इण्डियन रिलीजन - डी0एन0शास्त्री

4- फ्रैगमेन्ट्स फ्राम दिङ्नाग - एच0एन0रैण्डिल

5- हिस्टोरिकल सर्वे आफ इण्डियन लाजिक - ओडास

6- हिस्ट्री आफ नव्यन्याय इन मिथिला - विन्ध्येश्वरी प्रसाद

7- इण्डियन लाजिक एण्ड आटोमिज्म - कीथ

8- इण्डियन लाजिक इन द अर्ली स्कूल - एच0एन0रैण्डिल

9- इण्डियन फिलासफी - डॉ0राधाकृष्णन

10- इन्ट्रोडक्शन टू झाज़ ट्रान्सलेशन आफ न्याय - डॉ0गोपीनाथ कविराज

11- प्री दिङ्नाग बुद्धिस्ट टेक्स्ट आन लाजिक फ्राम चाइनीज सोर्सेज इन्ट्रोडक्शन - टुच्ची

12- प्रीमर आफ इण्डियन लाजिक - कुप्पूस्वामी शास्त्री

13- द फिलासफी आफ ऐन्सियन्ट इण्डियन - गार्वे

14- वैशेषिक फिलासफी - डॉ उई

संक्षिप्त ग्रन्थनाम सूचिका

अध्या० रामा०	-	अध्यात्म-रामायण
अर्थ शा०	-	अर्थशास्त्र
अष्टा०	-	अष्टाध्यायी
आ०त०वि०	-	आत्मतत्त्वविवेक
आप०सू०	-	आपस्तम्ब-सूत्र
ई० प्रत्य०	-	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
उप०	-	उपस्कार
कठो०	-	कठोपनिषद्
कणा० गौ०	-	कणादगौतमीयम्
कारि०	-	कारिकावली (भाषा परिच्छेद)
कु०कारि०व्या०	-	कुसुमाञ्जलि-कारिका-व्याख्या
किरणा०	-	किरणावली
च० वृ०	-	चन्द्रानन्दवृत्ति (वैशेषिकसूत्रवृत्ति)
जै० सू०	-	जैमिनिसूत्र
त० कौ०	-	तत्त्वकौमुदी
त०सं० पञ्जिका	-	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
तै० आ०	-	तैत्तिरीय-आरण्यक
न्या०कणिका	-	न्यायकणिका
न्या०क०पञ्जिका	-	न्यायकन्दलीपञ्जिका

न्या० क०	-	न्यायकन्दली पञ्जिका
न्या० कुमुदचन्द	-	न्याय-कुमुद-चन्द
न्या० कुसु०	-	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या०भा०	-	न्यायभाष्य
न्या०म०	-	न्यायमञ्जरी
न्या०रत्ना०	-	न्यायरत्नावली
न्या०वा०	-	न्यायवार्तिक
न्या०वा०ता०टी०	-	न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका
न्या० वा० ता०टी०परि-		न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीकापरिशुद्धि
न्या० बि०	-	न्यायबिन्दु
न्या०बि०टी०	-	न्यायबिन्दुटीका
न्या०वृ०	-	न्यायवृत्ति
न्या०सि०मु०	-	न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली
न्या०सू०	-	न्यायसूत्र
न्या०सू० वृ०	-	न्यायसूत्रवृत्ति
न० च०	-	नयचक्र
नै० च०	-	नैषध-चरित
प० पु०	-	पदम-पुराण
प०ध०सं०	-	पदार्थ-धर्मसंग्रह (प्रशस्तपाद भाष्य)
पि० प्र०	-	पिङ्गल-प्रकाशिका

प्र० वा०	-	प्रमाणवार्तिक
प्र० स०	-	प्रमाणसमुच्चय
प्र०पा०भा०	-	प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह)
बो०	-	बोधिनी
ब्र०सू०	-	ब्रह्मसूत्र
भ०गी०	-	भगवद्गीता
भाग० पु०	-	भागवत-पुराण
मनु०	-	मनुस्मृति
म० भा०	-	महाभाष्य
महाभा०	-	महाभारत
मैत्रा०	-	मैत्रायण्युपनिषद्
यो०सू०	-	योगसूत्र
ऋ०	-	ऋग्वेद
रा०मा०वृ०	-	राजमार्तण्डवृत्ति
व्या०भा०	-	व्यासभाष्य
व्योम०	-	व्योमवती
किरा०	-	किरणावली
वि०	-	विवृति
वि० पु०	-	विष्णु-पुराण
वी० स्तु०	-	वीतराग-स्तुति

वे० प० - वेदान्त-परिभाषा

वै० सू० - वैशेषिकसूत्र

वै०सू०वृ० - वैशेषिकसूत्रवृत्ति (चन्द्रानन्दवृत्ति)

बृह० - बृहदारण्यक

श्लो० वा० - श्लोकवार्तिक

श्वेता० - श्वेताश्वतरोपनिषद्

शाण्डिल्यो० - शाण्डिल्योपनिषद्

शाब० भा० - शाबरभाष्य

शारी० - शारीरकभाष्य

स्क० पु० - स्कन्द-पुराण

स० द० सं० - सर्वदर्शनसङ्ग्रह

स० सि० - सर्वार्थसिद्धि

सां०का० - सांख्यकारिका

सू० - सूक्ति

से० - सेतु

त्रि०को० - त्रिकाण्डकोश